भारत में राज्य

(States in India)

एम. ए. इतिहास (पूर्वार्द्ध)

M.A. History (Previous)

प्रश्न पत्र-5

Paper–5

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय

रोहतक–124 001

Copyright © 2003, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

Developed & Produced by EXCEL BOOKS PVT. LTD., A-45 Naraina, Phase 1, New Delhi-110028

विषय-सूची

Unit-I

(क) राज्य निर्माण का प्रारम्भिक प्रारूप

अध्याय 1 राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्त 5

अध्याय 2 आद्य राज्य (जनजातिय सैनिक लोकतन्त्र) 14

अध्याय 3 उत्तर वैदिककालीन सरदारी राज्य (प्रादेशिक शासन में संक्रमण) 19

अध्याय 4 बुद्धकालीन प्रादेशिक राज्य (राजतन्त्र तथा गणराज्य अथवा जनजातीय अल्पतन्त्र) 25

(ख) मौर्ययुगीन राज्य

अध्याय 5 सामाजिक-आर्थिक आधार 32

अध्याय 6 स्वरूप तथा प्रशासन (सिद्धान्त एवम् व्यवहारिकता) 37

(ग) गुप्तकालीन राज्य

अध्याय 7 प्रशासनिक इकाईयाँ एवम् अर्थस्वतन्त्र राज्य 48

अध्याय 6 सामाजिक-आर्थिक आधार 59

(घ) दक्षिण भारत में राज्य निर्माण

अध्याय 9 सरदारी एवम् चोल राज्य 68

Unit-II

अध्याय 10 दिल्ली सल्तनत 78

अध्याय 11 विजयनगर साम्राज्यः ढाँचा, विशेषताएँ एवं स्वरूप 111

अध्याय 12 मुगल राज्यः स्वरूप व प्रशासनिक संस्थाएँ 121

Unit-III

अध्याय 13 औपनिवेशिक राज्यः राजनैतिक अर्थव्यवस्था, राज्य संयंत्र, एवं वैधीकरण के उपकरण 141

अध्याय 14 भारत में राष्ट्रीय राज्य के विकास की अवस्थाएँ 158

अध्याय 15 स्वतंत्र भारत में राज्यः निरंतरता एवं परिवर्तन 167

M.A. HISTORY (Previous)

States in India

Paper-5 **Max. Marks : 100**

Time : 3 Hours

Note: Question paper will consist of three Sections. Section-I consisting of one question with ten parts of 2 marks each covering the whole syllabus shall be compulsory. In section-II, 10 questions will be set selecting two questions from each unit. The candidates will be required to attempt any seven questions each of five marks. In section-III, five questions will be set, one from each unit. The candidates will be required to attempt any three questions each of 15 marks.

Unit – I

a) Towards Formation of the State

Proto-State, Chiefdoms of later Vedic Times, Territorial States in the Age of Buddha.

b) The Mauryan State

Socio-economic Basis; Nature and Administration; Theory & Practice.

c) Gupta polity

Administrative organisation; Tributory System; Socio-economic Basis.

d) State formation in the South

Chiefdoms and the Cholas

Unit-II

a) Nature and Administration of the State under the Sultans of Delhi; Islamic Theory of State.

b) Vijayanagara State

Structure; Features and Nature

c) The Mughal State

Nature and Administrative Institutions; Socio-economic Basis.

Unit-III

a) Colonial State

Political Economy; State Appartus; Instruments of Legitimation.

b) Stages of Development of Nation-state in India.

c) State in Independent India

Continuity and Change

Unit-I

(क) राज्य निर्माण का प्रारम्भिक प्रारूप

अध्याय-1

राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्त

(Different Theories Related to Formation of State)

अभी तक यह समझा जाता रहा था कि अफ्रीका की भाँति भारत में भी राज्य की उत्पत्ति तथा विकास से सम्बन्धित सिद्धान्तों का पूर्ण अभाव रहा है। भारत की इस छवि के लिए सम्राज्यवादी इतिहासकार उत्तरदायी रहे हैं। इन्होंने पूर्वी निरंकुशतावाद अथवा अधिनायकवाद के रूप में भारतीय राज्य का वर्णन किया है। कुछ हद तक इस मत को पुख्ता करने में मार्क्सवादी एशियायी उत्पादन की पद्धति (Asiatic Mode of Production) का विचार भी रहा है। हालाँकि भारतीय मार्क्सवादी विचारकों ने इसे अव्यावहारिक बताकर अपनी असहमति जताई है। परन्तु उनके विचारों को न सुनकर ब्रिटिश साम्राज्यवादी विचारकों के मत को ही सुद ढ़ करने का प्रयत्न किया गया है।

परन्तु यदि प्राचीन भारतीय ग्रंथों का गहराई से अध्ययन किया जाये तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन क्रम में राज्य की उत्पत्ति से सम्बन्धित अनेक मत प्रचलित है इसी प्रकार भारतीय चिन्तन क्रम में भी अनेक मत उपलब्ध है जैसे-

1. राज्य संस्था का क्रमिक विकास (विकासवादी सिद्धान्त)
2. समझौते का सिद्धान्त
3. दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त तथा
4. युद्ध मूलक अर्थात शान्ति सिद्धान्त आदि।

यद्यपि प्राचीन भारतीय स्रोतों से निकाले गए ये सिद्धान्त पाश्चात्य चिन्तकों द्वारा प्रतिपादित राज्य सम्बन्धी सिद्धान्तों के बहुत निकट है परन्तु ये भारतीय चिन्तकों द्वारा उतनी स्पष्टता, उतने व्यवस्थित तथा क्रमबद्ध ढंग से प्रस्तुत नहीं किए गए क्योंकि यह प्रायः प्राचीन ग्रंथों में व हद सांस्कृतिक चिन्तन के एक अंग के रूप में ही प्रस्तुत किए गए हैं। राज्य, जैसा कि राबर्टस् ने कहा है एक सर्वोच्च सत्ता की उपस्थिति है, जो निश्चितता, भूप्रदेश पर शासन करती है, जो शासन के मामले में निर्णय लेने की शान्ति रखने के लिए मान्यता प्राप्त हैं, उन निर्णयों को कार्यान्वित भी कर सकती है और प्रायः उस निश्चित भूप्रदेश में भीतर व्यवस्था बनाए रखती है। कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र में सप्तांग अर्थात सात अनिवार्य अवयवों (तत्वों)- स्वामी, अमात्य जनपद, दुर्ग, कोष, दंड और मित्र की बात करता है। कौटिल्य के अनुसार सातों तत्वों की मौजुदगी में ही किसी राज्य को पूर्ण राज्य का दर्जा, दिया जा सकता है।

राज्य की उत्पत्ति

राज्य एक ऐतिहासिक परिघटना है जो मानव के सामूहिक जीवन की उपज है- जब मानव प्राकृतिक अवस्था से निकलकर संगठित जीवन आरम्भ करता है। अतः ऐसा समय भी रहा है जब, जिसे हम राज्य कहते हैं, उसका आस्तित्व नहीं था। प्राचीन भारतीय स्रोतों के अध्ययन से राज्य की उत्पत्ति तथा विकास की जानकारी तो मिलती है इसके साथ ही राज्यपूर्व अर्थात

राज्यविहीन अवस्था का वर्णन भी मिलता है। राज्यविहिन समाज की अवस्था की जानकारी ही हमें 'राज्य क्या है' समझने में सहायक होगी।

राज्य पूर्व (राज्य विहीन) समाज की स्थिति

राज्य की उत्पत्ति से पूर्व मानव राज्यविहीन अवस्था में था। इस अवस्था को मोरगन Savagery का नाम देता है जबकि पुराणों में इसे कृत युग के नाम से जाना जाता है।

यद्यपि राज्यपूर्व प्राकृतिक अवस्था की तस्वीरें ब्यौरों में एक-दूसरे से भिन्न हैं, फिर भी इस अवस्था की चार मूलभूत विशेषताएँ स्पष्ट रूप से सामने आती हैं। एक तो यह कि सबसे प्रारंभिक काल में जीवन निर्वाह का साधन व क्षों से प्राप्त फल-फूल थे। ब्राह्मण और जैन अनुश्रुतियों में जीवन यापन के मुख्य स्रोत के रूप में कल्पव क्ष का वर्णन अनेक प्रसंगों में देखने को मिलता है। बौद्ध अनुश्रुतियों में जीवननिर्वाह के आदिकालीन स्रोतों में वनलता और भूतिपर्पटक के नाम आए हैं। स्वाभाविक ही है कि मानव जीवन की आदिम अवस्था में, जो पुराणों और महाकाव्यों में वर्णित कृतयुग के साथ सामान्यतः मेल खाती है, मनुष्य खाद्य-उत्पादक के रूप में नहीं, बल्कि खाद्य-संग्राहक के रूप में जीवन यापन करता होगा। इस बात का समर्थन मानव विज्ञान से होता है, और यही बात पुरापाषाण (पैलियोलिथिक) कालीन मानव के साथ भी लागू होती है। मारगन के शब्दों में, 'सीमित क्षेत्र में पैदा होने वाले फल-फूलों के प्राकृतिक आहार पर निर्वाह करना', यही मनुष्य के जीविका का प्रथम साधन था। उस समय कोई भी ऐसा नहीं सोच सकता था कि फल और व क्ष एकमात्र उसी के हैं। यह प्रकृतावस्था थी, जब 'इसे (संपत्ति को) कब्जे में रखने का लोभ उन (मनुष्यों) में शायद ही पैदा हुआ था, क्योंकि तब यह चीज (संपत्ति) प्रायः थी ही नहीं। परिग्रह की जो प्रव त्ति आज मानवमन में सर्वोपरि शक्ति के रूप में छाई हुई है उसे पूरे ओज के साथ विकसित करने का काम तब सभ्यता के सुदूर अनागत चरण के लिए छोड़ दिया गया था।

दूसरी बात यह कि संभवतः तब स्त्री पर पुरुष के आधिपत्य पर आधारित परिवार जैसी कोई संस्था नहीं थी। प्राकृतिक अवस्था के बारे में जितनी भी अनुश्रुतियां है उनमें महाभारत को छोड़कर और किसी में उस एक विवाही परिवार (मोनोगेमस फैमिली) की उत्पत्ति का कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता जिसमें पिता का स्थान सर्वोपरि हो और सारे घरेलू कार्यकलाप का केंद्र पत्नी हो। शांतिपर्व में कहा गया है कि 'पुत्र-पौत्रों, पुत्रवधुओं और सेवकों से भरा पूरा ग हस्थ का परिवार ग हिणी के अभाव में शून्य है। घर तब तक घर नहीं होता है जब तक उसमें पत्नी नहीं आती हैं। लेकिन इस प्रकार का परिवार कैसे उद्‌भूत हुआ? महाकाव्यों और पुराणों की अनुश्रुतियों में कहा गया है कि पहले स्वच्छन्द यौनाचार की स्थिति विद्यमान थी और बच्चे संकल्प यानी संभोगेच्छा मात्र से उत्पन्न किए जा सकते थे। कृतयुग में न तो मैथुन था और न स्वीकृत एक विवाही प्रथा (द्वंद्व) थी।

शांतिपर्व में उल्लेख है कि उत्तरकुरुओं के देश में विवाह जैसी कोई संस्था नहीं थी। कुरु देश के बारे में दीर्घ निकाय के 'अटानिय-सुत्त' में कहा गया है : 'यहाँ ऐसे लोग रहते हैं जो न तो किसी भी वस्तु को अपना कहते हैं और न किसी स्त्री को अपनी संपत्ति।

तीसरी बात यह है कि पुराणों में स्पष्ट कहा गया है कि कृतयुग में कोई वर्ण नहीं था। मानव जाति की सबसे प्रारंभिक जीवनावस्था का वर्णन करते हुए बौद्ध स्त्रोतों में भी ऐसा उल्लेख कहीं नहीं किया गया है कि लोग सामाजिक श्रेणियों में विभक्त थे।

चौथी बात यह है कि 'शांतिपर्व' के कथनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राकृतिक अवस्था के प्रारंभिक चराचर में राज्य नामक संस्था नहीं थी। कौटिल्य के अनुसार वैराज्य कहे जाने वाले कुछ देशों में राजपद नहीं था और इसके लोग अपना पराया नहीं जानते थे। इससे यह अर्थ निकलता है कि जब निजी संपत्ति नहीं थी तब राजा भी नहीं था।

हाल तक मौजूद आदिम समाजों को देखने से पता चलता है कि मानव जीवन की सबसे पुराकालीन अवस्था में संपत्ति, परिवार और वर्ग (या वर्ण) जैसी संस्थाओं का अस्तित्व शायद ही मिले। यह कोई संयोग की बात नहीं थी कि प्राचीन ग्रंथों के अनुसार, उपर्युक्त संस्थाओं का अभाव था। यद्यपि इन संस्थाओं के बिना रहने वाले लोगों को सभ्य नहीं कहा जाएगा, फिर भी ये चिंता और लोभ से मुक्त रहकर एक प्रकार का सहज सुंदर जीवन व्यतीत करते थे।

विकासवादी सिद्धान्त

(क) यह विचार सबसे पहले अर्थवेद में मिलता है। अर्थवेद के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि राज्य नामक संस्था क्रमिक विकास का परिणाम है। राज्य सहसा उत्पन्न नहीं हुआ इसकी उत्पत्ति के अंकुर मनुष्य के किसी भू भाग पर

सहनिवास में निहित है। धीरे-धीरे पारस्परिक सम्बन्ध जटिल होते चले गए क्योंकि जनसंख्या कार्यक्षेत्र और आवश्यकताओं में व द्धि से जटिलता आती है। जिससे आपसी संघर्ष जन्म लेता हे। इन संघर्षों के समाधान हेतु जिस संस्था की रचना की गई वह 'राज्य संस्था' के रूप में जानी जाने लगी। समाज तथा मानवीय सम्बन्धों तथा भौतिकी के विकास के साथ साथ राज्य संस्था का विकास भी होता चला गया।

अर्थवेद के अष्टकांड के दसवें सूक्त में राज्य की उत्पत्ति तथा विकास का विस्त त वर्णन मिलता है। सूक्त के प्रथम तेरह मन्त्रों में स्पष्ट रूप से बताया गया है कि राज्य किन किन अवस्थाओं से गुजरकर पूर्ण विकास की अवस्था में पहुँचा है।

1. अर्थवेद के अनुसार स ष्टि के आरम्भ में राज्य विहिन अर्थात् अराजकता की अवस्था थी। इस अवस्था में ना ही तो कोई राज्य नाम की संस्था थी और ना ही राजा तथा प्रजा जैसी कोई व्यवस्था थी। इस राज्यविहिन अवस्था को जहाँ कुछ चिन्तक एक सुखद अवस्था मानते हैं वहाँ कुछ अन्य चिन्तक एक बहुत ही भयानक तथा भयावह अवस्था।
2. दूसरी अवस्था में 'परिवार' नामक संस्था थी जिसमें पति, पत्नि, भाई, बहन, पुत्र, पुत्री, माता, पिता आदि के सम्बन्ध बने तथा परिवार के मुखिया, परिवार के सदस्यों के हितों की रक्षा करने लगा इसलिए इस अवस्था को 'गार्हपत्य' कहा गया है।
3. तीसरी अवस्था में ग हपतियों का एक स्थान पर आह्वान किया जाता था जहाँ मिलकर वे विचार विमर्श करते थे क्योंकि जैसे-जैसे जनसंख्या में व द्धि हुई परिवार भी बढ़े और उनके हितो और स्वार्थों की भी व द्धि हुई। इससे आपसी संघर्ष बढ़े तब परिवारों ने मिलकर एक संगठन ओर बनाया। जिसे हम आज ग्राम संगठन या ग्राम पंचायत कहते हैं। यह अवस्था 'आहवानीय' अवस्था के नाम से जानी जाती है। यह पारिवारिक संगठन से उच्चतर संगठन था। इस आहवानीय के नेता को वेदों में ग्रामीण कहा गया है। इसमें विभिन्न परिवारों के कुल मुखिया एकत्रित होते थे।
4. चतुर्थ अवस्था में ग्राम संगठनों (आहवानियों) की संख्या और हितों की ओर व द्धि हुई जिससे परस्पर टकराव की स्थिति उत्पन्न हुई। इसके समाधान हेतु ग्राम से बड़ी इकाई की आवश्यकता पड़ी जिसके परिणामस्वरूप जनपद या राष्ट्र बने जिनमें आहवानियों के योग्य नेता इकट्ठे होते थे। यह अवस्था दक्षिणाग्नि कहलाई।
5. अथर्ववेदानुसार पाँचवी अवस्था में सभा की उत्पत्ति हुई। इस अवस्था में दक्षिणाग्नि जन शक्ति सभा में परिवर्तित हुई। सभा जनपद या राष्ट्र की उच्चतम संस्था बनी जिसमें समाज के चुने हुए व्यक्ति अर्थात् 'सभ्य' (सभासद) मिलकर विचार विमर्श करते थे।
6. छठी अवस्था में सभा के पश्चात् समिति अवस्था का वर्णन अथर्ववेद में मिलता है। कुछ विद्वानों के अनुसार सभा जनसमुदाय की संस्था रही होगी जबकि सभा के सदस्य विशिष्ट चुने हुए व्यक्ति होते होंगे। कुछ का मत इससे उलट है। अथर्ववेद के अनुसार जब समाज अधिक जटिल हो गया तो समिति विकसित हुई।
7. अथर्ववेदानुसार सातवीं अवस्था 'आमन्त्रण' की अवस्था थी। इस समय आमंत्रण परिषद् का संगठन हुआ। संभवतः यह सबसे विशाल संस्था थी जिसमें जनपद के सभी लोगों को आमन्त्रित किया जाता था। अथर्ववेद के अनुसार आमंत्रण राज्य संस्था के विकास की अन्तिम अवस्था थी।

   आधुनिक काल में भी मानव समाज व राज्य के प्रादुर्भाव व विकास का प्रायः यही क्रम माना जाता है। अर्थात् सबसे पहले परिवार संगठित हुए फिर ग्राम बने और फिर जन तथा जनपद अथवा राष्ट्र का विकास हुआ जिनमें उचित परामर्श हेतु सभा समिती जैसी संस्थाओं का अर्विभाव हुआ।

राज्य की उत्पत्ति का सम्पत्ति, परिवार तथा वर्ण सम्बन्धी सिद्धान्त

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के आधार पर राज्य की उत्पत्ति का विशलेषण करने वाले विचारक राज्य की उत्पत्ति के विकासवादी सिद्धान्त के समर्थक हैं। उनके अनुसार राज्य की उत्पत्ति के लिए सम्पत्ति परिवार तथा वर्ण उत्तरदायी कारक हैं।

जीवन का यह सहज सुंदर प्रवाह कृषि कौशल के अन्वेषण के साथ भंग हुआ। इस कौशल के सहारे मनुष्य, उसे उपभोग के लिए जितना चाहिए था उससे अधिक उत्पादन करने में समर्थ हुआ। जैसा कि रॉंकहिल (Rockhill) ने कहा है कि इससे चावल इकट्ठा करके रखने की प्रव त्ति बढ़ी और लोग 'नदियों, खेतों, पहाड़ियों, व क्षों, झाड़ियों और पौधों को शक्ति और हिंसा द्वारा हथियाने लगे। अब पहली बार उन्होंने अपने अलग-अलग घर बसाए, जिसके लिए कानून की अभिस्वीकृति और समर्थन अपेक्षित था। धान के खेत बांट दिए गए और उनके चारों ओर यह कहकर मेंडबंदी कर दी गई- यह मेरा है, यह तेरा है।

लेकिन जब लोग एक दूसरे का धन चावल छीनने लगे तब एक ऐसे पद की जरूरत महसूस हुई जो उनके खेतों की रक्षा कर सके। इससे महाखतिय या खेतरक्षक पद का स जन हुआ। इसी आवश्यकता ने राज्य नामक संस्था को जन्म दिया।

बौद्ध स्त्रोंतों में राज्य की उत्पत्ति में न केवल निजी संपत्ति के उदय के महत्त्व पर जोर दिया गया है, बल्कि उस संदर्भ में कुछ अस्पष्ट रूप से परिवार की भूमिका का भी उल्लेख है। तिब्बती दुल्वों के अनुसार, संसार में घरों (या परिवारों?) के आधार पर यह प्रथम विभाजन था। विभाजन को कानूनी या गैरकानूनी करार देना राजा पर निर्भर था। 'शांतिपर्व' में एक स्थान पर कलियुग में द्वंद्व या एकविवाही परिवार के उदय का उल्लेख है, लेकिन राज्य के उदय से इसका संबंध नहीं दिखाया गया है।

राज्य के उदय में वर्णों (सामाजिक वर्ग) की भूमिका का महत्त्व मुख्यतया पुराणों में वर्णित है। इनके अनुसार, जीवननिर्वाह के साधन जुट जाने पर लोगों पर लोगों को चार वर्णों मे विभाजित किया गया। ब्राह्मणों का कर्म पूजा-प्रार्थना, क्षत्रियों का युद्ध, वैश्यों का उत्पादन तथा शुद्रों का शारीरिक श्रम निश्चित हुआ। जाहिर है कि यह विभाजन पूजा-प्रार्थना और युद्ध करने वालों के पक्ष में था और उत्पादकों के सजग वर्गों के विरोध की आशंका बराबर बनी रहती थी। इसीलिए 'वायु पुराणों' में यह कहा गया है कि वर्णों के कर्तव्य तो नियत कर दिए गए, लेकिन इन्होंने इन्हें पूरा नहीं किया और ये एक दूसरे का विरोध करने लगे। इस बात की ओर ध्यान जाने पर ब्रह्मा ने क्षत्रियों के लिए दंड और युद्ध का कर्म नियत किया। उसी ग्रंथ में एक दूसरी जगह राज्य की उत्पत्ति का ऐसा ही विवरण देते हुए कहा गया है कि ब्रह्मा ने वर्णाश्रम स्थापित किया, लेकिन लोगों ने स्वधर्म का पालन नहीं किया और वे एक दूसरे से झगड़ने लगे। अतः वे मनु के पास गए, जिसने प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो राजाओं को उत्पन्न किया। तब से राजा दंडाधारी होने लगे। इस तरह पौराणिक द ष्टि के अनुसार विभिन्न वर्णों के आपसी संघर्ष को रोकने के लिए राज्य का उदय हुआ। स्पष्टतया, इसमें आधुनिक विचारधारा के इस सिद्धान्त का पूर्वाभास मिलता है कि 'वर्ग संघर्षों को रोकने की आवश्यकता के फलस्वरूप राज्य का अस्तित्व कायम हुआ।

शांतिपर्व में इन चिंतनों का समन्वय है। इसमें राज्य की उत्पत्ति में संपत्ति परिवार और वर्ण इन तीनों संस्थाओं की भूमिका का इकट्ठा वर्णन मिलता है। जिन परिस्थितयों में राज्य का स जन हुआ, ये इसमें स्पष्ट रूप में वर्णित हैः 'एक व्यक्ति का धन दो व्यक्ति छीनते हैं, उन दोंनो का धन अनेक व्यक्ति मिलकर छीनते हैं। जो दास नहीं है वह दास बनाया जाता है। स्त्रियों बलात अपह त की जाती हैं। इन कारणों से देवताओं ने लोगों के संरक्षणार्थ राजाओं का स जन किया। और, जब लोगों ने ऐसी स्थिति को समाप्त करने के लिए आपस में समझौता और अनुबंध किया तब उसकी दो मुख्य शर्तें तय हुई कि उन लोगों को समाज से निकाल बाहर करें जिन्होंने दूसरों की स्त्रियों कर अपहरण किया हो या दूसरों की संपत्ति लूटी हो। इनके अलावा सभी वर्णों के बीच विश्वास उत्पन्न करने के उद्देश्य से भी यह अनुबंध किया गया। इस अनुबंध को स्थायीत्व प्रदान करने के लिए वे लोग राजा की खोज में निकले। वे उसे अपनी संपत्ति का कुछ हिस्सा और विवाह में सुंदर कुमारियां देने को तैयार हुए।

राजा के मुख्य कर्त्तव्यों को देखने से भी, जिस प्रयोजन से उसका पद स जित हुआ उस पर प्रकाश पड़ता है। राजा के मुख्य कर्त्तव्यों में से एक था चोरों को दंडित कर निजी संपत्ति की और परस्त्रीगामियों को दंडित कर परिवार की रक्षा करना। संपत्ति की रक्षा का उत्तरदायित्व इतना महत्त्वपूर्ण था कि प्रजा की चुराई गई संपत्ति, चाहे जैसे हो, उसे वापस दिलाना राजा के लिए आवश्यक था।

परिवार की रक्षा और जारकर्म रोकना राजा का दूसरा दायित्व था। मनु ऐसे अठारह अपराध गिनाता है, जिनकी ओर राजा को ध्यान देना चाहिए। इनमें से दस का संपत्ति से और दो का परिवार से संबंधित है। इसी प्रकार का कात्यायन दस आसत कार्य बतलाता है, जिनकी ओर राजा का ध्यान जाना चाहिए। इनमें पाँच का संपत्ति से और एक का परिवार से संबंध है।

बौद्ध स्त्रोतों में वर्णव्यवस्था के अनुरक्षण का उल्लेख नहीं है, यद्यपि ब्राह्मण स्त्रोंतो के अनुसार यह राजा के उल्लेखनीय कर्त्तव्यों

में से था। करीब-करीब सभी महत्त्वपूर्ण स्त्रोतों में यह कहा गया है कि राजा का यह कर्तव्य है कि वह चतुर्वर्ण द्वारा स्वधर्म का पालन कराए। 'रामायण' के अनुसार, दशरथ के आदर्श शासन में विभिन्न जातियों के लोग अपना अपना कर्म करते थे। अभिलेखोंमें भी इस बात के ठोस प्रमाण मिलते हैं कि वर्णव्यवस्था बनाए रखना राजा का दायित्व था।

प्राचीन स्म तिकारों में मनु ने राजा द्वारा वर्णव्यवस्था बनाए रखने पर विशेष जोर दिया है। उनके मतानुसार, राज्य तभी तक उन्नति कर सकता है जब तक वर्णों की शुद्धता बनी रहती है, अन्यथा यह समस्त निवासियों के साथ विनष्ट हो जाता है। लगभग यही विचार प्लेटो के 'रिपब्लिक' में भी व्यक्त हुए हैं जो इस प्रकार हैं : 'तीनों वर्गों द्वारा एक दूसरे के मामले में किसी भी प्रकार का अनधिकृत हस्तक्षेप राज्य के लिए अनिष्टकर होगा और इसे बुराई की पराकाष्ठा कहना उचित होगा।

शांतीपर्व में ग हदाह चोरी या वर्ण संकरता फैलाने वाले के लिए उसी दंड की व्यवस्था है जो राजा को मारने के लिए षडयन्त्र करने वाले के लिए है। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रारम्भिक चिंतकों और स्म तिकारों की राय में सम्पत्ति परिवार तथा वर्ण की भूमिका राज्य की उत्पत्ति में महत्त्वपूर्ण तथा आधारभूत रही है।

राज्य की उत्पत्ति का अनुबंध सिद्धान्त

पाश्चात्य जगत में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मुख्यतः सत्रहवीं शताब्दी में हॉब्स, लॉक तथा रूसों ने किया। उनके अनुसार एक अवस्था ऐसी थी जब कोई राजनैतिक संगठन न था, जिसे उन्होंने प्राकृतिक अवस्था कहा है। परन्तु कालान्तर में कुछ ऐसी परिस्थियाँ हुई जिसके कारण समाज में अनेक दोष उत्पन्न हो गए तथा अव्यवस्था फैल गई। ऐसी दशा में लोगों ने आपस में एक समझौता किया और एक व्यक्ति को अपने सारे अधिकार सौंपकर सर्वशक्तिमान राजा बनाया।

भारत के प्राचीन साहित्य में भी इस अनुबन्ध सिद्धान्त और प्राकृतिक अवस्था का वर्णन मिलता है।

राज्य की उत्पत्ति के अनुबंध सिद्धान्त का धुंधला सा आभास सबसे पहले दो ब्राह्मणों में मिलता है। इनमें असुरों पर विजय प्राप्त करने के लिए देवताओं के बीच राजा के चुनाव का जिक्र है। ऐतएव ब्राह्मण में इंद्र के राज्यभिषेक के संदर्भ में इस विचार को प्रकट किया है। इसके अनुसार प्रजापति के नेत त्व में देवताओं ने आपस में कहा कि हमारे बीच इंद्र 'कार्य संपादन के लिए सर्वाधिक स्वस्थ, शक्तिशाली, सर्वरूपेण, पूर्ण और सर्वोत्तम है।' इसलिए उन्होंने उसे राजपद पर प्रतिष्ठित करने और तदनुसार उसका महाभिषेक करने का निश्चय किया। इस अभिषेक में उसके विभिन्न प्रकार के राजसंस्कार किए गए। जाहिर है कि निर्वाचन में निर्वाचक और निर्वाचित के बीच एक प्रकार की सहमति होती है। लेकिन इस ग्रंथ में निर्वाचकों और निर्वाचित के पारस्परिक दायित्वों का उल्लेख नहीं है। फिर भी चूँकी युद्ध की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर यह निर्वाचन हुआ था, जिसमें सबसे अधिक जोर राजा के शारीरिक गुणों पर था।

इसलिए ऐसा माना जा सकता है कि इस अनुबंध में प्रजा का आज्ञापालन का दायित्व और राजा का प्रजा को आदेश देने और उसकी रक्षा करने का दायित्व तय हुआ होगा।

राज्य की उत्पत्ति के अनुबंध सिद्धान्त का प्रारंभिक ब्राह्मण साहित्य में आभास मात्र मिलता है; इसका प्रथम स्पष्ट और विस्त त प्रतिपादन बौद्ध धार्मिक ग्रंथ 'दीघ निकाय' में प्राप्त होता है। इसकी स ष्टिकथा हमें रूसों की राज्यपूर्व आदर्श अवस्था की याद दिलाती है। इसके उपरांत जिस अवस्था का प्रादुर्भाव होता है, वह बहुत कुछ हॉब्स द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था से मेल खाती है। ब्राह्मणों के श्रेष्ठता के दावे का खंडन करने के लिए स्वयं बुद्ध ने इस कथा का सहारा लिया है। इस कथा के अनुसार, एक समय ऐसा था जब लोग सर्वथा दोषरहित और सर्वांगपूर्ण थे तथा सुख-शांती से रहते थे। यह सभी द ष्टियों से पूर्ण और निर्दोष अवस्था युगों तक चली। लेकिन अंततोगत्वा पुरातन पवित्रता का पतन होने लगा और इससे नई नई समस्याएँ पैदा हुई। चोरी और अन्य प्रकार के असामाजिक आचरण सामने आने लगे। अतः लोग इकट्ठे हुए, और तय किया गया कि ऐसे व्यक्ति को प्रधान के रूप में चुना जाए जो 'सर्वाधिक समर्थित, सर्वाधिक आकर्षक और सर्वाधिक योग्य हो।' उन लोगों के आग्रह पर उस व्यक्ति ने करार किया वह 'वहीं पर क्रोध करेगा जहाँ क्रोध करना चाहिए, उसी की भर्त्सना करेगा जिसकी भर्त्सना होनी चाहिए, उसी को देश निकाला देगा जिसे देश निकाला मिलना चाहिए। बदले में लोगों ने उसे अपनी संपत्ति का एक अंश देना स्वीकार किया। इस प्रकार जो व्यक्ति निर्वाचित हुआ उसने क्रमशः तीन उपाधियाँ धारण कीं (1) माहसम्मत, (2) खत्तिय और (3) राजा। 'दीघ निकाय' के अनुसार पहले का अर्थ सभी लोगों द्वारा चुना गया व्यक्ति, दूसरे का खेतों का मालिक, और तीसरे का वह व्यक्ति है जो धर्म द्वारा लोगों को मोहित करे।

'दीघ निकाय' में वर्णित स ष्टिकथा में जो चिंतन मिलता है, वह सामाजिक विकास की काफी निखरी हुई अवस्था की देन है। इससे पता चलता है कि अब तक जनजातिय समाज टूट चुका था, और स्त्री पुरूष के बीच, विभिन्न जातियों और वर्णों के बीच तथा असमान संपत्ति वाले लोगों के बीच संघर्ष होने लगा था। और इस तरह कुल मिलाकर राजा का दायित्व अपराधी को रोकने, लोगों के खेतों की रक्षा करना प्रजा को प्रसन्न करना (राजा) था। साथ ही 'दीघ निकाय' की विचारधारा की विशेषता यह है कि इसके अनुसार राजनीतिक अनुबंध के पहले सामाजिक अनुबंध की स्थापना हुई, यह बात ब्राह्मणों में प्रतिबंधित अनुबंध सिद्धान्त से स्पष्ट नहीं होती है। सामाजिक अनुबंध का विकास 'दीघ निकाय' में कई चरणों में दिखाया गया है। पहले इसमें परिवार की रचना का संकेत है, फिर निजी संपत्ति के उदय का। दूसरों के परिवार और निजी धन खेतों पर हाथ न डालने का दायित्व केवल ध्वनित है, व्यक्त नहीं। लेकिन निस्संदेह इस ग्रंथ में राजनितिक अनुबंध की अपेक्षा सामाजिक अनुबंध की परिकल्पना का अधिक विस्त त वर्णन है।

'दीघ निकाय' में राजनीतिक अनुबंध में राजा के रूप में निर्धारित होने के लिए न केवल अलग ढ़ंग की योग्यताओं पर जोर दिया गया है, बल्कि इसमें उसके उत्तरदायित्व भी स्पष्ट रूप से बता दिए गए हैं। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में आकर्षण और योग्यता पर बल दिया गया है। इसका स्पष्ट कारण बौद्धों की बलप्रयोग तथा हिंसाविरोधी प्रव ति है।

अपराधियों को देशनिकाला देना एकमात्र ऐसा दंड है जिसका स्पष्ट उल्लेख हुआ। जहाँ राजा के अनेक दायित्वों का उल्लेख है, वहीं प्रजा का केवल एक दायित्व बताया गया है- यह कि अपने धान का एक अंश राजा को भी दे। कर की दर तो निहित नहीं है, लेकिन समकालीन बौधायन धर्मसूत्र में बताया गया है कि राजा लोगों से उपज का छठा भाग लेकर बदले में लोगों की रक्षा करे। इस प्रकार मौर्य पूर्व काल के ब्राह्मण परंपरा के चिंतकों के बीच भी यह मान्यता प्रचलित थी कि राजा प्रजा से कर प्राप्त करके बदले में उसकी रक्षा करे। लेकिन कहना कठिन है कि यह बात बौद्धो से ब्राह्मणों में आई या ब्राह्मणों से बौद्धों में। अनुबंधात्मक विचारधारा की संभावित उत्पत्ति उस समय के राजनीतिक संगठन में खोजी जानी चाहिए। बिना अनिवार्य कर प्रणाली के मगध तथा कोसल जैसे बड़े राज्य कायम नहीं हो सकते थे। इसके अतिरिक्त गौतम बुद्ध के समय पूर्वी उत्तर प्रदेश और उत्तर बिहार में अनेक छोटे-छोटे राज्य थे जिनमें क्षत्रिय शासक थे।

आरंभ में एक ओर केवल एक क्षत्रिय और दूसरी ओर सामान्य जनों के बीच करार होता है, लेकिन आगे चलकर प्रथम पक्ष में समस्त क्षत्रिय समुदाय को शामिल कर लिया जाता है। 'दीघ निकाय' की स ष्टिकथा के अंत में कहा गया है कि इस प्रकार खत्तिय मंडल, अर्थात् क्षत्रियों के सामाजिक वर्ग का उदय हुआ। इस प्रकार यहां जिस चीज का वर्णन है वह केवल आदिम क्षत्रिय शासक और जनसामन्य के बीच का ही करार नहीं है, बल्कि यह एक ओर क्षत्रिय कुलमंत्र में निहित शासक वर्ग और दूसरी ओर गैर क्षत्रीय जन सामान्य के बीच का करार है। बौद्ध अनुबंध सिद्धान्त की विशेषता है कि ब्राह्मणीय 'शांतीपर्व' में या रूसों की कृति में प्रतिपादित सिद्धान्त के विपरीत, यह किसी एक व्यक्ति को राज्य का प्रधान नहीं बनाता है, बल्कि यह उन सभी व्यक्तियों को जो शासक श्रेणी में आते हैं, राजा मानता है।

जहाँ तक ब्राह्मण चिंतन धारा का संबंध है, राज्य की उत्पत्ति के अनुबंध सिद्धान्त का स्पष्ट प्रतिपादन सर्वप्रथम कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में मिलता है। इसमें अनुबंध की शर्तों में कुछ ऐसे नए तत्त्वों का समावेश कराया गया है जो 'दीर्घ निकाय' में नहीं है। इसमें कहा गया है कि अराजक परिस्थिति में पड़कर लोगों ने मनु वैवस्वत को अपना राजा निर्वाचित किया और वचन दिया कि वे अपने सोने का एक अंश देने के अलावा अनाज का छठा अंश और बिकाऊ वस्तुओं का दसवां अंश चुकाएंगें। इन करों के बदले उसने लोगों को वचन दिया कि वह अनिष्टकारी कार्यों का निरोध करेगा, तथा अपराधियों को करों और दंड से प्रताड़ित करेगा और इस प्रकार समाज का कल्याण साधेगा। वनवासियों के लिए भी वन के उत्पादनों का छठा भाग देना आवश्यक बनाया गया। राज्योत्पत्ति विषयक यह व त्तांत इस नीति वचन के साथ समाप्त होता है कि राजा की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। अतः हॉब्स की तरह कौटिल्य के भी अनुबंध सिद्धान्त का प्रयोजन राजशक्ति का संवर्धन है। इसमें उनका सिद्धान्त लॉक के सिद्धान्त से, जिसका प्रयोजन राजशक्ति को सीमित करना है, भिन्न है।

राज्य की उत्पत्ति के अनुबंध सिद्धान्त के इतिहास का अगला चरण 'महावस्तु' में वर्णित है। ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के लगभग लिखा गया यह बुद्ध का जीवन चरित्र है। यद्यपि यह ग्रंथ 'दीघ निकाय' के करीब तीन सौ वर्ष बाद लिखा गया फिर भी राजत्व की उत्पत्ति के अनुबंध सिद्धान्त का विवेचन करते हुए इसमें पूर्ववर्ती ग्रंथ की स ष्टिकथा का अधिकांश भाग पुनः उद्धत कर दिया गया है। पूर्ववर्ती ग्रंथ की ही तरह पहले इसमें मानव जीवन की आदर्श अवस्था का जिक्र है। फिर, उसी तरह पतनावस्था का

वर्णन है, जिसके परिणामस्वरूप अनेक करार करके परिवार और संपत्ति की स्थापना की गई। अंततः उसी प्रकार सर्वाधिक सुशोभन और शक्तिशाली व्यक्ति को हम राजा निर्वाचित होते देखते हैं, जिसे महासम्मत कहा गया है। राजा के चुनाव के फलस्वरूप राज्य की स्थापना होती है और इस तरह व्यवस्था ठोस बन जाती हे। लेकिन 'महावस्तु' में निर्धारित अनुबंध की शर्तों में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से दंड देने का वचन देता है, वरन एक नए दायित्व के रूप में, उन लोगों का सम्मान करने का वादा करता है जो सम्मान योग्य हैं। सुपात्रों को पुरस्कृत करने की बात पहले की सिद्धान्त परिकल्पनाओं में नहीं पाई जाती। सुपात्रों को पुरस्कृत करने का राजा का दायित्व 'महावस्तु' में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है। फिर, इसमें राजा के साथ लगाई जाने वाली दो नई उपाधियों से उसके दूसरे दायित्वों का भी बोध होता है। वह है लोगों की रक्षा तथा परिपालना करना तथा नगर और ग्राम के लोगों के बीच उनके माता पिता के रूप में उपस्थित रहना राजा द्वारा रक्षा का वचन दिये जाने पर जनता उसे अपने धान का कुछ हिस्सा देने की प्रतिज्ञा करता है। राजा द्वारा वचनरक्षा आदि का वचन दिए जाने पर जनता उसे अपने धान की उपज का छठा भाग देने की प्रतिज्ञा करती है। यह दर 'दीघ निकाय' में बताई गई दर और कौटिल्य द्वारा निर्दिष्ट दर के भी अनुरूप है। यद्यपि ईसा की प्रथम दो शताब्दियों में व्यापार उन्नत अवस्था में था और राजा को नगरीय और ग्रामीण, दोनों क्षेत्रों में रहने वालों की हितरक्षा में सन्नद्ध दिखलाया।

राजपद की उत्पत्ति के बारे में 'शांतिपर्व' में दो सिद्धान्त परिकल्पनाएं हैं। इन दोनों में राज्स की उत्पत्ति के अनुबंध सिद्धान्त के तत्व समाविष्ट हैं। पहली परिकल्पना 59वें अध्याय में प्रस्तुत की गई, जो दंड और दंडनीति के महत्त्व के दीर्घ विवेचन से शुरू होती है। वहां बताया गया है कि प्रशासन का उत्तरदायित्व संभालने के लिए विष्णु ने एक मानस पुत्र पैदा किया। लेकिन उसने तथा उसके अनेक वंशजों ने सन्यास ले लिया। जिसके फलस्वरूप अंततः वेन का अत्याचारी शासन प्रारंभ हुआ। ऋषियों ने उसे मारकर उसकी दाईं जांघ से प थु को उत्पन्न किया, जो विष्णु की आठवीं पीढ़ी में पड़ता था। एक अनुबंध करके ऋषियों ने स्पष्ट शब्दों में वे शर्तें निर्धारित कर दीं जिनका पालन करके ही प थु वैन्य सिंहासनासीन रह सकता था। ऋषियों ने उससे प्रतिज्ञा कराई कि वह दंडनीति के अनुसार शासन करेगा, ब्राह्मणों को दंड से परे मानेगा और संसार को वर्णसंकरता से बचाएगा। इस पर प थु ने ऋषियों के नेत त्व में देवताओं को वचन दिया कि वह सदा ब्राह्मणों की पूजा करेगा। इसके पूर्व उसने आश्वासन दिया कि वह वही करेगा जो उचित और राज्यशास्त्र से सम्मत है। यह अनुबन्ध राजा तथा जनता के बीच नहीं हुआ बल्कि ब्राह्मणों के साथ हुआ जो मोर्यों तथा गुप्त काल में उनके बढ़ते प्रभाव की पुष्टि करता है।

'शांतिपर्व' के 67वें अध्याय में राज्योत्पत्ति की जो दूसरी कल्पना है, उसे स्पष्टतः राज्य की उत्पत्ति का अनुबंध सिद्धान्त माना जा सकता है। इसमें सामाजिक और राजनितिक दोनों प्रकार के अनुबंध सिद्धान्त वर्णित है। कहा गया है कि प्राचीन काल में जब अराजकता व्याप्त थी तब लोगों ने आपस में करार किया। इसके अनुसार उन्होंने उन लोगों का बहिष्कार करने का निर्णय किया जो चोर थे, क्रूर थे, परधनहर्ता थे, और परस्त्रीगामी थे। साफ है कि यह परिवार और सम्पत्ति जैसी संस्थाओं की रक्षा के लिए एक सामाजिक करार था, जो बौद्ध ग्रंथों में इतने स्पष्ट रूप से प्रस्तुत नहीं किया गया।

राज्योदय की अगली अवस्था का संकेत राजनीतिक अनुबंध की स्थापना से मिलता है। कहा गया है कि लोगों ने अनुबंध (समय) का पालन नहीं किया, जिससे उनके दुर्दिन आए। अतः उन्होंने ब्रह्मा से जाकर एक ऐसा अधिपति (ईश्वर) मांगा जिसकी पूजा वे साथ मिलकर करेंगे और जो उनकी रक्षा करेगा। ब्रहमा ने मनु से इनका शासन संभालने को कहा, लेकिन उन्होंने इन्कार कर दिया, क्योंकि दुष्ट और झूठे लोगों पर शासन करना दुष्कर कार्य था। परंतु लोगों ने मनु को यह प्रतिज्ञा करके तैयार किया कि वे उसके कोष की व द्धि (कोषवर्धन) के लिए अपना 1/50 पशु, 1/50 सोना और 1/10 अन्न देंगें। उन्होंने यह भी प्रतिज्ञा की कि जो लोग शस्त्रास्त्र प्रयोग में सबसे आगे होंगे, वे उसी तरह मनु का अनुसरण करेंगे जिस तरह देवगण इंद्र करते हैं। इसके बदले लोगों ने राजा से अपनी रक्षा की मांग की, और यह वचन भी दिया कि राजरक्षित प्रजा जो पुण्य अर्जित करेगी, उसका चौथा भाग राजा को मिलेगा। मनु ने सहमत होकर एक बड़ी सेना के साथ दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया।

'शांतिपर्व' में वर्णित दूसरे अनुबंध की विशिष्टता यह है कि करों के अतिरिक्त प्रजा पर यह जिम्मेदारी लादी गई है कि वह राजा को सर्वोत्तम योद्धा सैनिक सेवा के लिए दे। इस स्त्रोत के प्रासंगिक श्लाकों के कुछ अन्य पाठों में लोगों द्वारा राजा को सुंदर कन्या अर्पित किए जाने का उल्लेख है। राज्य विषयक प्राचीन भारतीय परिभाषा की द ष्टि से, दूसरा अनुबंध सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति के संबंध में सर्वोधिक पूर्ण सिद्धान्त माना जाना चाहिए। इसमें राजा और प्रजा दोनों शामिल हैं, जो क्रमशः

स्वामी और जनपद से साम्य रखते हैं। लोगों के राजा को कर चुकाने और सैनिक सेवा देने के दायित्वों से प्रकट होता है कि कोष और दंड के तत्व विद्यमान थे। इस प्रकार, 'शांतिपर्व' के 67वें अध्याय में राज्य की उत्पत्ति का जो अनुबंध सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है, उसमें राज्य के सात अंगों में से चार महत्त्वपूर्ण अंग स्पष्टतः देखे जा सकते हैं।

राज्योत्पत्ति का अनुबंध सिद्धान्त राजनीतिक विचारधारा में प्राचीन भारतीय विचारकों का मौलिक योगदान माना जाना चाहिए। यद्यपि यूनानी विचारक प्लेटो और अरस्तु ने राजनीतिविज्ञान को प्रायः स्वतंत्र शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित किया, पर उन्होंने राजा और जनसामान्य के पारस्परिक अनुबंध की संभावना पर ध्यान।

दैवी सिद्धान्तः यह प्राचीनतम सिद्धान्त है, जिसके अनुसार यह माना जाता है कि राज्य की स्थापना आरम्भ में ईश्वर द्वारा हुई। यहूदी धर्म-ग्रन्थों में उल्लेख है कि ईश्वर ने स्वयं आकर राज्य स्थापित किया; अन्य धर्म ग्रन्थों के अनुसार ईश्वर ने किसी दैवी पुरूष को प्रेषित कर राज्य की रचना की। बाइबिल में उल्लेख है कि प्रत्येक आत्मा (मनुष्य) सर्वोच्च शक्तियों के अधीन हैं, क्योंकि सभी शक्तियों का स्त्रोत ईश्वर है। प्राचीन भारत में अधिकतर संस्थाओं की उत्पत्ति दैवी मानी जाती थी और राज्य की उत्पत्ति के विषय में भी ऐसी ही धारणा थी। प्राचीन भारत में राजा को देवांश माना जाता था, अर्थात् राजा की उत्पत्ति विभिन्न देवों के अंश से हुई है। इस सिद्धान्त का उल्लेख ऋग्वेद और यजुर्वेद आदि वैदिक साहित्य, ब्राह्मण ग्रन्थों, स्म ति, साहित्य, महाभारत और प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। मत्स्य पुराण में उल्लेख है कि ब्रह्मा ने राजा की स ष्टि की जिससे कि वह सभी प्राणियों की रक्षा कर सके। मनु ने यहाँ तक कहा कि बालक राजा का भी इस विचार से अपमान नहीं करना चाहिए कि वह साधारण मनुष्य होता हे। यह देवता है यद्यपि रूप में वह मनुष्य ही है। वेदों के अनुसार भी राजा को स्वयं इन्द्र समझना चाहिए और उसका इन्द्र के ही समान आदर करना चाहिए। महाभारत के शान्तिपर्व में यह वर्णन है कि प्राचीन काल में जब अराजकता फैली हुई थी, मनुष्यों ने आपस में एक समझौता किया और वे ब्रह्मा के पास गये और प्रार्थना की कि वह किसी को राजा बना दें। ब्रह्मा ने मनु को प्रथम राजा बनाया।

वैदिक परम्परा के अनुसार राजा में इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरूण, चन्द्र और कुबेर- विभिन्न देवों के अंश विद्यमान रहते हैं। परन्तु महाभारत के अनुसार कोई भी राजा केवल अभिषेक समारोह के उपरान्त ही राजा बनता है। इस विषय में दीक्षितर ने लिखा है-जबकि स्टूअर्ट राजाओं का दैवी अधिकार में विश्वास था, राजा की शक्ति के विषय में हिन्दू संकल्पना यह थी कि प्रजा की रक्षा करना ईश्वर द्वारा विहित कर्त्तव्य है। प्रथम नाथ बनर्जी का विचार है कि केवल धार्मिक राजा ही दैवी समझा जाता था और राजा देवता नहीं वरन् नरदेवता माना जाता था। परन्तु डॉ॰ घोषाल ने शान्ति पर्व के अध्याय 58 के अन्तिम श्लोक को उद्ध त करते हुए यह तर्क दिया है कि राजा केवल देवता नहीं वरन् देवता के तुल्य होता है।

प्राचीन भारत मेंप्रतिपादित दैवी सिद्धान्त सम्बन्धी विचारों की पाश्चात्य विचारों से तुलना करते हुए डॉ॰ घोषाल ने कहा है- "पश्चिम में प्रतिपादित दैवी सिद्धान्त मुख्यतः हैं- (1) राजतन्त्र ईश्वरकृत संस्था है। (2) राजाओं को शासन का आनुवंशिक अधिकार है; (3) राजा केवल ईश्वर के ही प्रति उत्तदायी है; (4) राजाओं का विरोध नहीं करना चाहिए; और (5) राजतन्त्र ही शासन का अनन्य उचित रूप है। परन्तु प्राचीन भारत में दैवी सिद्धान्त के सम्बन्ध में भिन्न धारणाऐं थी। प्राचीन भारतीय विचारक यह नहीं मानते कि राजा केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी होता है इसके विपरित स्म तियों की धारणा तो यह है कि राजा धर्म और कानूनों के अधीन होता है। मनु और भीष्म ने बुरे राजा के विरूद्ध विरोध को न्यायोचित ठहराया है। अन्त में प्राचीन भारतीय सिद्धान्त में ऐसा कोई समानान्तर सिद्धान्त नहीं है कि जन्म प्राप्त अधिकार छीना नहीं जा सकता। ग्रन्थों में अनेक राजाओं के उदाहरण है जिन्हें उनकी प्रजा ने सिंहासन से अलग किया तथा भी की, यस्था वेन और राजा सगर का पुत्र असमंज। आधुनिक राजशास्त्री इस सिद्धान्त को बुद्धिसंगत नहीं मानते और इसे सर्वथा त्याग दिया गया है। वास्तव में आज के युग में तो राजतन्त्र का स्थान ही प्रजातन्त्र अथवा अन्य प्रकार के सरकारों ने ले लिया है।

शक्ति अथवा युद्ध मूलक सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के नाम से ही स्पष्ट है। राज्य की उत्पत्ति शक्ति-प्रसार की भावना या अधिपत्य के प्रयोग से हुई है। इसके अनुसार शक्तिशाली कबीलों, जनों के सरदारों ने दुर्बल कबीले अथवा जनों पर विजय प्राप्त कर राज्य की स्थापना की। विजयी कबीलों का सरदार शासक बना तथा शेष जन शासित रहे। दूसरे शब्दों में, राजा की उत्पत्ति युद्ध से हुई। ऐतरेय ब्राहमण में वर्णन

है कि देवासुर संग्राम में देव पराजित हुए। उन्होंने अपनी पराजय का कारण यह माना कि उनका कोई राजा न था जबकि असुरों का राजा था। अतः उन्होंने भी एक राजा चुनने का संकल्प किया। इस पर टिप्पणी करते हुए डॉ॰ जायसलाल ने लिखा है कि यदि इसका कोई ऐतिहासिक महत्त्व है तो यही की आरम्भ में आर्यों ने द्रविड़ों से, 'राजपद की संस्था को ग्रहण किया जिन्हें वे असुर कहते थे वे उनकी तुलना में अपने को सुर।'

यह तो माना हुआ सत्य है कि प्राचीन आर्य प्रारम्भ में जनों में संगठित थे और प्रत्येक जन का सबसे ज्येष्ठ अथवा शक्तिशाली पुरूष नेता होता था। वही अपने जन का युद्ध में नेत त्व करता था। अतः प्रारम्भिक राज्यों के निर्माण में शक्ति और युद्ध का अवश्य ही महत्त्वपूर्ण भाग रहा होगा। डॉ॰ सिन्हा ने राष्ट्र (अथवा प्रथम राज्य की उत्पत्ति के विषय में लिखा है- 'जब आर्य जन (कबीले) निश्चित भूभाग परी रहने लगे तो उन्हें उस भूमि से अवश्य ही प्रेम उत्पन्न हुआ होगा; उस प्रेम के साथ उनमें आदिवासियों के प्रति घ णा और अपने वर्ण (रंग) तथा विजित प्रदेश के मरण के लिए गहरी चिन्ता उत्पन्न हुई होगी। इस प्रकार आर्यों के मन में उसी भू भाग के प्रति जहाँ के वे निवासी थे एक सुद ढ़ भावना पैदा हुई होगी; क्योंकि उस भूमि से वह कभी हटना नहीं चाह सकते थे। इस भावना ने जिस प्रतिरक्षा व आक्रमण की आवश्यकता ने अधिक सुद ढ़ बनाया होगा, प्रारम्भिक राजन एक चेतना का रूप धारण किया होगा और इस प्रकार प्रथम राज्य, जिसे वैदिक आर्यों ने राष्ट्र कहा, उत्पन्न हुआ। पाश्चात्य विद्वान जैंक्स ने भी कहा है कि ऐतिहासिक द ष्टि से यह सिद्ध करने में कोई कठिनाई नहीं कि आधुनिक ढंग के सभी राजनीतिक समुदायों का अस्तित्व सफल युद्धक्रिया का परिणाम है। अन्य राजनीतिक विचारक भी यह स्वीकार करते हैं कि राज्य की उत्पत्ति में शक्ति का प्रयोग अथवा युद्ध एक महत्त्वपूर्ण योग देने वाला कारण रहा है। परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन भारत में शक्ति सिद्धान्त का किसी विचारक ने प्रतिपादन नहीं किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों द्वारा विभिन्न मत दिए हैं।

अध्याय-2
आद्य राज्य (जनजातिय सैनिक लोकतंत्र)
(Proto-State)

भारत की भौगालिक विशालता, सांस्कृतिक विविधता तथा पुरातनता को देखते हुए प्राचीन भारतीय राज्य का निश्चित स्वरूप सुनिश्चित करना लगभग असंभव कार्य है क्योंकि प्राचीन भारतीय राज्य स्वयं में एक राजनीतिक सामाजिक धार्मिक तथा सांस्कृतिक (नैतिक मूल्य) संस्था थी और ये सब आयाम राज्य संस्था के अखिल अंग थे इसलिए जैसा कि रामामूर्ति ने कहा है प्राचीन राज्य संस्था को सही ढंग से समझने के लिए इन सभी आयामों को समझना अत्यन्त आवश्यक है जैसा कि J.P. नेटल को उद्धत करते हुए रूजेल्फ और रूडोल्फ का मत है कि 'राज्य निर्माण और रखरखाव इतिहास में अवस्थित एक निरन्तर प्रक्रिया है : किसी राज्य की प्रकृति किसी पूर्वेनिश्चित सिद्धान्तों से नहीं जानी जा सकती क्योंकि राज्य और समाज के बीच ऐतिहासिकता परिस्थितयों के साथ-साथ बदलते रहते है, राज्य निर्माण और रखरखाव की निरन्तर प्रक्रिया बहुरूपीय अस्तित्वों को जन्म देती हैं, यानि राज्य अनेकों आकारों, स्वरूपों और चरित्रों में घटित होते हैं। राज्य का अर्थ इसी ब हद अर्थ एवम् स्वरूप में प्राचीन भारतीय राज्य संस्थाओं को वर्णित करना संभव है और तथा उसकी उत्पत्ति, प्रकृति व विकास को समझा जा सकता है।'

यह निश्चित है कि किसी निश्चित समय में समाज 'राज्यविहीन' अवस्था से राज्यत्व की अवस्था में पहूँचा होगा क्योंकि राज्य कोई प्राकृतिक परिघटना नहीं अपितु सामाजिक संस्था है। हालाँकि निश्चित तौर पर यह कह पाना कठिन है कि समाज कब और कैसे 'राज्य' में परिवर्तित हुए परन्तु फिर भी प्राप्त प्रमाणों के आधार पर, आम तौर से वैदिक राज्य को ही भारतीय राज्य संस्था का प्रारम्भ मानते हैं।

जैसा कि आर.एस.शर्मा ने कहा है कि ऋगवेद में प्राप्त होने वाले विचारों में राज्य की सत्ता के सूचक तत्त्व जैसे निश्चित भू-भाग सार्वजनिक सत्ता, कर तथा अधिकारी गण इत्यादि के संकेतक उपलब्ध नहीं है अपितु एक अर्ध घुमन्तु जन समुदाय और पशुपालन पर आधारित अर्थव्यवस्था के संकेत मिलते हैं। अतः जिस प्रकार सत्ता संगठन के प्रमाण हमें ऋगवेद से मिलते हैं उस आधार पर तो उसे जैसा कि रामशरण शर्मा ने कहा है 'जनजातिय सत्ता' अधिक से अधिक 'जनजातीय सरदारी' ही कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में ऋग्वैदिक सत्ता को राज्य का दर्जा न देकर अर्धराज्य (Proto-State) का दर्जा ही दिया जा सकता है। जिसकी पुष्टि निम्न विस्त त वर्णन से भी हो जाती है।

जिन लोगों ने ऋग्वैदिककाल के राजनीतिक संगठन का विकास किया, उनके भौतिक एवं सामाजिक जीवन के संदर्भ से अलग रखकर उस संगठन को नहीं समझाा जा सकता है। यदि हम 'ऋग्वेद' के साक्ष्यों का भरोसा करके चलें तो स्पष्ट है कि आर्यों और हड़प्पा सभ्यता के निर्माताओं के बीच मुख्य भौतिक अंतर यह था कि नवागंतुओं के पास घोड़े और रथ थे। जिनके पास घोडों द्वारा खींचे जाने वाले रथ थे और जो उन रथों पर आरूढ़ होकर लड़ते थे, वे स्पष्ट ही उस समाज के श्रीमंत वर्ग के लोग थे। यही चीज हमें पश्चिम एशिया में में मितानियों और हिकसस लोगों में देखने को मिलती है। दूसरी और घोडों पर चढ़कर लड़नेवाले साधारण सैनिक समाज के सामन्य जन थे।

ऋग्वैदिक लोगों का आयस् नामक किसी धातु का ज्ञान था, लेकिन वह तांबा था या कांसा, यह बताना कठिन है। ऐसा समझा जाता है कि वे कांसे का उपयोग करते थे, और लगभग 1200 ई.पू. से फारस में इस धातु के व्यापक उपयोग को देखते हुए यह अनुमान निराधार नहीं प्रतीत होता। ऋग्वैदिक लोग अर्ध खानाबदोश थे और आर्थिक द ष्टि से वे मुख्यतः पशुपालन की अवस्था में थे। उन्हें लोहे का ज्ञान नहीं था और इसलिए हल से बहुत जोत-गोड़कर की जाने वाली खेती वे कम करते थे। कृषि की अपेक्षा पशुपालन जीविका का अधिक महत्त्वपूर्ण साधन था और मवेशी और बैल उनकी सबसे मूल्यवान संपत्ति थे। सामाजिक तथा सैनिक संगठन पर पशुपालन का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए एक गोष्ठ (गुहाल) में

रहने वाले लोग एक गोत्र के हो गए। ऋग्वैदिक काल में गौत्र शब्द का अर्थ एक ही पूर्वज के वंशज नहीं होता था। फिर, पूँकि गोधन जनजातीय युद्धों का मुख्य कारण हुआ करता था, इसलिए युद्ध के पर्याय के रूप में गविष्टि-अर्थात् गाय की खोज का शब्द का चलन हुआ।

चूँकि वे अर्ध खानाबदोशी की व्यवस्था में थे और गोधन के लिए बराबर आपस में लड़ते रहते थे, इसलिए उन्हें सदा अपने स्थान बदलते रहने पड़ते थे। यह चीज स्वभावतः उनके द्वारा स्थिर और स्थायी राज्यों के निर्माण में बाधक थी और इसी कारण से उनके सामाजिक संबंधों में कठोरता और वर्ग विभाजन नहीं आ पाया। इन परिस्थितयों में छोटे-छोटे जनजातीय मंडलों (प्रिंसिपलिटी) का असितत्व कायम होना स्वाभाविक था।

ऋग्वैदिक लोगों का सामाजिक संगठन जनजातिय अवस्था को पार नहीं कर पाया था। राजपद सामाजिक संगठन का आधार था। जनजातीय जीवन की प्रमुखता का संकेत इस बात से मिलता है कि 'ऋग्वेद' में जन और विश् शब्द का प्रयोग बार-बार हुआ है। जन शब्द इसमें 275 बार आया है और विश् 170 बार पांच जनों के अर्थ में हमें पंचजनाः शब्द का उल्लेख भी मिलता है। वैदिक जन सबसे ऊँची सामाजिक इकाई था और यह रोम के समाज के 'जेंस' और यूनानी समाज के 'जेनस' का, आर. एस. शर्मा के अनुसार, भारतीय प्रतिरूप थी।

जन विशों में विभक्त होता था। जन पूरे समुदाय का घोतक था और विश् गोत्र का। वैदिक विश् और रोम के समाज के 'ट्राईबस' तथा 'फिलई' में कोई साम्य है अथवा नहीं, हम नहीं कह सकते। लेकिन इसमें संदेह नहीं कि होमरकाकलीन यूनान प्राचीन जर्मनी के लड़ाकू दलों की तरह विश् भी कुटुंबी जनों की लड़ाकू टुकड़ी था।

कुछ विद्वानों की राय है कि विश् ग्रामों में विभक्त होता था, लेकिन इस विभाजन का व्यापक चलन नहीं था, क्योंकि ग्राम का उल्लेख 'ऋगवेद' में केवल 13 स्थलों पर हुआ है। इस काल में ग्राम का प्रयोग सामान्यतः आज के गांव के अर्थ में नहीं अल्कि ऐसे छोटे-छोटे जनजातिय लड़ाकू समूहों के अर्थ में हुआ है जिनके सदस्यों को संग्राम के लिए एक जुट और सन्नद्ध किया जाता था।

संभव है, परिवार सबसे छोटी इकाई रहा हो, लेकिन यह कोई सुस्थित संस्था नहीं बन पाया था और निश्चय ही आज की तरह एकविवाही इकाई तो, जैसा कि आर.एस.शर्मा कहते हैं, नहीं ही था। कुल शब्द का प्रयोग 'ऋग्वेद' में स्वतंत्र रूप में नहीं हुआ है। लेकिन कुलपा, या परिवार प्रधान के हिस्से के रूप में एक स्थल पर इसका प्रयोग अवश्य हुआ है। लेकिन कुलपा का वर्णन भी साधारण ग हस्थ के रूप में नहीं, बल्कि योद्धा के रूप में ही हुआ है। ग ह की चर्चा ऋग्वेद में अनेक बार परिवार के अर्थ में आयी है। हमें इस बात की जानकारी नहीं है कि ऋग्वैदिक परिवार अपने सदस्यों की संख्या में कितनी व द्धि होने तक एक बना रहता था। लेकिन, बेशक, वह एक बड़ी पित सत्तात्मक इकाई था, जिसमें तीन-तीन पीढ़ीयों के लोग एक ही छत के नीचे रहते थे।

ऋग्वैदिक परिवार पित सत्तात्मक था, इस बात पर जोर देने की आवश्यकता नहीं है। 'ऋग्वेद' में प्रजा की कामना की गई है। प्रजा शब्द में यों तो पुत्र-पुत्री दोनों शामिल हैं, किन्तु लोगों को युद्ध करने वाले सुवीरों की कामना अधिक रहती थी। लकिन ऋगवैदिक समाज के पित सत्तात्मक स्वरूप को बढ़ा-चढ़ाकर देखना आर.एस. शर्मा के अनुसार गलत होगा। यदि इस ग्रंथ में पिता शब्द का उल्लेख 335 स्थलों पर हुआ है तेा माता का भी 234 स्थानों पर हुआ है। इसके अतिरिक्त, हमें अनेक देवियों का उल्लेख भी मिलता है, जिससे नारी का महत्त्व भासित होता है। ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं जिनसे प्रकट होता है कि स्त्रियों को प्रेम संबध रखने की पूरी छूट थी। वह अपने पति के साथ यज्ञ में भाग ले सकती थी, और कुछ स्त्रियों को तो वैदिक मंत्रों की रचना करने का भी श्रेय दिया गया है। स्पष्ट ही, ऋग्वैदिक काल में पित अधिकार इतना प्रबल नहीं हो पाया था कि वह मात अधिकार को पूरी तरह समाप्त कर देता और यह चीज जनजातिय समाजों आदि के गठन में प्रतिबिंबित होती है।

ऋग्वैदिक काल में वंशानुगत पेशे के आधार पर या किसानों तथा कारीगरों के उत्पादन के अतिरिक्त अंश को हड़पकर लोगों द्वारा संचित की गई संपत्ति की बुनियाद पर खड़े सामाजिक वर्गों का स्पष्ट उदय नहीं हो पाया था। एक परिवार के सदस्य अलग-अलग धंधे करते थे। उदाहरण के लिए, एक परिवार में पिता पुरोहित था, माता अन्न पीसती थी, और पुत्र वैद्य था, किंतु ये सब सुखपूर्वक एक साथ रहते थे। सम्भावतः इस काल का राजनीतिक संगठन वर्ण पर आधारित भेदभाव से सामान्यतः मुक्त है।

ऋग्वैदिक समाज में जो कुछ भी असमानता पनप पाई, उसका कारण पराजित लोगों पर विजयी लोगों के आधिपत्य की स्थापना थी। विजेताओं ने बहुत लोगों को दास बना लिया और उन्हें इसी स्थिति में रखा। इनमें स्त्रीयों की संख्या अधिक होती थी। वे दासी स्त्रियां पुरोहितों की सेवा के लिए अर्पित कर देते थे। लेकिन शायद विजेता लोग भी दो वर्गों में बंटे हुए थे। एक में रथों से सज्जित शासक समूह के लोग थे और दूसरे में सामान्य जनजातीय बंधुजन, जो अपने श्रेष्ठजनों के अनुगामी थे। इस असमानता से जनजातिय सरदारों की शक्ति में व द्धि हुई और यह चीज यदा-कदा ऋग्वेदिक सभा आदि में भी प्रतिबिंबित होती थी।

इस प्रकार की भौतिक तथा सामाजिक जीवन के सहारे वैदिक लोग कोई ऐसा उन्नत राजनीतिक ढांचा विकसित नहीं कर सकते थे जिसे प्राचीन भारतीय या आधुनिक अर्थ में राज्य कहा जा सके। सप्तसिंधु देश, जिसमें आधुनिक पंजाब तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश के कुछ हिस्से शामिल थे, छोटे-छोटे जनजातीय मंडलों के अधिकार में था। इन मंड़लों में से पांच को हम पंचजनाः के रूप में जानते हैं। यद्यपि ऋग्वैदिक नरेशों के लिए राजन् शब्द का प्रयोग हुआ है, लेकिन ऋग्वैदिक राजत्व का स्वरूप इस प्रकार के राजतंत्र से मुलतः भिन्न था जिसका विकास उत्तर वैदिकयुग और उसके परवर्ती काल में हुआ। वह कोई ऐसा क्षेत्रीय राजतंत्र नहीं था जिसमें क्षेत्र विशेष के छोटे-बड़े, अमीर-गरीब सभी निवासी राजा के विषय में यह मानते हैं कि जिस देश में वे रहते हैं, उस पर प्रयुक्त होने वाली सत्ता का वह प्रतीक है। ऋग्वैदिक नरेश किसी क्षेत्र के लिए नहीं बल्कि गौओं के लिए लड़तें हैं। क्षेत्र के पर्यायवाची शब्दों का इस ग्रंथ में विशेष प्रयोग नही हुआ है। यद्यपि जन शब्द का प्रयोग 275 बार हुआ है किंतु जनपद का एक बार भी नहीं हुआ है। राज्य शब्द केवल एक बार आया है और राष्ट्र सिर्फ दस बार। 'ऋगवेद' के सबसे बाद वाले अंश-अर्थोत् दसवें मंडल में राजा से राष्ट्र की रक्षा करने को कहा गया है। इससे प्रकट होता है कि राष्ट्र के अंग के रूप में क्षेत्र की परिकल्पना लोगों के मन में इस काल के अंत में आई। ग्राम शब्द 'ऋग्वेद' में 13 स्थलों पर आया है लेकिन गांव के अर्थ में नहीं। मूलतः इसका अर्थ युद्ध के लिए एकत्र की गई जनजातीय इकाई था। यही कारण है कि जनजाति के सामूहिक चारागाह की देखरेख करने वाला प्रजापति, जो गोहरण के लिए किए जाने वाले युद्ध में सम्भावतः परिवार प्रधानों का नेत त्व करता था, बाद में ग्रामणी के रूप में भी सामने आता है। ग्रामणी मूलतः गांव का नहीं, बल्कि ग्राम नामक जनजातिय इकाई का प्रधान होता था। उसे किसी ऐसे अधिकार के रूप में नहीं देखा जा सकता जिसकी उपाधी से ऐसा संकेत मिलता हो कि वह किसी क्षेत्रिय प्रशासनिक इकाई से संबंद्ध था। इस सबसे स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक सरदारों के मन में क्षेत्रिय राज्य की कोई कलप्ना नहीं थी।

ऋग्वैदिक राजत्व मुख्यतः जनजातीय संस्था था। राजा या सरदार का संबंध बार-बार जनजाति से बतलाया गया है। बुनियादी तौर पर वह जन का शासक है और इसलिए उसे जन का रक्षक-गोप जनस्य या गोपति जनस्य-कहा गया है। गोप या गोपति शब्द से यह ध्वनित होता है कि जो व्यक्ति पहले गौओं के झुंडों का प्रधान था, वही धीरे-धीरे जन का प्रधान बन गया। अर्थात् राजा या रानी की पहचान उनकी जन जाति के नाम से की जाती थीं न कि क्षेत्र में।

वैदिक राजा और उसके भाई बंदों के बीच बराबरी का रिश्ता होता था। राजा की वंशानुगत स्थिति विवाद से परे नहीं थी। कई अवतरणों से ध्वनित होता है कि राजा अपने पद के लिए जनसाधारण का मुखापोशी था। 'ऋग्वेद' के दसवे मंडल में एक उपमा इस प्रकार है- 'जैसे प्रजा अपना राजा चुनती है।' उसी के मंडल के अभिषेक मंत्र से संपूर्ण जनजाति (विशाः) द्वारा व्यक्ति विशेष के राजा के रूप में स्वीकृत किए जाने का संकेत मिलता है। जनजाति के सदस्यों द्वारा राजा के चुनाव के सबसे अधिक उल्लेख 'अर्थवेद' में देखने को मिलते हैं। उससे प्रकट होता है कि पूर्ववर्ती अवस्था में जनजाति अपने निर्वाचन अधिकार का प्रयोग करती थी।

दूसरी ओर, कुछ उल्लेखों से प्रकट होता है कि राजपद कुछ विशेष परिवारों के लोगों का ही प्राप्त होता था। त्रसदस्यु को राजपद अथवा जनजाति का प्रमुखत्व अपने पितामह से उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था, और उसका पिता शत्रुओं द्वारा किए गए आक्रमण में अपना सिंहासन खो बैठा था। सुदास के परिवार ने तीन पीढ़ीयों तक राजपद का उपयोग किया। इस प्रकार जो वास्तविक उदाहरण मिलते हें, उनसे भी यह प्रकट नहीं हो पाया था कि कोई परिवार तीन पीढ़ीयों से अधिक काल तक राजपद का उपभोग कर सका। स्पष्ट है कि प्राचीनतम काल में यह सिद्धांत सुप्रतिष्ठित नहीं हो पाया था कि ज्येष्ठ पुत्र पिता का उत्तराधिकरी है। होमरकालीन यूनान के 'जेनस' में भी ऐसी स्थिति थी। जाहिर है कि ऋग्वैदिक काल में ज्येष्ठ-

पुत्राधिकार सुपरिभाषित नहीं हो पाया था, और यदि यह स्पष्ट रूप से परिभाषित नही हो पाया था तो उसका कोई वास्तिविक महत्त्व भी नहीं था।

सुप्रतिष्ठित वंशानुगत उत्तराधिकार के अभाव में राजा या सरदार का अधिक शक्तिशाली हो पाना कठिन था। सभा और समीति, तथा ऐसी दूसरी जनजातीय संस्थाएं राजा के अधिकार को काफी मर्यादित कर देती थी। राजा पर पुरोहित की सत्ता और प्रतिष्ठा का भी अंकुश रहता था। युद्धक्षेत्र में पुरोहित राजा के साथ रहता था और 'ऋगवेद' के कई अवतरणों में राजा को ब्राह्मण या पुरोहित का विशेष ध्यान रखने और उसकी रक्षा करने की सलाह दी गई है, क्योंकि ऐसा करके ही वह अपने शत्रुओं तथा कुटुम्बियों की श्रीसंपत्ति का स्वामी बन सकता है। जेसा आर.एम. शर्मा कहते हैं कि लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकला जा सकता कि राजा पुरोहित के समर्थन पर आश्रित था।

लगातार होती रहने वाली लड़ाईयों के कारण जनजातीय सरदारों की शक्ति में भी व द्धि होती रहती थी। इन लड़ाईयों में पराजित लोगों को दास बनाकर वह उनसे सेवा लेता था। लड़ाइयों में उसे लूट का जो माल हाथ लगता था, उसमें से वह पुरोहितो को तरह-तरह के भेंट उपहार-जैसे गायें, घोड़े, सोने की सिले और सुंदर वस्त्राभरणों से सज्जित दासियां देता था। बदले में पुरोहित लोग उसकी दानस्तुती करते थे, अर्थात् नई नई विधियों से उसका अभिषेक करते थे और उसकी प्रशंसा में ऋचाएं बनाते थे। इस सबसे राजप्रतिष्ठा की अभिव द्धि होती थी और विजित लोगों तथा जनजातिय बंधु बांधवों के बीच राजा के पराक्रम प्रभुता की पैठ बैठती थी।

संपत्ति प्राप्त होने से जनजातिय सरदार आम लोगों की अपेक्षा अच्छे ढंग से रह सकता था। शायद वह बड़े मकान में निवास करता था, लेकिन साहित्यक स्त्रोतों में उसके आवास के जो भव्य वर्णन मिलते हैं, उनके बावजूद ऐसा मानने का जैसा आर० एस० शर्मा मानते है कोई आधार दिखाई नहीं देता कि इस काल में ऐसे भव्य भवन बनते होंगे।

ऋग्वैदिक लोगों के पास जो साधन और शिल्पज्ञान था, उसके सहारे वे कोई बड़ा प्रशासन तंत्र कायम नहीं कर सकते थे। वे मुख्यतः पशुपालक समुदायों के लोग थे और उनकी खेतीबाड़ी अविकसित अवस्था में थी कि उसकी पैदावार के बल पर बहुत से राज्य कर्मचारी नहीं रखे जा सकते थे। राजा तथा उसके कर्मचारियों के भरणपोश का एकमात्र साधन बलि के रूप में प्राप्त होने वाला उपज का बहुत छोटा अतिरिक्त अंश था। 'ऋग्वेद' में राजा को दी जाने वाली भेंट या देवताओं को अर्पित किए जाने वाले चढ़ावे के अर्थ में 'बलि शब्द का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है।'

बलि अर्थात् भेंट अन्न के रूप में शायद विजित लोगों से और राजा के भाई बंदों से भी ली जाती थी। युद्ध में पराजित शत्रु जनजातियों को बलि या किसी प्रकार की भेंट देने पर विवश किया जाता था।

बलि एक नियमित अनिवार्य कर था या ऐच्छिक कहना प्रमाणों के अभाव में कठिन है।

ऋगवेद में करों का संग्रह करने वाले किसी अधिकारी का उल्लेख भी नहीं मिलता यद्यपि कर संग्रह राज्य का महत्त्वपूर्ण कार्य माना जाता है। संक्षेप में, सम्वतः ऋग्वैदिक समाज को कर प्रणाली का ज्ञान नहीं था।

1. **सैनिक कार्य** - इसी प्रकार, यद्यपि सेनानी नामक पदाधिकारी का उल्लेख हमें मिलता है, लेकिन जिसका खर्च राजा द्वारा वसूल किए जाने वाले करों से चलता हो, ऐसी स्थायी सेना के अस्तित्व का भी कोई प्रमाण नहीं मिलता। 'ऋगवेद' में सेना शब्द का उल्लेख बीस बार हुआ है, लेकिन संभवतः यह जरूरत पड़ने पर जनजाति जैसा कि आस एस शर्मा मानते हैं, साधारण सदस्यों में से खड़ी कर ली जाने वाली सेना थी। वैदिक सभाएं जिनमें जनजाति के सदस्य उपस्थित हुआ करते थे, जिन कार्यों का संपादन सभा करती थी उनमें सैनिक कार्यों का बड़ा महत्त्व था। स्पष्ट है कि जनजातिय लोग सामान्यतः हथियारबंद रहते थे और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें लड़ाई करने के लिए एकत्र कर लिया जाता था। और फिर हथियार भी तो तीर धनुष होते थे जिन्हें रखना आसान था। जिन लोगों के पास रथ और कांसे के हथियार होते थे, वे कुछ अधिक अच्छी तरह शस्त्रसज्जित रहते थे; शेष सब समान थे। अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण कार्यों में लगे कुछ लोग भी-जैसे गोचर, भूमि की देख रेख करने वाला व्रतपति और परिवार के मुखिया का दायित्व संभालने वाला कुलपा-सैनिक अधिकारियों के रूप में सामने आते हैं। युद्ध में व्रजपति कुलपाओं का नेत त्व करता था। ग्रामीण भी ऐसे ही कार्य संपादित करता था। इसलिए सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राज्य के पास कोई स्थायी सैनिक अधिकारी नहीं होता था।

2. **पुलिस कार्य** - निजी संपत्ति की सुरक्षा के लिए कुछ पुलिस अधिकारी रखना आवश्यक था। दूसरों की जमीन पर जबरदस्ती दखल जमाने जैसे अपराध का कोई उल्लेख नहीं मिलता, लेकिन चोरी, सेंधमारी, बटमारी, जुए में बेईमानी और खासकर गोहरण के जिक्र बहुत मिलते हैं। राजा लोगों पर नजर रखने के लिए गुप्तचरों से काम लेता था, जो 'स्पस्' कहे जाते थे। उग्र और जीवग भ नामक अधिकारियों का काम आर० एस० शर्मा के अनुसार, शायद अपराधियों पर नियंत्रण रखना था, और मध्यमसी विवादों में मध्यस्थ का काम करने वाले अधिकारी का काम करता था।

3. **न्याय व्यवस्था** - लेकिन सजाएं उतनी कड़ी नहीं होती थीं जितनी परवर्ती काल में होने लगीं। मनुष्य की हत्या करने की क्षतिपूर्ति के रूप में 100 गाएं देनी पड़ती थी। चोरी के मामलों में दिए जाने वाले दंड में भी जिसकी क्षति होती थी उस व्यक्ति को संतुष्ट करने के सिद्धान्त से काम लिया जाता था। वेदोत्तर काल में चोरी की सजा के तौर पर म त्युदंड तक दिया जा सकता था, लेकिन ऋग्वैदिक काल में निजी संपत्ति को इतना अधिक महत्त्व प्राप्त नहीं हो पाया था, कि उसके संबंध में किए गए अपराध का दंड कितना कठोर होता। संक्षेप में, इस काल में दंड व्यवस्था उतनी सुगठित और कठोर नहीं थी।

4. **राज्य अधिकारीगण** - जिन्हें सिविल अफसर कहा जा सकता है, ऐसे अधिकारियों की संख्या विशेष नहीं थी। लगभग आधे दर्जन राज्यधिकारियों का उल्लेख हमें मिलता है जैसे- महिषी (शक्तिशालीनी), अर्थात् पटरानी; पुरोहित; कोषाध्यक्ष; रथी, जो मूलतः राजकीय वस्तुओं राजकृपा का वितरण करता था, तक्षन् (बढ़ई, जिसका औजार कुल्हाड़ी होता था।) और दूत। इन सबका उल्लेख उत्तर वैदिक काल के रत्निनों की सूची में हुआ है। इस सूचि में ऋग्वैदिक कालीन सेनीनी भी शामिल है, जो शायद कुछ दीवानी कामकाज भी करता था। ऋग्वैदिक राज्य में रथों के महत्त्व के कारण 'ऋग्वेद' के सार भाग में भी रथी को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। लेकिन कुल मिलाकर इस काल में भी हमें एक ऐसे अपरिष्कृत तंत्र प्रमाण अवश्य मिलते हैं जो शासन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता था। इस काल में हमें किसी विधिसंहिता की कोई जानकारी नहीं मिलती। चुंकि जनजातिय सभा संगठन पूरी तत्परता से काम करते थे और सभी जनजातीय मामलों की देखरेख करते थे, इसलिए राजा के करने के लिए कुछ विशेष रह नहीं जाता था। और इसलिए राज्य कर्मचारियों की संख्या बहुत कम थी।

   'सभा', 'समिति', गण तथा विदथ- जैसी जनजातिस संस्थाएं पूर्व जनों के जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती थीं। सभा और समिति को तो निश्चित तौर पर कतिपय राजनीतिक कार्य संपादित करने पड़ते थे और राजा उनके सहयोग तथा समर्थन के बिना शासन नहीं चला सकता था। गण का भी कुछ राजनीतिक महत्त्व अवश्य था, लेकिन विदथ की राजनीतिक भूमिका निश्चयपूर्वक नहीं बताई जा सकती। जो भी हो, इतना तो निश्चित है कि ये जनजातीय संस्थाएं एक प्रकार का प्रत्यक्ष लोकतंत्र चलाती थीं। इन संस्थाओं के सदस्य इनकी बैठकों में भाषण करते थे और सभी बातों का निर्णय सर्वसम्मति से करते थे। उनके विचार विमर्श का एक मुख्य विषय युद्ध का सफल संचायन होता था। हर सदस्य योद्धा होता था। हर योद्धा को अपने आयुध आप जुटाने होते थे और लड़ाई में लूटा गया माल उसकी जीविका का साधन होता था। लड़ाई करना स्पष्ट ही जनजातीय संस्थाओं का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य था, और ग्राम, ग्रामणी, सेनानी आदि अन्य ऋग्वैदिक संस्थाओं से भी उसका यही पक्ष उजागर होता है।

   अतः 'ऋग्वेद' के अध्ययन से जिस राजनीतिक संगठन का आभास मिलता है, वह इतना विकसित नहीं जान पड़ता कि उसे राज्य कहा जा सके। अधिक से अधिक उसे 'जनजातिय सरदारी अर्थात् अर्ध राज्य माना जा सकता है। जिसका स्वरूप मुख्यतः सैनिक था। जो राजत्व की गरीमा से विहिन था, जिसका कोई सुद ढ़ क्षेत्रीय आधार नहीं था, और जो किसी न किसी प्रकार की कर प्रणाली, स्थायी सेना, स्थायी अधिकारतंत्र आदि उन तत्त्वों का विकास करने को प्रयत्नशील था जिन्हें प्राचीन भारतीय और आधुनिक दोनों द ष्टियों से राज्य के आवश्यक अंग माना गया है।'

अध्याय-3

उत्तरवैदिक कालीन सरदारी राज्य तथा उनका स्वरूप

(Chiefdoms of Later Vedic Times & Their Nature)

उत्तर वैदिककाल के समाज का भौतिक आधार ऋग्वैदिक समाज के भौतिक आधार से कुछ द ष्टियों से सर्वथा भिन्न था। अब आर्यों के क्रिया कलापों का क्षेत्र पश्चिमी उत्तर प्रदेश था। इनके पहले इस क्षेत्र में तांबे का उपयोग करने वाले लोग रहते थे, जिनके औजारों और हथियारों के 18 संग्रह यहां मिले हैं। इन औजारों और हथियारों को 1700 ई० पू० से 1000 ई० पू० माना गया है। इन लोगों के यहां से भगाकर खुद इस इलाके में बस जाने में आर्यों द्वारा काम में लाए जाने वाले लोहे के औजार और हथियार उनके लिए बहुत सहायक हुए। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में एटा जिले के अतरंजीखेड़ा नामक स्थान में ऐसे औजार और हथियार बड़ी तादाद में मिले हैं। यों तो इन्हें 1000 ई० पू० के आसपास का माना गया है, लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि ये 800 ई० पु० से बाद के नहीं हैं। कुरू पंचाल देश या पश्चिमी उत्तर प्रदेश में रचित उत्तर वैदिक संहिताओं में लोहे के लिए श्याम अयस् शब्द का प्रयोग हुआ है। लौह शिल्प के विकास के फलस्वरूप आर्यों का घुमक्कड़ और पशुपालक जीवन प्रायः समाप्त हो गया और इस शिल्प की बदौलत वैदिककाल के अंत तक बिहार के विदेह क्षेत्र तक उनका प्रसार संभव हो सका। इसके कारण पश्चिमी उत्तर प्रदेश में कृषि को सुस्थिर आधार प्राप्त हुआ, और शासकों को कृषि उत्पादन का अतिरिक्त भाग नियमित रूप से मिलने लगा जिससे वे क्षेत्रविशेष से बंध गए।

अतरंजीखेड़ा के लोहे के उपकरणों के साथ-साथ पश्चिमी उत्तर प्रदेश, और पंजाब, दिल्ली क्षेत्र तथा राजस्थान के सीमावर्ती हिस्सों में लगभग 700 स्थानों में अलग से भी रंगे हुए भूरे बर्तनों के टुकड़े मिले हैं, जिससे प्रकट होता है कि 1000-500 ई. पू. के दौरान यह क्षे.पू. स्थायी बाशिंदों से आबाद था।

उत्तर वैदिककाल में छोटे-छोटे समुदायों के आपस में मिलने से बड़ी-बड़ी इकाइयां बन गईं। ऋग्वैदिक काल के क्रिवि तथा पुरू लोगों के आपस में मिल जाने से कुरू जन का निर्माण हुआ। यह जन आगे चलकर पंचालों से जुड़ गया। इन दोनों ने मिलकर पूरे पश्चिमी उत्तर प्रदेश पर कब्जा करक लिया। अब शासकों को अनिश्चित भेंट नजराने पर निर्भर नहीं रहना पड़ता था, बल्कि शायद उन्हें आर.एस.शर्मा के अनुसार कृषि उत्पादन का एक निश्चित अंश प्राप्त होता था। नियमित आय होने से वे बहुत सारे पुरोहितों को राज्य की सेवा में लगा सकते थे। इन पुरोहितों ने कर्मकांडों का विकास किया, जो कि में उत्तर वैदिक राज्य व्यवस्था का चित्र प्रस्तुत करने के हमारे एकमात्र साधन स्त्रोत बने।

निश्चित क्षेत्रों में बस जाने पर वैदिक जन चार वर्णों में विभक्त हो गए। ब्राह्मणों को, जो मूलतः पुरोहितों के 16 वर्गों में से एक के सदस्य थे, शीर्षस्थ स्थान प्राप्त हुआ, और उन्होंने जिस वैदिक कर्मकांड साहित्य की रचना की उसमें अपने को सामाजिक तथा राजनितीक दोनों प्रकार के विशेषाधिकारों का पात्र बतलाया। शूद्रों में आर्य और प्राक्-आर्य लोग भी शामिल थे और इनका स्थान बहुत अनिश्चित था, जिसका प्रतिबिंब समाज और राजनीति दोनों में देखने को मिलता है। क्षत्रिय शासक का काम करते थे और वैश्य मुख्य कर दाता थे। राजनीति पर वर्णभेद तथा ब्राह्मणों के प्रभाव की झांकी पहले पहल उत्तर वैदिककाल में ही मिलती है।

1. **पित सत्तात्मक परिवार** - परिवार अधिकाधिक पित सत्तात्मक होता गया और विवाह पर पित पक्ष से गोत्रीय प्रतिबंध लगने लगे। मात अधिकार की नींव उत्तरोत्तर कमजोर पड़ती गई और राजाओं में बहुपत्नीवाद का चलन आरंभ हुआ। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में राजा हरिशचन्द्र की सौ पत्नियों का उल्लेख है। नए पारिवारिक संबंधों का प्रभाव सार्वजनिक संस्थाओं तथा राज्य के अंगों के गठन में देखा जा सकता है।

2. **राजस्व स्वरूप में बदलाव** - इस काल में राजत्व का स्वरूप बदल गया। उत्तर वैदिक साहित्य में वर्णित कर्मकांडों से राजत्व के जनजातीय तथा प्रादेशिक पहलुओं के अंतर्द्वंद्व की स्पष्ट प्रतिध्वनि मिलती है। प्रदेश को परिवर्तनशील

माना जाता था, और इसलिए राजा को देवी-देवताओं के समक्ष उसके अपने नाम, माता-पिता के नाम तथा गौत्र के के नाम से प्रस्तुत किया जाता था। रथ-धावन, गोहरण, तथा द्यूत-क्रीड़ा जैसे अनुष्ठानों का उद्देश्य अपने गौत्र जनों की तुलना में राजा की श्रेष्ठता दिखाना है। राजा की अध्यक्षता में काम करने वाली पंचालों की परिषद का नाम किसी प्रदेश के नाम पर नहीं बल्कि उस जन के नाम पर रखा गया है।

लेकिन प्रादेशिक तत्व का जोर क्रमशः बढ़ता गया। 'अर्थवेद' के निर्वाचनगान में ऐसी कामना की गई की राष्ट्र या प्रदेश राजा के अधिकार में रहे और वरूण तथा देवता ब हस्पति, इंद्र एवं अग्नि उसे द ढ़ता प्रदान करें।15 परवर्ती संहिताओं में दो वर्ष तक चलने वाले राजसूय नामक अभिषेक यज्ञ का वर्णन हुआ है। स्पष्ट है कि यह यज्ञ करने के लिए कोई ऐसा निश्चित स्थान आवश्यक था जहाँ लोग स्थायी रूप से रहें। कुरू-पंचाल देश में जहाँ राजा का निवास था उस स्थान को राजधानी कहा जाने लगा। रत्नहवींषि संस्कार के क्रम में राजा को स्थायी-आवासों में रहने वाले गणमान्य व्यक्तियों के पास जाना पड़ता था। कई अभिषेक मंत्रों से भासित होता है कि राजा को अपनी प्रादेशिक स्थिति का भाान था। 'यजुर्वेद' के एक आरंभिक अंश 'तैत्तिरीय संहिता' के अनुसार राजा को 'इस विश् (जनजाति) में', 'इस राष्ट्र (राज्य) में उपस्थित किया जाता है, जिससे प्रकट होता है कि जनजाति और उस जनजाति का निवास क्षेत्र दोनों एक ही अर्थ के बोधक होते जा रहे थे। उसी संहिता में यह भी कहा गया है कि किसी संस्कार के आंशिक संपादन से राजा विश् को प्राप्त कर लेता है, लेकिन राष्ट्र को नहीं, और राष्ट्र की प्राप्ति उस संस्कार के संपूर्ण संपादन से ही संभव है।

सबसे बाद के वैदिक ग्रंथों को देखने से भी राजत्व के प्रादेशिक स्वरूप में कोई संदेह नहीं रह जाता। उदाहरणस्वरूप 'एकराज' का अर्थ जैसे राजा से लगाया जाता है। जिसका राज्य एक समुन्द्र से दूसरे समुन्द्र तक फैला हो। शतपथ ब्राह्मण में राजा को राष्ट्र भूत कहा गया है।

लोगों के मानस में प्रदेश का महत्त्व प्रतिष्ठित हो जाने का एक परिणाम यह हुआ कि उत्तर वैदिककाल के अंतिम चरण में उनमें जमीन पर स्वामित्व स्थापित करने और उसे संपत्ति मानने की व ति जगी। अब राजा पुराहितों के बीच सिर्फ लड़ाई में लूटी गई वस्तुएं-मुख्यतः गोधन तथा दासियां- ही विपरित नहीं करता था, अब वह अपने गोत्र की सहमति से भूमि का हिस्सा भी अनुदान में देने का दावा करने लगा। यद्यपि इस काल में सचमुच ऐसा अनुदान शायद ही कभी दिया गया हो, लेकिन यह राजत्व के नए स्वरूप को संतुष्ट अवश्य करता है।

इस काल में एक नए सामाजिक ढांचे का उदय हो रहा था और उसने स्वभावतः राजत्व को भी प्रभावित किया। राजा जिस प्रदेश पर शासन करता था उसमें बराबर सिर्फ उसी विश् के लोग नहीं रहते थे जिसका राजा सदस्य होता है। इसके विपरित उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों के लोग रहते थे, जिनका उदय वैदिक जनजातियों के विघटन और अवैदिक जनों के वैदिक समाज में शामिल किए जाने के परिणामस्वरूप हुआ था। इसलिए यह आवश्यक जान पड़ा कि अभिषेक संस्कारों के द्वारा राजा इन सामाजिक वर्गों का समर्थन प्राप्त करे। स्पष्ट है कि राजा अब क्षत्रिय वर्ग का होता था और जनसाधारण पर प्रभुत्व कायम करने के लिए उसके लिए आवश्यक केवल यह था कि वह पुरोहित वर्ग का समर्थन प्राप्त करे। राजा को ब्राह्मणों का रक्षक और जनसााधारएा का भक्षक कहा जाता था। कुछ कर्मकांडों में पुरोहित की श्रेष्ठता पर जोर दिया गया है और कुछ में क्षत्रियों की प्रमुखता पर। लेकिन अंत में एक प्रकार के पारस्परिक समझौते में बंधकर दोनों प्रचलित व्यवस्था के रक्षक के रूप में सामने आते हैं। राजा को ब्राह्मण पुरोहित को यह वचन देना पड़ता है कि वह धर्म के अनुसार आचरण करेगा और धर्म की रक्षा करेगा, और 'शतपथ ब्राह्मण' में कहा गया है कि राजा और क्षत्रियों दोनों मिलकर धर्म की रक्षा करते हैं।

3. **राजा का पद वंशानुगत होना** - यद्यपि अभिषेक संस्कारों में राजा के निर्वाचन की मूल पद्धति का अनुसरण किया गया है, किंतु 'ऐतरेय ब्राह्मण' में ऐसे मंत्रों का विधान है जिनके द्वारा एक, दो और तीन पीढ़ीयों के लिए राजपद प्राप्त किया जा सकता है। 'शतपथ ब्राह्मण' का एक मंत्र तो इसकी अवधि दस पीढ़ीयों तक ले जाता है। हमें राजपुत्र शब्द का उल्लेख भी देखने को मिलता है, जिसका अर्थ कई प्रसंगों में राजा का पुत्र लगाया जा सकता है। एक ही परिवार के लोगों के कई पीढ़ीयों तक शासन करने के उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इस प्रकार इस काल में राजपद वंशानुगत हो गया था।

4. **राजा का पद दैविक होना** - इस काल में एक और नई बात यह हुई कि राजा को दैवी तत्वों से युक्त किया जाने

लगा। इस तरह का कोई साक्ष्य 'ऋग्वेद में' शायद ही कहीं मिले, लेकिन उत्तर वैदिककाल के अभिषेक संस्कारों में विभिन्न देवताओं का आवाहन किया गया है कि राजा को अपने-अपने गुणों से संपन्न करें। एक दो स्थलों पर राजा को देवता के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है।

5. **दान व कर प्रणाली का विकास** - उत्तर वैदिक राज्य-व्यवस्था का एक उल्लेखनीय पहलू राज्य के दो अंगों अर्थात् कर प्रणाली और अधिकारितंत्र का विकास है। स्थायी कृषि तथा प्रादेशिक शासन के आरंभ के परिणामस्वरूप स्पष्ट ही राज्य को उपज का काफी बड़ा अतिरिक्त हिस्सा जिंसों में सुलभ होने लगा। राजा के लिए प्रयुक्त 'विश्मता', अर्थात् जनसाधारण का भक्षक, शब्द से प्रकट होता है कि वह जनता से वसूल किए गए करों पर निर्वाह करता था। अनुष्ठानों से पता चलता है कि राजन्य और ब्राह्मण मिलकर विश् अर्थात् जनजातीय किसानों को अपने वश में लाने की चेष्टा करते थे। विश् और राजन्य तो एक ही जनजाति के होते थे पर ब्राह्मण के उदय का पता ठीक से नहीं चलता है। जो भी हो, राजन्य और ब्राह्मण जबरदस्ती विश् को अपने कब्जे में लाने का यत्न करते थे ताकि वे उपज का हिस्सा कर और दान के रूप में प्राप्त कर सकें।

6. **राज अधिकारियों गुणों की संख्या में व द्धि** - नियमित करों के फलस्वरूप इस काल में प्रशासनिक अधिकारियों की संक्ष्या में भी व द्धि हुई। कम से कम 12 रत्निन् राज्यधिकारी जान पड़ते है। उदाहरणार्थ सेनानी, ग्रामीण, भागदद्या (कराधान व खाद्य वितरण विभाग का अधिकारी), पुरोहित, सूत (रथ वाहक व युद्ध सलाहकार) संग्रहवत (कोषाधिकारी) अक्षवाप आदि। स्पष्ट ही इनका खर्च राज्य द्वारा वसूल किए करों से चलता था। अपराधों की रोकथाम से उनका संबंध नहीं था, लेकिन जनजातीय संस्थाओं से विरासत में मिले कई विध्यात्मक कार्य वे अवश्य करते थे। उदाहरण के लिए, वे धातुकर्म, रथनिर्माण, मांस आपूर्ति, रथ संचालन आदि की देखरेख करते थे। ऐसे कार्यों के महत्त्व को उस समाज के भौतिक आधार को ध्यान में रखकर अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है जिसके वे अंग थे। ये अधिकारी शायद राज परिचरव ंद के सदस्य थे और वे राजा की घर ग हस्थि से अलग ऐसे कर्मचारी नहीं थे जिन्हें आज सरकारी नौकर कहा जाता है। इन उच्च पदाधिकारियों में पुरोहित भी शामिल था, जिसे कई सूचियों में शीर्षस्थ स्थन दिया गया है।

7. **स्थायी सेना** - उत्तर वैदिकाल के अधिकतर भाग में सेनानी कोई छोटा अधिकारी ही प्रतीत होता है। इससे लगता है कि स्थायी सेना का महत्त्व अब भी गौण ही था। लेकिन चूँकि 'शतपथ ब्राह्मण' की रत्निन् सूचि में सेनानी को सबसे ऊँचा स्थान दिया गया है, इसलिए लगता है कि वैदिककाल के अंत में सेना महत्त्वपूर्ण तत्व के रूप में उभरी। इस तथ्य की पुष्टि इस बात से भी होती है कि अब रत्निन् सूचि में रथ निर्माताओं और सारथियों को भी शामिल कर लिया गया। किंतु इस अवस्था में भी सेना में राज परिवार के दायाद कुटुंबी ही हुआ करते थे। हम कुरूराज को 64 सतत सन्नद्ध योद्धाओं से घिरा देखते हैं और ये सारे योद्धा उसके पुत्र या पौत्र हैं। लेकिन जब पंचाल राज एक धार्मिक संस्कार संपादित करता है, उस समय छः हजार तैंतीस कवचधारी योद्धा खड़े हो जाते हैं। यद्यपि यह एक रूढ़ संख्या है। फिर भी यहां जितने सैनिकों का उल्लेख हुआ है उनमें शायद ऐसे योद्धा भी शामिल रहे होंगे जो राजा के दायाद कुटुंबी नहीं थे। इस अर्थ में उत्तर वैदिककाल से एक प्रकार की स्थायी सेना रखने की प्रथा का आरंभ होता है।

8. **पुलिस व्यवस्था आंतरिक दंडव्यवस्था** - उदाहरण के लिए पुलिस व्यवस्था- के विकास का कोई संकेत उत्तर वैदिक साहित्य से नहीं मिलता। शायद ऋग्वैदिक काल के पुलिस अधिकारी अब भी काम करते रहे। ब्राह्मणों को देश से निष्कासित करने, वैश्यों को निरस्त करने और शूद्रों को पीटने का राजा का दावा किसी दंड संगठन के बिना चरितार्थ नहीं हो सकता था। कुछ विद्वानों का विचार है कि स्थपति तथा शतपति के उल्लेखों से नियमित प्रांतीय शासन प्रणाली के आरंभ का संकेत मिलता है। लेकिन रत्निम् सूचि में न इन अधिकारियों का कोई जिक्र है, और न अधिकृत का, जिसे राजा द्वारा नियुक्त ग्रामाधिकारी माना गया है।

9. **सभा समीति के स्वरूप में बदलाव** - प्रादेशिक राज्यों के उदय के फलस्वरूप लोक संस्थाओं के लिए पहले की तरह काम करना कठिन हो गया। राज्य के विभिन्न भागों के लोगों के लिए एक स्थान पर आकर मिलना असुविधाजनक हो गया होगा। जिन लोगों के लिए शक्य था और जो राजधानी में रहते थे वही आसानी से एकत्र हो सकते थे। शासकों के सामने अवैदिक लोगों को स्थान देने की भी समस्या थी। इन सब बातों के फलस्वरूप 'सभा'

तथा 'समिति' पर आभिजात्य का रंग चढ़ गया। अब ये संस्थाए विशुद्ध रूप से पित सत्तात्मक बन गई, क्योंकि इन बैठकों में स्त्रियों को स्थान देने का चलन मिट गया। लोकप्रिय संस्थाओं के कुछ काम नए राज्याधिकारियों के हाथों में चले गए और उनके आकार तथा दायित्व, दोनों में कमी आ गई।

संक्षेप में, यद्यपि राजा की शक्ति और अधिकारों तथा प्रशासनिक ढांचे की द ष्टि से ऋग्वैदिक राज्य व्यवस्था की तुलना में उत्तर वैदिक राज्य व्यवस्था ने काफी विकास किया, तथापि अभी यह सप्तांग राज्य सिद्धान्त की स्थिति तक नहीं पहूँच पाई थी। वस्तुतः यह ऐसा काल था जब जनजातिय संगठन के स्थान पर धीरे-धीरे वर्ण तथा प्रदेश पर आधारित संगठन की रचना हो रही थी और वैदिक काल के अन्ति चरण में यह प्रक्रिया पूर्णता की स्थिति के बहुत निकट पहूँच चुकी थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋगवैदिक कालीन **कबीलाई सरदारी संगठन** से वर्ण आधारित प्रादेशिक राज्य में परिवर्तित होती जा रही थी। इस समय शाही शक्ति तथा प्रशासनिक ढाँचा भी कहीं अधिक विकसित रूप में लेकर उभरा। इस समय प्रशासनिक अधिकारियों की संख्या में व द्धि हुई और कम से कम 12 रत्नानियों का वर्णन हमें मिलता हे। इस समय सभा तथा समिति के स्वरूप में भी बदलती परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन आया अब इनका स्वरूप अधिक कुलीन तथा पुरूष प्रधान हो गया।

यद्यपि अब छोटे-छोटे कुल आधारित समुदाय बड़ी बड़ी इकाई में परिवर्तित हो रहे थे। तथा धीरे-धीरे भूखण्ड का महत्त्व बढ़ता जा रहा था जैसाकि अर्थववेद में राजा को राष्ट्र का मालिक हो तथा वरूण, व हस्पति, इन्द्र और अग्नि देवता इसे मजबूत करे' दुआ दी जाती थी। परन्तु अभी राजा कुल के नाम से ही जाना जाता था जैसे पांचाल राजा इस समय राज्य के दूसरे दो अन्य अंग-कर तथा प्रशासन व्यवस्था भी साफ तौर पर उभर कर सामने आए।

सभा और समिति

सभा और समिति में वैदिक कालीन राज्य व्यवस्था के दो महत्त्वपूर्ण आधार थे। वैदिक युगीन राजनीतिक व्यवस्था के विकास का ये एक अन्य प्रमाण था। ऋगवेद में सभा और समिति का अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है। सभा शब्द ऋगवेद में आठ बार तथा समिति शब्द का वर्णन छः बार आया है। इन दोनों को प्रजापति की दो पुत्रियाँ कहा गया है। संभवतः समिति एक व हदतर परिषद थी जिसमें राजा की अध्यक्षता में जन-समुदायों राजनीतिक मामलों पर विचार विमर्श करता था जबकि सभा में कुछ विशिष्ट अथवा चुने हुए लोग यथा ब्राह्मण व धनाढ्य वर्ग प्रशासनिक, राजनीतिक व अन्य उद्देश्यों यथा मनोरंजन हेतु एकत्र होते थे। ऋग्वेद में प्राप्त वर्णनों के आधार पर इतिहासकारों ने सभा और समिति के विषय में विविध मत प्रस्तुत किए हैं यथा सभा का आश्य 'एकित्रत जन समुदाय', तथा 'सभा-स्थल' दोनो प्रतीत होता है, सभा की सदस्यता सीमित थी, सभा में राजनीतिक विचार-विमर्श के अतिरिक्त अन्य कार्यों का निष्पादन भी होता था जबकि समिति एक व हदतर व जनप्रिय सदस्यता पर आधारित संस्था की द्योतक है जिसमें राजनीतिक विषयों पर निर्णय लिए जाते थे। जो भी हो, इतना स्पष्ट है कि इन दोनों संस्थाओं के पास पर्याप्त शक्तियां थीं जो राजा की शक्तियों पर अंकुश का कार्य भी करती थी।

राजा के लिए आवश्यक था कि उसके संबंध सभा व समिति के साथ साहार्दपूर्ण रहें। इससे भी प्रतीत होता है कि ये संस्थाएं राजा पर जन-नियंत्रण की प्रतीक थी। बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों से 'सभा' और 'समिति' के विषय में कुछ और जानकारी प्राप्त होती है। अथर्ववेद और शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त वर्णन के अनुसार राजा यह प्रार्थना करते थे कि प्रजापति की दोनों पुत्रियां सभा और समिति मेरी सहायता करें। इस प्रार्थना में दो संकेतार्थ छिपे हैं। प्रथम, शतपथ और ऐतरेय ब्राह्मण में राजा को प्रजापति की रचना अथवा उसका प्रतिनिधि बताने से जो दैवीय स्थिति राजा को प्राप्त हो जाती है अर्थात् ये दोनों संस्थाएं राजा के समकक्ष प्रतिस्थापित हो जाती हैं। द्वितीय, इन संस्थाओं की नियंत्रक सत्ता न केवल सामान्य प्रशासन तक सीमित थी अपितु राजा के व्यक्तिगत कार्य निर्वहन तक भी व्याप्त थी।

उत्तर वैदिक साहित्य में प्राप्त विवरण से सभा और समिति के विषय में यह भी ज्ञात होता है कि 'सभा' नाम का स्थल गंभीर राजनीतिक विचार-विमर्श सामाजिक आदान-प्रादन मनोरंजन एवं द्यूत क्रीड़ा (जुआ) के लिए भी प्रयोग किया जाता था। जब सभा यानी बैठक होती थी तो पहले सभा की ओर से यज्ञ अथवा बलि भेंट की जाती थी। जिसमें प्रयुक्त अग्नि को 'सभ्या कहा जाता था। मैत्रायणी संहिता से यह ज्ञात होता है कि सभा में महिलाएं भाग नहीं लेती थी। इसी संहिता में 'सभा' का

प्रयोग न्यायालय के रूप में मिलता है जिसमें ग्राम्य-वादी अर्थात् ग्रामीण न्यायकर्त्ता मिलते थे। ग्राम्य वादियों का उल्लेख यजुर्वद की संहिताओं में भी मिलता है। साथ ही, उनमें सभासद, सभाचार व सभापति शब्दों का प्रयोग भी मिलता है जिससे यह अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है कि सभा एक सक्रीय संस्था थी जिसकी एक निश्चित आचरण-शैली, सदस्यों की अवस्थिति तथा नियत्रंण व कार्यान्वयन के लिए पदाधिकरी थे। तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'सभा-पाल' का उल्लेख भी इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। ग्राम्य वादियों का उल्लेख यह संकेत करता है कि राजनीतिक के साथ-साथ वैधानिक कार्यों का निष्पादन भी करती थी। वी. एम. आप्टे अपने अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहूँचते हैं कि 'यद्यपि उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर सभा व समिति के कार्यों की भिन्नता के विषय पर किसी निष्कर्ष पर पहूँचना कठिन है, केवल इतना कहा जा सकता है कि हर प्रकार की नीति पर विचार विमर्श व निर्णय लेना तथा विधायन समिति के प्रमुख कार्य थे जो कि एक व हद् संस्था थी जबकि न्यायिक कार्य मुख्यतः सभा के कार्य-क्षेत्र में आते थे यद्यपि वह भी सभी राजनीतिक मामलों पर विचार विमर्श का अधिकार भी रखती थी।'

मनुस्म ति के अनुसार, "राजा से अधिकार पाकर जिस स्थान पर तीनों वेदों को जानने वाले विद्वान ब्राह्मण बैठते हैं, उस स्थान को सभा कहते हैं। सभा में बैठने वालों को अधर्म से धर्म को बचाना चाहिए; असत्य भाषण नहीं करना चाहिए पक्षपात के कारण सत्य को नहीं छोड़ना चाहिए और असत्यवादियों को दंडित करना चाहिए।" इसी प्रकार मत्स्य-पुराण में यह स्पष्ट किया गया है कि "शत्रु-मित्र के प्रति समद ष्टि रखने वाला, धर्मशास्त्र को जानने वाला, ब्राह्मण, श्रेष्ठ तथा कुलीन पुरूष न्यायाधीश बनने योग्य है तथा इसी के समान गुणवान व्यक्ति सभासद बनने योग्य है।" पाणिनी ने भी नागरिक के उन गुणों को वर्णन किया है जो उसे 'सभ्य' अर्थात सभा का सदस्य बनने के योग्य बनाते हैं। उनके अनुसार '18 वर्ष का होने पर एक क्षत्रिय कवच-हार अर्थात सैनिक कार्यों के योग्य हो जाता है और 21 वर्ष की आयु का होन`पर वह सब राजनीतिक अधिकारों व कर्तव्यों के योग्य हो जाता है।' जातक कथाओं के अनुसार सभा की सदस्यता 6000 से 60,000 के बीच होती थी। महाभारत में प्राप्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि निश्चित दिनों पर सभा के नियमित सत्र होते थे और सहसा घटित घटना-क्रम पर विचार-विमर्श हेतु आपातकालीन बैठक का भी प्रावधान होता था यथा अर्जुन द्वारा सुभद्रा के अपहरण की स्थिति में। ऐसे समय में सभापाल युद्ध-भेरी बजा कर नगर के सब नागरिकों की तत्काल सभा बुलाता था।

शामशास्त्री के अनुसार "प्रारंभिक समय से ही ऐसा प्रतीत होता है कि एक नस्ल के रूप में आर्यों ने यह हार्दिक अच्छा प्रदर्शित की कि वे अपने सामाजिक, धार्मिक, अथवा राजनीतिक प्रश्नों को अपनी सभा में हल करें। यूनानियों की एरियोपेगस (Areopagus) थीं, रोमवासियों की क्यूरिया (Curia) और ऐंग्लो-सेक्सन की वीटेनागिमोट (Witanagemot)। इसी प्रकार भारत में आर्यों की ऐसी संस्था सभा और समिति थीं। सभा, को दिए गए अन्य नामों में जनता और परिषद है। वैदिक काल में प्रचलित शब्द सभा समिति और जनता थे जबकि सूत्र काल में सामान्यतः प्रयूक्त शब्द परिषद हैं" ब हस्पति, भ गु और नारद के ग्रंथों में अनेक प्रकार की छोटी बड़ी सभाओं का उल्लेख मिलता है जिनमें चल और अचल सभाएं, ग्रामीण और शहरी (नगरीय) सभाएं, उपबंधित (Chartered) सभाएं, जातीय व व्यवसायगत सभाएं तथा राजा की अध्यक्षता वाली सुव्यवस्थित सभाएं इत्यादि का उल्लेखनीय हैं। दन विवराणों के आधार पर शामशास्त्री यह निष्कर्ष निकालते हैं कि "ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक युग में भी राज्य की प्रधान सभा के अतिरिक्त कुछ लघु अथवा गौण सभाएं थीं जिनका निर्माण प्रत्येक वर्ग अपने सामाजिक व राजनीतिक प्रश्नों के समाधान हेतु करता था। यह भी प्रतीत होता है कि राजा सहित प्रधान सभा सब प्रश्नों पर अंतिम सत्ता रखती थी।"

सभा की सदस्यता के विषय में भी विविध उल्लेख प्राप्त होते है। जिनसे यह प्रतीत होता है कि सभा में ज्ञानी और अज्ञानी, युवा और प्रौढ़ सभी प्रकार के सदस्य होते थे जो परस्पर सौहार्द व सम्मान भी प्रदर्शित करते थे। यद्यपि सामान्यतः भाषण तथा निर्णय का अधिकार सबकी सहमती के आधार पर शिक्षित और प्रौढ़ व्यक्तियों को दिया जाता था, अन्य को भी मताभिव्यक्ति से वंचित नहीं किया जाता था। इसी आधार पर चरकसंहिता के लेखक ज्ञानी व बुद्धिमान पुरूषों की सभा, अज्ञानी पुरूषों की सभा, मित्र-सभा, तटस्था-सभा व पक्षपात युक्त सभा इत्यादि का उल्लेख करते हैं।

निस्संदेह सभाओं की सदस्यता व वाक्पटुता का प्रदर्शन सम्माननीय और वांछनीय थे। यजुर्वेद में उल्लेख मिलता है कि विविध आशीर्वचनों में से एक सभा के योग्य पुत्र (सभ्य) का आशीर्वाद भी था। वाकपटुता अथवा वक्त त्व की कला का सभा में कितना महत्व था इसका संकेत ऋग्वेद और अर्थवेद में उल्लिखित उन अनुष्ठानों/बली/यज्ञों से मिलता है जो सभा में विजय हेतु

प्रभावशाली भाषण की कला प्राप्त करने के लिए किए जा सकते थे। इनसे यह संकेत भी मिलता है कि सभाओं की सदस्यता विशाल थी जिसमें सबको बोलने का अवसर प्रदान किया जाता था। सभा में पुरोहित अर्थात् शिक्षित वर्ग, कुलीन अर्थात् व्यापारी व कृषक वर्ग इत्यादि के प्रतिनिधि उपस्थित रहते थे। ब हस्पति के अनुसार सभा के दस घटक तत्वों में (1) राजा, (2) सभा के नियुक्त सदस्य, (3) स्म ति, (4) लेखापाल, (5) लेखक, (6) स्वर्ण, (7) अग्नि, (8) जल तथा (9) और (10) दोनों पक्षों के गवाह थे। इनमें से राजा निर्णय हेतु; सदस्स परीक्षण और विमर्श हेतु; स्म ति विधि के ज्ञान हेतु; स्वर्ण और अग्नि शपथ हेतु; जल प्यास हेतु; लेखापाल हिसाब किताब अथवा लेखाकर्म हेतु; लेखक वक्तव्यों को लिपिबद्ध करने हेतु और गवाह अभियोग की पुष्टि हेतु होते थे। इस वर्णन से एक तथ्य तो अत्यंत स्पष्ट हो जाता है कि सभा के कार्यों में न्याय करना व दोषी को दंड देना अवश्य थे।

सभा के अन्य कार्य क्षेत्रों में युद्ध, शांती, भूमि संबंधी विवाद, ऋण-वसूली, खेल में धोखा-धड़ी, उत्तराधिकार, महिलाओं का अपहरण, मानव व पशुओं की सुरक्षा/संरक्षण, पशुओं की चोरी, युद्ध में प्राप्त सामग्री का वितरण, चोरी, हमला और हत्या इत्यादि उल्लेखनीय हैं। सूत्र साहित्य में ऊपर लिखित विषय-क्षेत्र में कुछ और विषय भी सम्मिलित किए गए यथा फलदार व क्षों का विनाश, गलत माप तौल का प्रयोग, युद्ध में मारे गए सैनिकों की विधवाओं हेतु प्रावधान, ब्राह्मणों और विधवाओं की कराधान से मुक्ति, निर्धन, नपुसंक तथा विक्षिप्तों का रख-रखाव, झूठी गवाही हेतु दंड की व्यवस्था करना इत्यादि।

सभा की कार्यवाही एवं निर्णय प्रक्रिया में मतैक्य एवं परस्पर सहमति का महत्त्वपूर्ण स्थान था जो अथर्ववेद की निम्न ऋचा से स्पष्ट हो जाता है। संगच्छध्वं, सवंदध्वं, संवों मनांसि जानताम। मुद्रा के लिए ऋग्वेद में प्रयुक्त शब्द 'निष्क' है और स्वर्ण के लिए 'हिरण्य' जिनसे एक विकसित अर्थव्यवस्था का भी संकेत मिलता है। ऋगवेद में सभा को "किल्विस्प त" अर्थात् "पापों या अपराधों को दंड देने वाली" कहा गया है।

संपूर्ण विवरण से एक बात सुनिश्चित होती है कि वैदिक काल में सभा और राजा शासन व्यवस्था के दो महत्त्वपूर्ण तत्व थे। इनमें से भी सभा अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होती है क्योंकि राजा भी उसकी सहायता तथा उसके साथ सौहार्दपूर्ण संबंधों की कामना करता प्रतीत होता है। इसके भी प्रमाण हैं कि राजा की म त्यु अथवा निर्वासन की स्थिति से उत्पन्न रिक्तता के समय सभा राज्य के कार्यों की देखरेख करती थी तथा राजा भी प्रायः सभा में उभरे मतैक्य को क्रियान्वित करने के लिए बाध्य थे।

अध्याय-4
बुद्धकालीन प्रादेशिक राज्य (राजतन्त्र तथा गणराज्य अथवा जनजातीय अल्पतन्त्र)

(Territorial States – Monarchical, Republican or Oligrachical State)

वैदिक काल की भांति महाजनपद कालीन अर्थात् बुद्धकालीन राजनीतिक परिघटनाओं के मूल भी बदलती सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों में समाए हुए थे। वैदिक काल के अन्त में ऋग्वैदिक काल के कबायली राजनीतिक संगठन के स्थान पर प्रादेशिक राज्य प्रतिष्ठित होता जा रहा था। लेकिन बुद्धकाल (6 शताब्दी ई.पू.) में शहरों को अपनी सत्ता केन्द्र बनाकर बड़े-बड़े राज्य (महाजनपद) उदय हो रहे थे जो बुद्धकालीन भारत में राजनीतिक एकीकरण तथा विशाल साम्राज्यों की बढ़ती प्रव ति की पुष्टि करते हैं तथा साथ ही प्रादेशिकता की प्रबल होती हुई इच्छा को भी। पाणिनी के इस वर्णन से भी इसकी संपुष्टि हो जाती है जब वह कहता है कि अब लोगों की वफादारी उस जनपद (प्रदेश) के प्रति होती थी जिसमें वे निवास करते थे। अतः इस काल के राजनीतिक पक्ष की एक विशेषता यह भी थी कि भू प्रादेशिक तत्व राज्य संगठन के अनिवार्य तत्व के रूप में प्रतिस्थापित हो चुका था तथा जैसार कि आर.एस.शर्मा कहते हैं कि इस काल तक भारत में एक पूर्ण साज सज्जा युक्त राज्य की स्थापना हो चूकि थी।

इस काल में दो भिन्न प्रशासन प्रणालियों का अद्‌भुत मिश्रण दिखाई देता है। एक ओर तो इस समय 'राजतन्त्र' राजनीतिक संस्था के रूप में प्रतिस्थापित हो रहा था जिसमें वंशानुगत ज्येष्ठाधिकार के तत्व को वैधानिकता का जामा पहना कर प्रतिस्थापित किया जा रहा था वही दूसरी ओर गणतन्त्र, जिसे रोमिला थापर 'गणसंघ' कहती है, वंशानुगत विशेषाधिकारों का विरोध करते हुए गण में महत्त्वपूर्ण पदों हेतु स्वतन्त्र चुनावों का समर्थन किया जा रहा है।

सामाजिक तथा आर्थिक आधार

इस काल के लिए सामग्री के स्त्रोत उपलब्ध हैं उनका संबंध या तो पूर्वोत्तर अथवा पश्चिमोत्तर भारत से हैं। कुरू-पंचालों अर्थात् पश्चिमी उत्तर प्रदेश ने उत्तर वैदिककाल की राजनीति में अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी, किंतु इस काल में हमारे सारे सामाग्री स्त्रोत उसके संबंध में मौन हैं। इससे प्रकट होता है कि बुद्धकाल में वह अपना पहला महत्त्व खो चुका था। जैसा कि राजघाट (बनारस) तथा चिरांद (छपरा) के उत्खननों से प्रमाणित होता है, पूर्वी उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बिहार में इन दिनों लोहे का व्यापक उपयोग होता था। इसके फलस्वरूप बड़े-बड़े प्रादेशिक राज्यों की स्थापना हुई, जो सैनिक द ष्टि से भलीभाँति सज्जित थे और जिनमें मुख्य भूमिका क्षत्रिय वर्ग ने निभाई। खेती के नए औजारों और उपकरणों के कारण अब किसान अपनी जरूरत से इतनी अधिक पैदावार कर सकते थे जिससे न केवल शासकवर्ग की, बल्कि अनेक शहरों की आवश्यकताओं की भी पूर्ति हो सकती थी। उत्खननों से प्रकट होता है कि राजगीर, वैशाली, राजघाट, चिरांद और कौशांबी छठी शताब्दी ई.पू. की शहरी बस्तियां थे, यद्यपि श्रावस्ती इससे बाद के काल का नगर था। इस प्रकार 500 ई.पू. के आसपास हम पूर्वोत्तर भारत में बड़े पैमाने पर शहरी जीवन की शुरूआत देखते हैं। इन शहरों के कारण प्रशासन की नई समस्याएं पैदा हुई। इसके अलावा, इन भौतिक साधनों की सुलभता से उज्जैन, कोसल और मगध के विस्तार में सहायता मिली, और अब इन राज्यों में वैदिकोत्तर क्षेत्रों तथा लोगों का भी समावेश हुआ, जिससे इन राज्यों के निवासियोंक की एकरूपता में कमी आई। सिक्कों का चलन

पहलेपहल इसी काल में आरंभ हुआ। ये सिक्के तांबे या चांदी के बने होते थे। पांचवी सदी ई.पू. के आसपास से आहत मुद्राओं का चलन निश्चित तौर पर प्रारंभ हो गया। इससे स्वभावतः आंतरिक व्यापार और लेनदेन की सुविधा बढ़ी। बाजारों में बिकने वाली वस्तुओं में उत्तराखंड में प्राप्त हुए काले पालिशदार बर्तनों का प्रमुख स्थान था। स्पष्ट ही समाज के उच्च वर्गों में इस तरह के बर्तेनों के उपयोग का विशेष चलन था। व्यापार और उद्योग एक ओर तो राज्य की आय के अच्छे साधन थे और दूसरी ओर उनसे व्यापारियों के एक वर्ग का उदय हुआ तो सेट्ठि कहे जाते थे। समाज तथा राजनीति में इस वर्ग की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी।

राजतन्त्र शासन व्यवस्था

नई भौतिक तथा सामाजिक परिस्थितयों के कारण राज्य के सेना तथा कर व्यवस्था जैसे अंगों का तीव्र विकास हुआ। जिसने राजतन्त्र प्रशासन व्यवस्था को विस्थापित होने में मदद की। जातक कथाओं तथा अन्य स्त्रोतों से स्पष्ट हो जाता है कि ज्येष्ठाधिकार पर आधारित वंशानुगत राजतन्त्र का प्रचलन बुद्ध के समय तक हो चुका था। जैसा कि बी.जी. गोखले ने कहा है बुद्ध के समय में राजतन्त्र प्रमुख राजनीतिक संस्था थी.....स्वयं बुद्ध ने जिनका कि जनजातिय गणतन्त्रों के प्रति स्वाभाविक झुकाव था ने भी, कारण चाहे जो रहे हो, यह घोषणा की कि अराजगता की स्थिति में जाने से बचने के लिए राजतन्त्र अत्यन्त आवश्यक था।

राजा का शक्तिशाली बनना – इस काल के अधिकांश राज्यों पर-जिनमें मगध तथा कोसल सबसे शक्तिशाली थे-क्षत्रिय वर्ग के वंशानुगत राजाओं का शासन था। पाणिनि ने 'राजकृत्वा' (राजा बनाने वाला) शब्द का प्रयोग किया है, और कुछ जातक कथाओं में जनता द्वारा राजा तथा उसके पुरोहित के अपदस्थ और निष्कासित किए जाने का भी उल्लेख मिलता है, लेकिन राजा के निर्वाचन या उसकी पदच्युति के प्रसंग विरल ही आते थे। राजा को सबसे उच्च सामाजिक दर्जा प्राप्त था और स्वयं उसकी संपत्ति की सुरक्षा की विशेष व्यवस्था थी। वह केवल बुद्ध जैसे कुछ धार्मिक नेताओं के आगे सर झुकता था।

राज्य अधिकारियों की संख्या तथा महत्व में व द्धि – इस काल में हमें कुछ छोटे बड़े अधिकारियों की भी जानकारी मिलती है। प्रारंभिक पालि साहित्य में उच्चाधिकारियों को महामात्र कहा जाता था। महामात्र अधिकारियों का एक महत्त्वपूर्ण संवर्ग (काडर) था, जिसके सदस्य मंत्री, सेनानायक, न्यायाधीश, मुख्य लेखपाल (गणक), अंतःपुरः प्रधान आदि विभिन्न प्रकार के पदों पर काम करते थे। यद्यपि आयुक्तक आदि पदनामों का उल्लेख विधिग्रंथों में नहीं मिलता, लेकिन संभव है कि वे धर्मसुत्र व्यवस्था वाले राज्यों में ऐसे ही कार्य संपादित करते रहे हों।

राजा के मंत्रणादाताओं या मत्रियों का पद पहलेपहल इसी काल में देखने को मिलता है। जो तुलक के नाम से जाने जाते थे। मगध का वस्सकार और कोसल का दीर्घचारायण बड़े सफल और प्रभावशाली मंत्री थे। ऐसा कोई साक्ष्य नहीं मिलता जिससे माना जा सके कि उच्च अधिकारी या मंत्री राजा के गोत्र के होते थे। आरंभ से ही इन पदों पर पुरोहित समाज के लोग नियुक्त किए जाते थे।

अनुदान प्रथा - मगध और कोसल दोनों जनपदों में गांवों के राजस्व न केवल प्रभावशाली ब्राहमणों, बल्कि सेट्ठियों को भी अनुदान में दिए जाते थे। इसके लिए उत्तर वैदिककाल की तरह राजा को अपने गोत्र की सहमती नहीं लेनी पड़ती थी। लेकिन प्रशासनिक अधिकार, जो तीसरी या चौथी सदी से उत्तर भारत में अनुदान में दिए जाने लगे, अभी अनुदानभोगियों को प्रदान नहीं किए जाते थे।

ग्राम प्रधान का पद महत्त्वपूर्ण होना - देहाती क्षेत्रों के मामलों की व्यवस्था ग्रामप्रधान करता था। मूलतः जनजातीय सैनिक टुकड़ी का नेत त्व करने वाले ग्रामीण को उत्तर वेदिककाल के ग्रंथों में वैश्य ग्रामणी की संज्ञा दी गई। कालांतर से जब जनजातीय सैनिक टुकड़ियों गांवों में बस गई तो ग्रामीण स्वभावतः गांव का प्रधान बन गया। वास्तव में ग्राम प्रधान की अध्यक्षता में ग्राम संगठन की शुरूआत इसी काल में होती है। इस प्रधान को गामभोजक, ग्रामिण या ग्रामीणी, इन विभिन्न नामों से जाना जाता था। ऐसा उल्लेख मिलता है कि बिंबिसार ने एक बार 80,000 ग्रामिक को बुलाया था। यद्येपि अतिरंजना की संभावनाओं से युक्त रूढ़ की संख्या है, फिर भी इससे इस पद के व्यापक चलन तथा ग्राम प्रधान के महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है। इससे प्रकट

होता है कि उसका संबंध सीरधे राजा से होता था। स्पष्ट है कि ग्रामप्रधान का काम कर लगाना और वसूल करना और अपने क्षेत्र में शांति व्यवस्था कायम रखना था और गांव के लोग कभी-कभी अत्याचारी प्रधानों की अच्छी खबर भी लेते थे।

स्थायी सेना का बड़े पैमाने पर गठन - इस काल में राज्य की शक्ति में जो अभिव द्धि हुई, वह गैर सैनिक दायित्वों का निर्वोह करने वाले अधिकारी तंत्र में उतनी अधिक प्रतिबिंबित नहीं होती है जितनी कि एक ठोस आधार पर स्थायी सेना के गठन में। सेना को उत्तरोत्तर अधिक महत्त्व दिया जाता रहा था, इसका प्रमाण उच्चाधिकारियों की सूची में सेनानारयक को दिया गया महत्त्वपूर्ण स्थान है। सिकंदर के आक्रमण के समय गंगरिदई तथा प्रसाई के राजा -अर्थात् मगध के नंदराज-की सेना में 20,000 अश्वारोही, 20,000 पदाति, चार-चार घोड़ों से खींचे जाने वाले 2000 रथ तथा तीन से छः हजार तक हाथी थे। न केवल पूर्वोत्तर भारत में, बल्कि पश्चिमोत्तर भारत में भी जहां आर्यों ने पहलेपहल रथों का प्रयोग किया, इस युद्धयान का महत्त्व धीरे-ऋीरे कम होता जा रहा था।

मगध तथा पश्चिमोत्तर तथा भारत के सैन्ययसंगठन में सबसे प्रमुख अंतर हाथियों के उपयोग के संबंध में था। ा पश्चिमोत्तर भारत के सैन्यसंगठन में सबसे प्रमुख अंतर हाथियों के उपयोग के संबंध में था। पश्चिमोत्तर भारत की सेना में हाथियों का अनुपात बहुत कम होता था। जहां तक घुड़सवारों का संबंध है, अस्सकेनस (स्वात तथा बूनर के कुछ भाग) के राजा के पास 20,000 अर्थात् उतने ही अश्वारोही थे जितने कि मगधराज की सेना में थे। इसलिए स्पष्ट है कि हाथियों की संक्ष्या की अधिकता की द ष्टि से मगध की सैन्यशक्ति अधिक प्रबल थी।

सुद ढ़ कराधान व्यवस्था - मगध की सेना का संगठन कैसे किया गया था और उसका खर्च कैसे चलता था, यह जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। स्पष्ट है कि इस विशाल स्थायी सेना का खर्च नंदों के उस विपुन धन से चलता था जिसके लिए वे कथा कहानियों और अनुश्रुतियों में विख्यात हैं। लेकिन जिस कर प्रणाली से उन्होंने अपने कोष को इस तरह पुष्ट किया था उसकी जानकारी हमे नहीं है। निस्संदेह, राजस्व व्यवस्था अब सुद ढ़ आधार पर स्थापित हो चुकी थी। क्षत्रिय और ब्राह्मण कर देने के दायित्व से मुक्त थे और इसका सारा बोझ किसानों पर पड़ता था, जिनमें मुख्यतः वैश्य लोग शामिल थे। बदले मूलतः एक स्वैच्छिक कर था लेकिन अब अनिवार्य हो गया साथ ही भाग तथा कर जैसे नए कर लगाए गए। गंगा की घाटी सम द्ध कृषक भूस्वामियों के नए वर्ग के उदय से राजस्व की आय व द्धि में सहायता मिली।

गौतम के साक्ष्य के अनुसार देखें तो मानना होगा कि आरंभ में उपज का बाहरवां हिस्सा राजा का अंश होता था, लेकिन बाद में यह छठे हिस्से पर आकर स्थिर हो गया। शूद्रों की श्रमशक्ति का उपयोग उच्च वर्ण के लोग एक प्रकार के कर के रूप में करते थे। करों की उगाही ग्राम प्रधान की सहायता से राजा के ऐजेंट करते थे। आहत सिक्कों के बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त होने से लगता है कि कर मदक और जिस दोनों रूपों में चुकाये जाते थे। बौद्धग्रंथों से जान पड़ता है कि पूर्वोत्तर भारत में कर धान्य के रूप में चुकाया जाता था। किसानों से राजा के कामकाज के लिए बेगार भी ली जाती थी।

किसानों से उत्तर वैदिककाल से ही कर लिए जा रहे थे; पर अब कर व्यवस्था सुद ढ़ हो गई और नए करदाता भी सामने आए। ये थे कारीगर और व्यापारी। विधिग्रंथों के अनुसार कारीगरों को महीने में एक दिन राजा के लिए काम करना पड़ता था, और व्यापारियों को अपनी वस्तुओं की बिक्री पर शुल्क देना पड़ता था। इन शुल्को की वसूली शुल्क अधिकारी करते थे, जिन्हें धर्मसुत्रों में शौल्किक और पालि ग्रंथों में शूल्काध्यक्ष कहा गया है। यह नई चीज शहरी अर्थव्यवस्था के कारण आयी।

न्याय व्यवस्था - भारतीय विधि एवं न्याय-प्रणाली का जन्म इसी काल में हुआ। समाज के सुस्पष्ट वर्गों अथवा वर्णों में विभाजित हो जाने से जो समस्याएं उपस्थित हुई थीं उनके निराकरण की द ष्टि से पुराना जनजातीय कानून अपर्याप्त पाया गया। इसलिए धर्मसूत्रों ने चारों में से प्रत्येक वर्ण के कर्त्तव्य निर्धारित कर दिए, और वर्णविभाजन को ही आधार बनाकर बहुत से सिविल (दीवानी) तथा आपराधिक दंडविधानों की रचना की। दीवानी कानून के अमल का दायित्व व्यावहारिक महामात्रों पर था और दंडविधान का राजा के एंजेंटों पर। अपराधियों को आनन फानन सजा सुना दी जाती थी और ये सजाएं बड़ी कठोर होती थी। जैसे- कोड़े लगाना, शरीर का कोई अंग दाग देना, शिरोच्छेद कर देना, जीभ काट लेना, पसलियां तोड़ देना आदि। व्यक्ति तथा संपत्ति के विरूद्ध किए जाने वाले अपराधों की रोकथाम के लिए पुलिस संगठन और दंडाधिकरण (मजिस्ट्रेसी) कायम किया गया था; वह अपरिष्कृत और प्रारंभिक ढंग का जान पड़ता है। ग्रामप्रणान राजस्व की उगाही तथा आंतरिक सुरक्षा, दोनों दायित्वों का निर्वाह करते थे।

लेकिन इस नई व्यवस्था ने पुराने पारिवारिक तथा जनजातीय कानून को सर्वथा समाप्त नहीं किया, यद्यपि कई द ष्टियों से इसके सामने उसका महत्त्व सर्वथा गौण हो गया। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणीय समाज व्यवस्था तथा राजतंत्री शासन-परिधि में जिन अवैदिक जनजातीय समुदायों तथा क्षेत्रों को शामिल किया गया उनके विषय में एक ओर तो फर्जी तौर पर यह बताया गया कि वे मूलतः ब्राहमण-परंपरा वाले समाज के ही अंग है और दूसरी ओर उन्हें अपने समाज का नियमन अपने उन पुराने रीतिरिवाजों के अनुसार करने की छूट दी गई जिनमें से कुछ 'बौधायन धर्मसूत्र' में उद्ध त किए गए हैं।

सभा समिती के स्थान पर अब मन्त्रि परिषदः इस काल के राजतत्रों को 'सभा' और 'समिति' की सहायता सुलभ नहीं रह गई थी। अतः अब ये दोनों संस्थान विलय होती नजर आ रही थी कारण ये संस्थाएं तत्वतः जनजातीय थीं, इसलिए जब जनजातीय वर्णों मं विघटित होकर अपनी पहचान खो बैठीं तो इन संस्थाओं का भी ह्रास हुआ और अंत में ये मिट गई। यह प्रक्रिया वैदिककाल के अंतिम चरण से ही, आरंभ हो गई थी। कोसल और मगध जैसे बड़े राज्यों के उदय तथा संचार की कठिनाई के कारण इन सभाओं की नियमित बैठक असंभव हो गई। उनके स्थान पर अब धर्मसूत्रों ने परिषद् नामक एक नए और बहुत छोटे निकाय की व्यवस्था की, जिसके सदस्य केवल ब्राह्मण ही हो सकते थे। सभाएं थीं अवश्य, लेकिन शाक्यों, लिच्छवियों आदि के अपेक्षाकृत छोटे गणराज्यों में।

बुद्ध काल में गणराज्य की प्रशासन व्यवस्था

गणतांत्रिक प्रयोग बुद्धकालीन राज्यव्यवस्था की खास विशेषता है। राइस डेविडस के अनुसार भीं बुद्ध कालीन भारत में अनेक स्थानों पर गणतन्त्रात्मक पद्धति अस्तित्व में भी। इन गणतन्त्रों का उदय या तो सिन्धु घाटी में या हिमालय की तराई में उत्तर प्रदेश तथा बिहार में हुआ। आर. एस. शर्मा के अनुसार सिंधु घाटी के गणतन्त्र वैदिक जनजातियों के अवशेष रहे हो, यद्यपि लगता है, कहीं-कहीं जनजातिय व्यवस्था और गणतन्त्र के बीच कुछ माल तक राजतन्त्र का भी दौर रहा हो। हिमालय की तराई वाले गणतन्त्र, आर. शर्मा के अनुसार, उत्तर प्रदेश और बिहार से टूटकर अलग राज्यों में कायम हुए हो और हो सकता है कि उनके अलग होने के पिछे उस पुरानी जनजातिय समानता की प्रेरणा रही हो जो राजा को विशेष महत्व देने को तैयार नहीं थी।

गणतन्त्रों की शासन प्रणाली अर्थात् कार्य प्रणालीः सभी गणतन्त्रों में सत्ता कुछ थोड़े से जनजातिय अगुओं के हाथों में थी अर्थात् उनमें अल्पतन्त्र का शासन था। इस शासक वर्ग में वर्ण तत्वों का समावेश हो गया था। शाक्यों तथा लिच्छिवियों में शासक वर्ग का एक गौत्र और एक ही वर्ण था। इस गणतान्त्रिक सभाओं में ब्राह्मण भी बैठते हो इसमें पूर्ण संदेह है हालाँकि मौर्यत्तर काल में मालवों तथा क्षुद्रकों के गणतन्त्रों में ब्राह्मण भी बैठते थे। किन्तु गुलाम व भाडे के मजदूरों को कोई स्थान प्राप्त नहीं था। सिकन्दर के साथियों ने ब्यास पार पर एक ऐसा राज्य भी देखा था। जिसके सदस्य वही लोग हो सकते थे जो राज्य को कम से कम एक हाथी दे सकते थे।

शक्यों तथा लिच्छिवियों का प्रशासनिक तन्त्र सरल तथा अविकसित था। उसमें राजा, उपराजा, सेनापति भंडागारिक यही अधिकारी होते थे। बुद्ध कालीन गणतन्त्रों को अराजक राज्यों की श्रेणी में रखा जाता है। यद्यपि उनके संविधान तथा शासन संगठन के विषय में प्रमाणों के अभाव में विस्त त जानकारी का अभाव है परन्तु फिर भी विभिन्न काल तथा प्रदेशों के विविध गणतन्त्रों के सम्बन्ध में इधर उधर बिखरे प्रमाणों को एकत्रित कर कुछ इतिहासकारों ने उनके विधान व कार्यप्रणाली का ब्यौरा तैयार करने का प्रयत्न किया है।

जिसके अनुसार इन गणतन्त्रों की शासन-व्यवस्था सभा अथवा परिषद के माध्यम से चलाई जाती थी जो शासन संबधित प्रश्नों पर वाद- विवाद के पश्चात् निर्णय लेने के अधिकार से युक्त थी। प्रशासकीय अधिकार मुखिया अर्थात् राजा के हाथ में होता था जो युद्ध के समय सेनापति के दायित्व का निर्वाह करते थे। इन गणतंत्रों के आकार भी भिन्न थे यथा मोरिय, कोलीय और शाक्य छोटे-छोटे कुछ गांवों से मिलकर बने थे जबकि लिच्छवी, यौधेय, मालव आदि गणराज्य सैंकडों ग्रामों और दर्जनों नगरों के निवासी के स्वामी थे।

जातकों में शासकों का गणशासक अर्थात् प्रजातंत्री शासक कहा गया है। इन गणतंत्रों के शासन का सर्वोच्च अधिकार केन्द्रिय समिती के हाथों में था, जिसमें बड़ी संख्या में सदस्य होते थे। उदाहरणार्थ यौधेयों की समिती में 5,000 और लिच्छिवियों की

समिती में 7,707 सदस्य थे। इन सदस्यों में राजा, उपराजा, सेनापति और भांडागरिक आदि का भी उल्लेख मिलता है। वैसे शासन सत्ता 7707 सदस्यों के ही हाथ में थी, इनमें से प्रत्येक शासक (राजा) होने का अधिकारी था और उनमें से ही ऊपरवर्णित राजा, उपराजा, सभापति, उपसभापति, सेनापति और भाण्डागारिक बनते थे जो प्रमुख शासनाधिकारी थे। इस प्रकार प्रत्येक सदस्य शासन की एक प्रमुख इकाई था। यहाँ विशेष तौर पर उल्लेखनीय तथ्य यह है कि प्रत्येक सदस्य अपनी वंशपरम्परा से समिती की सदस्यता का अधिकारी था और इसी स्वाभिमानवश वे अपने प्रतिनिधी भी नहीं रखते थे। गणराज्यों का भी राज्याभिषेक होता था।

जायसवाल का मानना है कि कुछ गणतंत्रों में व्यवस्थापिका सभा के दो भाग अमीर सभा व सामान्य सभा होते थे। सिकंदर के साथ आए ग्रीक लेखकों ने भी कुछ गणराज्यों में व द्धों की परिषद् का उल्लेख किया। परन्तु सदाशिव अल्तेकर 'दो सभाओं' अथवा 'एक सभा के दो भागों' के अस्तित्व को असंभव मानते हुए यह मत व्यक्त करते हैं" केन्द्रिय सभा में सिर्फ उच्च वर्ग के लोग रहते थे, उनको अपने कुल के कारण अत्यधिक स्वाभिमान व गर्व था।" अतः वे अपने से श्रेष्ठ सभा की कल्पना कदापि सहन न करते। जिन 'व द्धों' या 'अंगुओं' की सलाह पर अंबष्ठों ने सिकंदर की अधीनता स्वीकार की वह बमीर सभा के सदस्य नहीं वरन समाज के वयोव द्ध और अनुभवी लोग थे।"

सभा का कार्य क्षेत्र/कार्यप्रणाली

इन गणतांत्रिक सभाओं में राजनैतिक, व सैनिक विषयों तथा विदेश नीति एवं संधि विग्रह आदि के कार्य तो निपटाए जाते थे, साथ ही कृषि तथा व्यापार संबंधी विषयों पर भी वाद-विवाद एवं विचार विमर्श होता था। सभा स्थल को 'संथागार' कहा जाता था और संस्थागारों में गोष्ठियों का भी आयोजन होता था जिनमें सामाजिक एवं धार्मिक विषयों पर चर्चा होती थी। इन अवसरों अर्थात् सामाजिक एवं धार्मिक चर्चाओं के समय सामान्यतः सभाएं शांतिपूर्ण होती थी परंतु महत्त्वपूर्ण राजनैतिक विषयों पर विचार के समय ईर्ष्या-द्वेष एवं दलबन्दी स्पष्टतः देखी जा सकती थी। बौद्धग्रंथों व महाभारत में दलबंदी का कारण पद-लोलुपता बताया गया है जो कालांश में इन सभाओं की दुर्बलता का कारण भी बना।

सदस्यों के बैठने का स्थान निर्धारित करने के लिए भी कर्मचारी नियुक्त थे। गणप्रमुख अधिवेशन के अध्यक्ष के रूप में सभा की कार्यवाही का संचालन व नियंत्रण करते थे। जरां भी पक्षपात होने पर उन्हें भारी आलोचना का सामना करना पड़ता था। सभा में किसी भी विषय से संबंधित प्रस्ताव पहले औपचारिक रूप से देखा जाता था फिर उस पर वाद-विवाद होता था। सभी को प्रस्ताव पर बोलने व अपना मत प्रकट करने का समान अधिकार था। जब मतभेद दिखाई देते, तभी मत लिए जाते थे तथा बहुमत का निश्चय मान्य होता था। उदाहरणार्थ कौशलों द्वारा शाक्यों को घेर लिए जाने एवं कौशलाधिपति द्वारा दुर्ग के फाटक खोलने की चेतावनी दिए जाने पर शाक्यों की सभा की बैठक बुलाई गई। कुछ द्वार खोलने के पक्ष में थे तो कुछ विरोध में। अंततः मत-संग्रह करने पर ज्ञात हुआ कि बहुमत समर्पण के पक्ष में है और वही निर्णय लिया गया। आदर्श गणराज्यों में मत लेने की परिस्थिति उत्पन्न नहीं होती थी यथा लिच्छवि संघ की सभा में भी वाद-विवाद के पश्चात व द्धों की सलाह से निर्णय ले लिए जाते थे। गणपूर्ति के लिए निश्चित संख्या का उल्लेख इन सभाओं की कार्यवाही संबंधी विवरणों में नहीं मिलता तथापि जिस सभापद के आने से गणपूर्ति होती थी, उसे 'गणतिय' या 'संघतिय' कहते थे तथा गणपूर्ति के लिए जो आवश्यक कार्य करता था उसे ''गणपरक'' कहते थे।

मतदान प्रत्यक्ष (वितरक) अथवा अप्रत्यक्ष (गुह्यक) होता था। कभी-कभी सदस्य मत संग्रह करने वाले के कान में अपना मत प्रकट करते थे जिसे 'संकर्णपक' मतदान कहते थे। बौद्ध संघों में प्रचलित मतदान पद्धति से यह ज्ञात होता है कि मतदान के पूर्व प्रत्येक सदस्य को पूर्व संकेत के अनुसार अलग-अलग रंग की "शलाकाएं" (मत-पत्र) विभिन्न मतों की अभिव्यक्ति के लिए दी जाती थी जो "शलाका ग्राहक" एकत्र करता था। ये तथ्य, निश्चय ही विकसित प्रजातांत्रिक लक्षणों की ओर संकेत करते हैं।

गणतंत्रों में शासकीय कार्यों की देख-रेख के लिए 'मंत्रिमंडल' के अस्तित्व के भी संकेत मिलते हैं जिसके सदस्यों की नियुक्ति केन्द्रिय सभा ही करती थी। मंत्रिमंडल में कितने मंत्री होते थे तथा मंत्रीपद के लिए कौन प्रत्याशी हो सकते थे, इस विषय में सुनिश्चित जानकारी का अभाव है तथापि अल्तेकर का मत है कि "राज्य के आकार और परंपरा के अनुसार मंत्रियों की

संख्या में अंतर होता था। मल्ल राज्य के मंत्रिमंडल में केवल चार सदस्य थे, इससे बड़े लिच्छवी राज्य में नौ मंत्री थे.....लिच्छवि विदेह 'राज्य संघ' की मंत्रिपरिषद में 18 सदस्य थे। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गणतंत्रों में मंत्रिमंडल के सदस्यों की संख्या 4 से 20 तक रहती थी।

मंत्रीमंडल का प्रधान/प्रमुख गणाध्यक्ष अथवा राजा होता था जो सभा का भी अध्यक्ष अथवा सभापति होता था। उसका मुख्य कार्य शासन कार्य की देखरेख के साथ ही गण की एकता को बनाए रखना तथा झगड़ों का निवारण करना था। प्रत्येक विभागाध्यक्ष के अधीन विभिन्न श्रेणी के अधिकार काम करते थे। श्रेणियों की विविधता राज्यों के आकार पर निर्भर करती थी यथा शाक्य, कौलिय इत्यादि छोटे-छोटे राज्यों के अधीनस्थ अधिकारी सीधे विभागाध्यक्ष से संबंध रखते थे जबकि बड़े राज्यों में अनेक श्रेणियां उनके मध्य होती थी।

न्यायिक व्यवस्था

लिच्छवि गण से संबंधित जानकारी में उपलब्ध वहां की न्यायिक व्यवस्था व न्यायिक प्रक्रिया संबंधी जानकारी से गणराज्यों की न्याय-संबंधी संस्थाओं के विषय में जानकारी भी प्राप्त होती है। यद्यपि राजा का सर्वप्रधान न्यायकर्त्ता होता था, तो भी न्याय हेतु एक अलग विभाग का उल्लेख मिलता है जिसका एक मंत्री होता था। उसके अधीन 'वोहारिक', व 'अष्टकुलक' इत्यादि न्यायालयों की श्रंखलाएं भी थीं जिनकी न्याय-प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। जातक 'अट्ठकथा' से विदित होता है कि अपराधी न्यायिक परीक्षा के लिए पहले 'विनिच्चय महामत' नामक अधिकारी के पास भेजा जाता था, यहां मुकद्दमों की प्रारंभिक जांच की जाती थी। यदि वे अपराधी होता तो स्वयं उसे दंड नहीं दे सकते थे। इसके लिए उन्हें उसे 'वोहारिक' यानि उच्चतर न्यायालय में भेजना पड़ता था। इनमें न्यायाकर्ता वोहारिक अर्थात् व्यावहारिक कानून से ज्ञाता होते थे। यहां भी दोषी सिद्ध होने पर अभियुक्त को अगले उच्चतर न्यायालय - 'सुत्तधर' (सुत्रधर) भेजा जाता था। यहां के न्यायधीश सूत्रधर अर्थात् व्यवहार शास्त्र आचार्य कहलाते थे। यहां भी दोषी सिद्ध होने पर अपराधी "अष्टकुलक" अर्थात् आठ सदस्यों के न्यायालय में अपील कर सकता था। ऊपरवर्णित सभी न्यायालय अपने से नीचे वाले न्यायालयों से बड़े हुआ करते थे। इनमें से कोई भी अपराधी/अभियुक्त को निर्दोष सिद्ध कर उसे मुक्त करने का अधिकारी था परंतु अभियुक्त को दंड तभी दिया जा सकता था जब संपूर्ण सभा भी उस पर विचार कर लेती और राजा, उपराजा तथा सेनापति तीनों अलग-अलग और एकमत होकर दंड की स्वीकृति दे देते। इस प्रकार गणराज्यों की न्याय-प्रक्रिया भी एक विकसित सभ्यता तथा प्रत्येक 'नागरिक' की महत्ता की ओर स्पष्ट संकेत करती है।

'महापरिनिब्बान सुत्तंत' में वज्जि संघ की कार्यप्रणाली के विषय में बुद्ध के उपदेश एक लोकतांत्रिक संविधान की सफलता हेतु अनिवार्य परिस्थितियों का स्पष्ट वर्णन तथा बौद्धकालीन गणराज्यों के सामान्य स्वभाव का परिचायक प्रतीत होते हैं जिसके अनुसार आदर्श गणराज्य वह है जहाँ जल्दी जल्दी और पूरी-पूरी जनसभाएं होती है; गणराज्यक लोग एकमत होकर उन्नति हेतु राज्य के प्रति कर्तव्यों का पालन करते हैं पूर्व-प्रचलित तथा स्थापित नियमों के अनुसार कार्य करते हैं, व द्धों का आदर सत्कार और मान करते हैं, उनकी बात सुनना अपना कर्तव्य समझते है, उनकी आज्ञाओं का पालन करते हैं; अपने समाज की स्त्रियों और बालिकाओं के प्रति बल प्रयोग नहीं करते; अपने धर्म में द ढ़ निष्ठा रखते हैं; तथा अपने अर्हता का उचित रक्षण और पालन करते हैं।

गणतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था तथा राजतन्त्र राज्य व्यवस्था में अन्तर

आर.एस. शर्मा ने बुद्धकालीन गणतन्त्रों तथा राजतन्त्र प्रशासन प्रणाली का तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर इन दोनों प्रशासन प्रणालियों की कार्यप्रणाली का अन्तर दर्शाने का प्रयत्न किया है। गणतन्त्रों और राजतंत्रों में अनेक अंतर थे।

1. मगध तथा कोसल में राजा अपने को किसानों से राजस्व प्राप्त करने का एकमात्र अधिकारी मानता था, लेकिन गणतंत्रों में यह दावा जनजातिय अल्पतंत्र का प्रत्येक सदस्य करता था। ०7707 लिच्छवी राजाओं में से प्रत्येक अपने को राजस्व का अधिकारी मानता था। राजस्व एकत्र करने के लिए प्रत्येक का अपना एक भंडार होता था। एक जातक के अनुसार चेत राज्य की राजधानी के 60,000 खत्तियों के साथ भी शायद यही बात रही हो। इनमें से प्रत्येक खत्तिय राजा कहलाता था।

2. इसी तरह, राजतंत्र में राजा की अपनी नियमित और स्थायी सेना होती थी, जिसमें वह अपनी राज्य सीमा के अंतर्गत स्थित सशस्त्र प्रतिद्वंद्वियों या स्पर्धियों को स्थान नहीं देता था; लेकिन जनजातिय अल्पतंत्र के प्रत्येक राजा के पास एक छोटी सी सेना होती थी जो उसके सेनापति के अधीन काम करती थी, अथवा प्रत्येक के पास कुछ हाथी होते थे। हर राजा अपनी इस स्थिति से प्रसन्न था और ऐसे सभी राजाओं में आपस में एक स्वस्थ प्रतियोगिता का भाव होता था।
3. प्रारंभिक गणतंत्रों में ब्राह्मणों के लिए कोई स्थान नहीं था, और न ब्राह्मणों ने ही अपने विधि ग्रंथों में उन्हें कोई मान्यता दी।
4. दोनों तंत्रों के बीच एक बड़ा अंतर यह था कि जहां गणतन्त्रों में सभाएं बखूबी अपना काम कर रही थी, नए राजतन्त्रों में उनका ह्रास और लोप हो चुका था।

डी.एन.झा ने बुद्धकालीन गणतन्त्रों की आलोचना करते हुए कहा है कि इनकी सच्चाई तो यह है कि सदन पर अल्पतन्त्र के सदस्यों का वर्यस्व होता था। सदन के सदस्य मुख्य रूप से क्षत्रिय वर्ण के लोग होते थे और कम से कम लिच्छवियों के मामले में तो स्पष्ट है कि अधिकांश गैरक्षत्रियों, गुलामों और मजदुरों को सदन में कोई स्थान प्राप्त नहीं था इससे स्पष्ट है कि गणतान्त्रिक प्रणाली मूलतः अल्पतान्त्रिक थी। अभिजात परिवारों (राजकुलों) के बढ़ाये सदस्य सदन के मुख्य हस्ती होते थे और ये राजा की उपाधी धारण करते थे। गणतन्त्र के अधिकारियों के भी वह पदनाम होते थे जो कि राजतन्त्र के अधिकारियों के होते थे। उदाहरण के लिए महामत्त और अमच्च आदि। इससे स्पष्ट है कि वदोत्तर काल के गणतंत्र समकालीन राजतन्त्रों से बहुत प्रभावित थे।

झा के अनुसार गणराज्य की सरकारें भी अपने आदेशों तथा विधानों के जरिए जैसा कठोर नियन्त्रण रखती थी उससे उनके अलोकतान्त्रिक स्वरूप झलकता है जैसे बुद्ध की पावा नगरी की यात्रा के दौरान मल्लों ने एक आदेश जारी किया कि बुद्ध का सार्वजनिक स्वागत होना चाहिए और इस आदेश को लागू करने में चूक करने वाले लोगों पर भारी जुर्माने ठोंके। यदि जातक कथाओं पर भरोसा किया जाए तो शाक्यों ने अपने से निम्न माने जाने वाने कुलों के राजाओं तक के साथ अपनी कन्याओं के विवाह पर रोक लगा रखी थी। समाज के अलग अलग सदस्यों के निजी और पारिवारिक जीवन को नियन्त्रित करने के लिए 'गणतात्रिक' राज्यों द्वारा बनाए गए नियम ब्राह्मण धर्मशास्त्रकारों द्वारा विकसित नियमों से बेहतर नहीं थे। डी.एन.झा. के अनुसार बुद्धकालीन गणतन्त्र 'विकृत गणतन्त्रों' के स्तर से ऊपर नहीं उठ पाए। इसीलिए मगध ने उन सब को अपना ग्रास बना लिया।

यद्यपि यह सही है कि लोकतन्त्र के आधुनिक अर्थ में इन राज्यों को लोकतान्त्रिक अथवा गणतान्त्रिक नहीं कहा जा सकता परन्तु यह निःसन्देह कहा जा सकता है ये शासन तन्त्र राजतन्त्र से भिन्न था। इनमें शासनसूत्र एक वंशानुगत तौर पर मनोनित या नियुक्त शासक के हाथ में न होकर, एक गण समूह के हाथों में था, जो राजतन्त्र के मुकाबले, बहुत सी खामियों के बावजूद, लोकतान्त्रिक व्यवस्था थी।

(ख) मौर्ययुगीन राज्य

अध्याय—5

सामाजिक-आर्थिक आधार

(Socio-Economic Basis)

सामाजिक-आर्थिक आधार; प्रकृति एव्म प्रशासन व्यवस्था; सिद्धांत एवं व्यवहार

(Socio-Economic Basis, Nature, & Administration Theory & Practice)

भारतीय सभ्यता के इतिहास मे प्रथम व हद् एवं संगठित राजतन्त्रात्मक सम्राज्य मौर्ययुगीन राज्य (320_ई. पू.-185 ई. पू.) को कहा जा सकता है। मौर्ययुगीन साम्राज्यवादी व्यवस्था भारतीय राजनीतिक इतिहास की एक नवीन विशिष्टता थी।

मौर्य राज्य की प्रकृति एव्म प्रशासन व्यवस्था (सिद्धान्त एवम् व्यवहारिकता)

केन्द्रीकृत नौकरशाही का काल

चंद्रगुप्त मौर्य द्वारा विजित व प्रशासित राज्य एक व हद साम्राज्य था जिसकी सीमांए उत्तर में फारस से सुदूर दक्षिण तक फैली थीं। स्वयं अशोक के शिलालेखों में उसकी विशाल विजित प थ्वी की सीमाएं दक्षिण में चोल, पाण्डया, सतियापुत्र, केरलपुत्र तथा ताम्रपर्णी अर्थात श्रीलंका तक और उत्तर में यवन राजाओं तक उल्लिखित हैं।

मौर्य राज्य के विषय में पर्याप्त जानकारी कौटिल्य के अर्थशास्त्र, मैगस्थनीज़ की इंडिका तथा अशोक के शिलालेखों से प्राप्त होती है। यद्यपि कुछ भारतीय इतिहासकार अर्थशास्त्र को 'सैद्धांतिक एवं आर्दशवादी विचारों पर आधारित ग्रंथ कहते हुए उसकी विश्वसनीयता पर प्रश्न-चिन्ह लगाने का प्रयास करते है परंतु वही यह भी स्वीकार करते हैं कि शासन-काल का प्रथम प्रमुख ग्रंथ वही है और उसकी उप-कल्पनाओं को समझना इस युग की राजनीति को समझने के लिए आवश्यक है। वस्तुतः कौटिल्य के अर्थशास्त्र का ऐतिहासिक महत्व इस द ष्टि से ओर बढ़ जाता है कि वे प्रथम मौर्य शासक चंद्रगुप्त के प्रधानमंत्री, राजगुरू व राजनीतिक सलाहकार भी थे। उनका यह राजनीतिक अनुभव अर्थशास्त्र में उल्लिखित प्रशासनिक तंत्र की सूक्ष्म व व्यवहारिक जटिलताओं के विस्त त वितरण में भी प्रतिबिंबित है। यद्यपि अनेक स्थलों पर यह संभावना है कि कौटिल्य चंद्रगुप्त के लिए आदर्श अथवा निर्देश दे रहे हों, तो भी उसे समझना व प थक रखना कठिन नहीं है और यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि कौटिल्य ने अपनी राजनीतिक अवस्थिति को देखते हुए इन आदर्शो को व्यवहारिक रूप देने का प्रयास भी अवश्य किया होगा। साथ ही, यूनानी स्त्रोंतो द्वारा दिए विवरण व अशोक के शिलालेखों के साथ अर्थशास्त्र में उल्लिखित प्रशासनिक व्यवस्था का विश्लेषण करने पर मौर्ययुगीन राज्य के विषय में जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

राजा के अधिकार एवम् कर्तव्य

मौर्य काल से पूर्व भारत जनपदों, महाजनपदों व गणराज्यों में विभाजित था जिन्हें जीत कर ही मौर्य शासकों ने अपना साम्राज्य स्थापित किया। इस साम्राज्य-निमार्ण व विस्तार का केंद्र बिंदु राजा था। जिसने सेना, कोष, दुर्ग आदि की व्यवस्था कर अपनी शक्ति का विस्तार किया था। अतः उसमें राज्य की केंद्रीभूत शक्ति संकेद्रित थी। यह तथ्य प्रथम मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त के प्रधानमंत्री कौटिल्य द्वारा दी गई इस अवधारण में प्रदर्शित है

'राजा राज्य है,' यही संक्षेप में उसकी प्रकृति है। इस वर्णन से यह भी संकेत मिलता है कि प्राचीन काल में वर्णित राज्य के सात तत्वों में राजा सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व बन कर उभरा।

मौर्य-काल में राज्य का सप्तांग सिद्धांत कौटिल्य के दर्शन में पूर्णतः प्रतिफलित हुआ। इन सात अंगों में स्वामी, अमात्य, ज़नपद, दुर्ग, कोष, दंड, और मित्र थे। कौटिल्य ने सातों अंगों की महत्ता तथा प्रत्येक के अनवार्य गुणों पर भी विस्तार से प्रकाश डाला है। इनमें से स्वामी का केंद्रीय अथवा सर्वोच्च स्थान माना गया।

कौटिल्य द्वारा वर्णित राजा की शक्ति अथवा स्थिति से भी यह स्पष्ट होता है कि संपूर्ण शासन-व्यवस्था राजा के आसपास घूमती थी, वह प्रभुसत्ता का नैतिक व कानूनी मूर्त रूप था, वह मुख्य कार्यपालिका अध्यक्ष था, वही सेना का अध्यक्ष था राज्य का प्रशासन पूर्णतः उसके विवेक पर निर्भर करता था और न्यायिक प्रशासन के क्षेत्र में भी सर्वोच्च अधिकारी वही था। कौटिल्य के अनुसार 'मंत्री, पुरोहित आदि भ त्य वर्ग की और शासन के विविध अध्यक्षों व अमात्यों की नियुक्ति राजा ही करता है, यदि राज पुरूषों, कोष तथा जनता पर कोई विपत्ति आए तो उसका प्रतिकार भी राजा द्वारा ही किया जाना चाहिए। इन सब की उन्नति भी राजा के हाथों में होती है। यदि राजा संपन्न होगा, तो उसकी प्रजा उसकी सम द्धि द्वारा संपन्न होगी, राजा का जो शी (चरित्र) होगा, वही प्रजा का भी होगा। यदि राजा उद्यमी तथा उत्थानशील होगा तो प्रजा भी उत्थानशील होगी और यदि राजा प्रमादी (आलसी) होगा तो प्रजा भी प्रमादी होगी। इस प्रकार राज्य में राजा ही कूटस्थानीय (केंद्रीय सत्ता) है।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राजा के कर्तव्यों का आभास कराते हुए लिखा है कि राजा का प्रथम कर्तव्य प्रजा को प्रसन्न रखना है और जो राजा ऐसा कर पाता है, उसे न तप करने की आवश्यकता है और न यज्ञ करने की। प्रजा को प्रसन्न रखने के लिए आवश्यक है कि राजा चोरों, बेईमान व्यापारियों, डकैतों, हत्यारों भ्रष्ट कर्मचारियों, असामाजिक तत्वों, तथा अग्नि, जल, बीमारी, दुर्भिक्ष, चूहे, व्याघ्र, सांप और राक्षसों से प्रजा की रक्षा कर, दुष्टों का दमन करें, अपराधियों को दंड दे, बाह्य आक्रमणों से बचाव करे, राज्य की सीमाओं का विस्तार करे, सेना का संगठन करे, अस्त्र-शस्त्रों का समुचित भंडार रखें, धर्म की स्थापना व रक्षा करे, प्रजा से स्वधर्म का पालन कराए, अनाथ और असहाय प्रजाजनों का भरण पोषण करे, निर्बलों की सहायता करे, कृषि के विकास के लिए बांधों का निर्माण करे, निर्बलों की सहायता करें, शिक्षा व कला का विकास करे, राज्य में शांति और व्यवस्था बनाए रखें, कानूनों का पालन करवाए; न्यायालयों की स्थापना करे व न्याय प्रदान करे, लोकहित में ऊपर लिखित कर्तव्यों के संपादन के लिए कर संग्रह करें व उन करों को जन-कल्याण पर ही व्यय कर, प्रजा की आर्थिक सम द्धि हेतु कृषि, उद्योग तथा व्यापार को प्रोत्साहन दे; तथा निरंतर क्रियाशील रहते हुए प्रजा के योग-क्षेम की व्यवस्था करे।

कौटिल्य के वर्णन तथा अशोक के अभिलेखों के विश्लेषण से यह बात स्पष्ट होकर उभरती है कि परम शक्तिशाली होते हुए भी मौर्ययुगीन राजा प्रजा-वत्सल था। प्रातः 1.30 बजे से रात्रि 10.30 तक राजा कार्यों मे व्यस्त रहता था। जिनका मूल मंत्र प्रजा का हित था जो राजा एक पिता की तरह पूर्ण करने का प्रयास करता था। अशोक के अनुसार भी, "सब जन मेरे बच्चों की तरह हैं ओर उनके पिता के समान ह मैं उनके लिए इस विश्व में और अगले विश्व में भी संपूर्ण प्रसन्नता की कामना करता हूँ।"

मौय काल में प्रथम बार राजा विधि व न्याय का स्त्रोत बन कर उभरा कौटिल्य के अनुसार 'शास्त्र' व 'न्याय' अथवा विवेक में संघर्ष की स्थिति में विवेक को प्राथमिकता दी जानी चाहिए क्योंकि शास्त्र समय बीतने के साथ भ्रष्ट अथवा निरर्धक हो सकते हैं। उनका निहितार्थ यह भी निकलता है कि 'राजाज्ञा' सर्वोच्च है और धर्म, सामाजिक व्यवहार और निजी समझौतों के साथ संघर्ष की स्थिति में राजाज्ञा को प्राथमिकता दिया जाना आवश्यक है। इस युग में राजा के कुछ विशेषधिकार भी स्पष्ट किए गए यथा यद्यपि राज दंडधारी है, वह स्वयं अदंडय है अर्थात वह अन्य किसी के अधीन नहीं था, वह करों से मुक्त था, उत्तराधिकर के अभाव में संपत्ति पर उसका अधिकार था; प थ्वी में गड़े धन पर राजा का अधिकार था, उसे न्यायालय में साक्षी के रूप में नहीं बुलाया जा सकता था इत्यादि। इसी आधार पर कुछ इतिहासकार यह निष्कर्ष भी निकालते है कि मौर्य काल में प्रथम बार राज्य व राजनीति एक सीमा तक धर्म पर हावी हुए।

परंतु मौर्य युगीन राजा केंद्रीय सत्ता युक्त होने के बावजूद स्वेच्छाचारी नहीं था। कौटिल्य के अनुसार राजा की सत्ता की सीमाएं थीं। वह राज्य के आधारभूत कानून और संस्थाओं से ऊपर नहीं था और उसके लिए व्यक्तियों के स्वधर्म, आचार और नैतिकता के परंपरागत नियमों को वर्णाश्रम धर्म को बनाए रखना आवश्यक था। राजा के लिए स्वयं भी एक आदर्श व्यक्तित्व का स्वामी होना आवश्यक था। कौटिल्य के अनुसार राजा को देवबुद्ध, धैर्यसंपन्न, दूरदर्शी, धार्मिक, सत्यवादी, उच्चाभिलाषी, द ढ़-प्रतिज्ञ,

अति उत्साही, शास्त्र बुद्धि से युक्त, ओजस्वी व वीर होना चाहिए। यह मानते हुए कि ये गुण स्वाभाविक तौर पर सुगमता से उपलब्ध नहीं हो सकते, कौटिल्य का तर्क है कि उचित शिक्षा द्वारा राजा में ऐसे गुण उत्पन्न किए जा सकते हैं ताकि वह अपनी प्रजा को सुद ढ़ शासन प्रदान करने में सफल हो और लंबे समय तक प थ्वी पर निर्बाध शासन कर सके। प्रजा के प्रकोप को अन्य सब कोपों से भयंकर मानते हुए कौटिल्य राजा के लिए यह आदर्श भी रखते हैं कि 'वह प्रजा के सुख में सुख और प्रजा के हित में ही अपना हित समझे तथा अपने आपको प्रिय लगने वाला कार्य न करके प्रजा को प्रिय लगने वाला कार्य ही करे।'

मौर्य-काल से पूर्व नंदों का अलोकप्रिय शासन प्रजा के असहयोग से ही समाप्त हुआ। यह बात मौर्य शासक नहीं भूले और इसलिए प्रजाहित को उन्होने कभी गौण स्थान नहीं दिया। सम्राट अशोक ने तो अपने अभिलेखों में यह अंकित करवा दिया था कि प्रजा के दुःख सुख की सूचना उसे तत्काल दी जाए, चाहे वह किसी भी स्थिति मे क्यों न हो।

मौर्यकालीन राज्य का विकसित व जनहितकारी स्वरूप तत्कालीन राज्य का विकसित व जनहितकारी स्वरूप तत्कालीन राज्य द्वारा किए जाने वाले कार्यो में स्पष्टः प्रतिबिंबित है। अधिकांश इतिहासकार यह मानते हैं कि एक व हद प्रशासनिक तंत्र के साथ मौर्ययुगीन राज्य अनेक सार्वजनिक कल्याण के कार्य करता था यथा सड़के बनवाना, कुएं खुदवाना, विश्रामग ह बनवाना, कृषि सुविधाएँ उपलब्ध करवाना, चिकित्सकीय व क्ष लगवाना तथा इन सब का रख-रखाव इत्यादि। ये कार्य राजकीय कोष में से ही किए जाते थे जिसका अधिकारी 'संन्निद्धाता' कहलाता था जो मुख्य शुल्क अधिकारी 'संहार्ता' के साथ मिल कर राज्य के कोष, आय और व्यय की देख रेख भी करता था। ये अनेक कार्मिकों और लेखकों की सहायता से राज्य के आय-व्यय का लेखा रखते थे। एक व हद आर्थिक प्रशासन तंत्र तथा विकसित अर्थव्यवस्था का प्रमाण मौर्य काल में प्रयुक्त वह विविधतायुक्त शब्दावली है जो राज्य की कराधान क्षमता की द्योतक थी। प्रमुख करों में कर, विष्टि (बलात श्रम), प्रणय (आपातकालीन शुल्क), उपरिकर (अतिरिक्त उपकर), उद्रंग (सब किराएदारों पर अतिरिक्त शुल्क), हिरण्य (कुछ फसलों के उत्पादन पर राजा को दिया जाने वाल नकद कर), वातभूत (अनुष्ठानों/आयोजनों के लिए एकत्र किए जाने वाले विभिन्न उपकर), हलिरकर (हल-कर), शुल्क (व्यापारियों द्वारा शहर अथवा बंदरगाह पर लाए गए सामान पर कर), भाग (उत्पाद का राजकीय भाग), बलि (भू-कर), पशुल्क, उद्क भाग (जल-कर) लवण भाग (नमक-कर) वर्तनि (पथ-कर), द्वारादेय (चुंगी), सीमाशुल्क इत्यादि।

मंत्रीमंडल

कौटिल्य का द ढ़ मत था कि राजस्व (प्रभुता) बिना सहायता के संभव नहीं है, अतः राजा के सचिवों की नियुक्ति करनी चाहिए तथा उनसे मंत्रणा लेनी चाहिए। राज्य के सर्वोच्च अधिकारी मंत्री कहलाते थे। इनकी संख्या तीन या चार होती थी। इनका चयन अमात्य वर्ग से होता था (अमात्य शासनतंत्र के उच्च अधिकारियों का वर्ग था) राजा द्वारा मुख्यमंत्री तथा पुरोहित का चुनाव उनके चरित्र की भलीभाँति जाँच के बाद किया जाता था। इस क्रिया को उपधा परीक्षण कहा गया है (उपधा शुद्धम्)। ये मंत्री एक प्रकार से अंतरंग मंत्रिमंडल के सदस्य थे। राज्य के सभी कार्यो पर इस अंतरंग मंत्रिमंडल में विचार-विमर्श होता था और उनके निर्णय के पश्चात ही कार्यारंभ होता था।

मंत्रिपरिषद

मंत्रिमंडल के अतिरिक्त एक मंत्रिपरिषद भी होती थी अशोक के शिलालेखों में परिषद का उल्लेख है। राजा बहुमत के निर्णय के अनुसार कार्य करता था। जहाँ तक मंत्रियों तथा मंत्रिपरिषद के अधिकार का प्रश्न है, उनका मुख्य कार्य राजा को परामर्श देना था। वे राजा की निरंकुशता पर नियंत्रण रखते थे किंतु मंत्रियों का प्रभाव बहुत-कुछ उनकी योग्यता तथा कर्मठता पर निर्भर करता था। अशोक के छठे शिलालेख से अनुमान लगता है कि परिषद् राज्य की नीतियों अथवा राजाज्ञाओं पर विचार-विमर्श करती थी और यदि आवश्यक समझती थी उनमें संशोधन का सुझाव देती थी। यह राजा के हित में था कि वह मंत्री या मंत्रिपरिषद् के सदस्यों के परामर्श से लाभ उठाए किंतु किसी नीति या कार्य के विषय में अंतिम निर्णय राजा के ही हाथ में था।

अन्य अधिकारी गण : शासनकार्य का भार मुख्यतः एक विशाल वर्ग पर था जो साम्राज्य के विभिन्न भागों से शासन का संचालन करते थें। अर्थशास्त्र में सबसे ऊँचे स्तर के कर्मचारियों को 'तीर्थ' कहा गया है। ऐसे अठारह तीर्थों का उल्लेख है इनमें से कुछ महत्वपूर्ण पराधिकारी थे-मंत्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, समाहर्ता, सन्निधाता तथा मंत्रिपरिषदाध्यक्ष। तीर्थ शब्द एक-दो स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है। अधिकतर स्थलों पर इन्हें महामात्र की संज्ञा दी गई है।

सबसे महत्त्वपूर्ण तीर्थ या महामात्र मंत्री और पुरोहित थे। राजा इन्ही के परामर्श से अन्य मंत्रियों तथा अमात्यों की नियुक्ति करता था। राज्य के सभी अधिकरणों पर मंत्री और पुरोहित का नियंत्रण रहता था। सेनापति सेना का प्रधान होता था। ज्येष्ठ पुत्र युवराज पद पर विधिवत अभिषिक्त होता था। शासन कार्य में शिक्षा देने के लिए उसे किसी जिम्मेदार पद पर नियुक्त किया जाता था। बिदुसार के काल में अशोक मालवा प्रदेश का प्रशासक था और उसे विद्रोहों को दबाने या विजयाभियान के लिय भेजा जाता था।

राजस्व एकत्र करना, आय-ब्यौरा रखना तथा वार्षिक बजट तैयार करना समाहर्ता के कार्य थे। देहाती क्षेत्र की शासन-व्यवस्था भी उसी के अधीन थी। शासन की द ष्टि से देश को छोटी-छोटी इकाइयों में विभक्त किया जाता था और स्थानिक गोप, प्रदेष्ट्रि इत्यादि की सहायता से शासनकार्य चलाया जाता था। इन्हीं अधिकारियों की सहायता से वह जनगणना, गाँवों की क षियोग्य भूमि, लोगों के व्यवसाय, आय-व्यय, तथा प्रत्येक परिवार से मिलने वाले कर की मात्रा की जानकारी रखता था, यह जानकारी वार्षिक आय-व्यय का बजट करने के लिए आवश्यक थी। गुप्तचरों द्वारा वह देशी तथा विदेशी लोगों की गतिविधियों की पूरी जानकारी रखता था, जो कि सुरक्षा के लिए आवश्यक थी। प्रदेष्ट्रि अथवा प्रादेशिकों, स्थानिकों और गोप की सहायता से वह चोरी डैकती तथा हिंसा करने वाले अपराधियों को दंडित करता था। इस प्रकार समाहर्ता एक प्रकार से आधुनिक वित्त मंत्री और ग हमंत्री के कर्तव्यों को पूरा करता था।

सन्निधात एक प्रकार से कोषाध्यक्ष था। उसका काम था साम्राज्य के विभिन्न प्रदेशों में कोषग ह ओर कोष्ठागार बनवाना और नकद तथा अन्य के रूप में प्राप्त होने वाले राजस्व की रक्षा करना।

अर्थशास्त्र के 'अध्यक्ष प्रचार' अध्याय में 26 अध्यक्षों का उल्लेख है। ये विभिन्न विभागों के अध्यक्ष होते थे और मंत्रियों के निरीक्षण में काम करते थे। कतिपय अध्यक्ष इस प्रकार थे- कोषाध्यक्ष, सीताध्यक्ष, पपयाध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष, पौतवाध्यक्ष, बन्धनगाराध्यक्ष, आदि। इन अध्यक्षों के कार्य-विस्तार के अध्ययन से ज्ञात होता है कि राज्य देश के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन और कार्य-विधि पर पूरा नियंत्रण रखता था। शासन के कई विभागों के अध्यक्ष, मंडल की सहायता से कार्य करते थे, जिनकी ओर मेगस्थनीज का ध्यान भी आकृष्ट हुआ। केन्द्रीय महामात्य (महामात्र) तथा अध्यक्षों के अधीन अनेक निम्न स्तर के कर्मचारी होते थे जिन्हें 'युक्त' और 'उपयुक्त' संज्ञा दी गई है। अशोक के शिलालेखों में 'युक्त' का उल्लेख है। इन कर्मचारियों के माध्यम से केंद्र और स्थानीय शासन के बीच संपर्क बना रहता था।

सैन्य विभाग

केंद्रीय शासन का एक महत्त्वपूर्ण विभाग सेना विभाग था। यूनानी लेखकों के अनुसार चंद्रगुप्त के सेना विभाग में 6,00,000 पैदल, 55,000 अश्व, 9,000 हाथी तथा 400 रथ की एक स्थाई सेना थी। इसकी देख-रेख के लिए प थक सैन्य विभाग था। इस विभाग का संगठन 6 समितियों के हाथ में था। प्रत्येक समिति में पाँच सदस्य होते थे। समितियाँ सेना के पाँच विभागों की देख-रेख करती थीं-पैदल, अश्व, हाथी, रथ तथा नौसेना। सेना के यातायात तथा युद्ध सामग्री की व्यवस्था एक समिति करती थी। सेनापति सेना का सर्वोच्च अधिकारी होता था। सीमांतों की रक्षा के लिए मजबूत दुर्ग थे जहाँ सेना अंतपाल की देख रेख में सीमाओं की रक्षा में तत्पर रहती थी।

न्याय प्रशासन

सम्राट न्याय प्रशासन का सर्वोच्च अधिकारी होता था। मौर्य सामाज्य में न्याय के लिए अनेक न्यायलय थे। सबसे नीचे ग्राम स्तर पर ग्राम न्यायाय थे जहाँ ग्रामणी तथा ग्रामब द्ध कतिपय मामलों में अपना निर्णय देते थे तथा अपराधियों से जुर्माना वसूल करते थे। ग्राम न्यायालय से ऊपर संग्रहण, द्रोणमुख, स्थानीय और जनपद स्तर के न्यायालय होते थे। इन सबसे ऊपर पाटिलपुत्र का केन्द्रीय न्यायालय था। यूनानी लेखकों ने ऐसे न्यायाधीशों की भी चर्चा की है जो भारत में रहने वाले विदेशियों के मामलों पर विचार करते थे। ग्रामसंघ और राजा के न्यायालय के अतिरिक्त अन्य सभी न्यायालय दो प्रकार के थे-धर्मस्थीय और कंटकशोधन। धर्मस्थीय न्यायलयों का न्याय-निर्णय, धर्मशास्त्र में निपुण तीन धर्मस्थ या व्यावहारिक तथा तीन अमात्य करते थे। इन्हें एक प्रकार से दीवानी अदालतें कह सकते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार धर्मस्थ न्यायालय वे न्यायालय थे जो व्यक्तियों के पारस्परिक विवाद के संबंध में निर्णय देते थे। कंटकशोधन न्यालय के न्यायाधीश तीन प्रदेष्ट्रि तथा तीन अमात्य होते थे

और राज्य तथा व्यक्ति के बीच के विवाद इनके न्याय के विषय थे। इन्हे हम एक तरह से फौजदारी अदालत कह सकते हैं। किंतु इन दोनों के बीच के भेद इतना स्पष्ट नहीं था। अवश्य ही धर्मस्थीय अदालतों में अधिकांश वाद-विषय विवाह, स्त्रीधन, तलाक, दाय, घर, खेत, सेतुबंध, जलाशय सम्बंधी विवाद, ऋण संबंधी विवाद, म त्य, कर्मकर और स्वामी के बीच विवाद, क्रय-विक्रय सम्बंधी झगड़े से सम्बंधित थे। किंतु चोरी, डाके ओर लूट के मामले धर्मस्थीय अदालत क सामने पेश किए जाते थे जिसे 'साहस' कहा गया है। इसी प्रकार कुवचन बोलना, मानहानि और मारपीट के मामले भी धर्मस्थीय अदालत के सामने प्रस्तुत किए जाते थे। इन्हे 'वाक् पारूष्य' तथा 'दंड' पारूष्य कहा गया है। किंतु समाज-विरोधी तत्वों को समुचित दंड देने का कार्य मुख्यतः कंटकशोधन न्यायलयों का था। प्रो० नीलकंठ शास्त्री के अनुसार कंटकशोधन न्यायालय एक नए प्रकार के न्यायालय थे जो मौर्य साम्राज्य की अधिकाधिक जटिल सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बनाए गए थे ताकि एक अत्यंत संगठित शासन तंत्र के विविध विषयों से संबद्ध निर्णयों को कार्यान्वित किया जा सके। वे एक प्रकार के विशेष न्यायालय थे जहाँ अभियोगों पर तुरंत विचार किया जाता था।

गुप्तचर विभाग

मौर्य शासन प्रबंध में गूढ़ पुरूषों (गुप्तचरों) का महत्वपूर्ण स्थान था। इतने विशाल साम्राज्य के सुशासन के लिए यह आवश्यक था कि उसके अमात्यों, मंत्रियों, राजकर्मचारियों और पौरजनपदों पर द ष्टि रखी जाय, उनकी गतिविधि और मनोभावनाओं का परिज्ञान प्राप्त किया जाय और पड़ौसी राज्यों के विषय में भी सारी जानकारी प्राप्त होती रहे। दो प्रकार के गुप्तचरों का उल्लेख है : संस्था और संचार। संस्था वे गुप्तचर थे जो एक ही स्थान पर संस्थाओं में संगठित होकर कापटिकक्षात्र, उदास्थित, ग हपतिक, वैदेहक (व्यापारी), तापस (सिर मुंडाए या जटाधारी साधु) के वेश में काम करते थे। इन संस्थाओं में संगठित होकर ये राजकर्मचारियों के शौच या भ्रष्टाचार का पता लगाते थे। संचार ऐसे गुप्तचर थे जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहते थे। ये अनेक वेशों में एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर सूचना एकत्रित कर राजाओं तक पहुँचाते थे।

अध्याय–6
स्वरूप तथा प्रशासन (सिद्धान्त एवम् व्यवहारिता)
(Nature and Administration, Theory and Practice)

प्रशासनिक इकाइयाँ

प्रान्त

राज्य को कई प्रशासनिक इकाइयों में बाँटा गया था। सबसे बड़ी प्रशासनिक इकाई प्रांत थी। चंद्रगुप्त के समय इन प्रांतों की संख्या क्या थी, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। किंतु अशोक के समय पाँच प्रांतों का उल्लेख मिलता है : (1) उत्तरापथ - इसकी राजधानी तक्षशिला थी, (2) अवन्तिराष्ट्र - जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी, (3) कलिंगप्रांत - जिसकी राजधानी तोसली थी, (4) दक्षिणपथ - जिसकी राजधानी सुवर्णगिरि थी, और (5) प्राशी (प्राची अर्थात् पूर्वी प्रदेश) - जिसकी राजधनी पाटलिपुत्र थी। प्राशी अथवा मगध तथा समस्त उत्तरी भारत का शासन पाटलिपुत्र से सम्राट स्वयं करता था। सौराष्ट्र भी चंद्रगुप्त के साम्राज्य का एक प्रांत था। इतिहासकारों के अनुसार सौराष्ट्र की स्थिति अर्द्धस्वतंत्र प्रांत की थी और चंद्रगुप्त के समय पुष्यगुप्त तथा अशोक के समय तुषास्फ की स्थिति अर्थ-स्वशासन प्राप्त सामंत की थी। तथापि उसके कार्यकलाप सम्रात के ही अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत आते थे।

प्रांतों का शासन वाइसराय रूपी अधिकारी द्वारा होता था। ये अधिकारी राजवंश के होते थे। अशोक के अभिलेखों में उन्हें 'कुमार' या 'आर्यपुत्र' कहा गया है। केंद्रीय शासन की ही भाँति प्रांतीय शासन में मंत्रिपरिषद् होती थी। डॉ॰ रोमिला थापर का सुझाव है कि प्रांतीय मंत्रीपरिषद् केंद्रीय मंत्रिपरिषद् की अपेक्षा अधिक स्वतंत्र थी। दिव्यावदान के कुछ उद्धरणों से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रांतीय मंत्रिपरिषद् का सम्राट से

सीधा संपर्क था। अशोक के शिलालेखों से यह भी स्पष्ट है कि समय-समय पर कद्र से सम्राट प्रांतों की राजधानियों में महामात्रों को निरीक्षण करने के लिए भेजता था। साम्राज्य के अंतर्गत कुछ-कुछ अर्द्धस्वशासित प्रदेश थे। यहाँ स्थानीय राजाओं को मान्यता दी जाती थी किंतु अन्तपालों द्वारा उनकी गतिविधि पर नियंत्रण रहता था। अशोक के अन्य महामात्र इन अर्थस्वशासित राज्यों में धर्म महामात्रों द्वारा धर्मप्रचार करवाते थे। इसका मुख्य उद्देश्य उनके उद्दंड क्रिया-कलापों को नियंत्रित करना था।

जिला/विषय

प्रांत जिलों में विभक्त थे, जिन्हें 'आहार' या 'विषय' कहते थे और जो संभवतः विषयपति के अधीन था। जिसका शासक स्थानिक होता था और स्थानिक के अधीन गोप होते थे जो पूरे 10 गाँवों के ऊपर शासन करते थे। स्थानिक समाहर्ता के अधीन भी था। समाहर्ता के अधीन एक और अधिकारी शासनकार्य चलाता था जिसे 'प्रदेष्ट्रि' कहा गया है। वह स्थानिक गोप और ग्राम अधिकारियों के कार्यों की जाँच करता था। इन प्रदेष्ट्रियों को अशोक के प्रादेशिकों के समरूप माना गया है।

नगर प्रशासन

मेगस्थनीज ने नगर-शासन का विस्त त वर्णन दिया है। नगर का शासन-प्रबंध 30 सदस्यों का एक मंडल करता था। मंडल समितियों में विभक्त था। प्रत्येक समिति के 5 सदस्य होते थे। पहली समिति उद्योग शिल्पों का निरीक्षण करती थी। दूसरी समिति विदेशियों की देखरेख करती थी। इसका कर्तव्य था, विदेशियों के आवास का उचित प्रबंध करना तथा बीमार पड़ने

पर उनकी चिकित्सा का उचित प्रबंध करना। उसकी सुरक्षा का भार भी इसी समिति पर था। विदेशियों की म त्यु होने पर उनकी अन्येष्टि क्रियाओं तथा उनकी संपत्ति उचित उत्तराधिकारियों के सुपुर्द करने का कार्य भी यही समिति करती थी। यह देखरेख के माध्यम से विदेशियों की गतिविधियों पर नज़र भी रखती थी। तीसरी समिति जन्म-मरण का हिसाब रखती थी। जन्म-मरण का ब्यौरा केवल करों का अनुमान लगाने के लिए ही नहीं बल्कि इसलिए भी रखा जाता था कि सरकार को पता रहे कि म त्यु क्यों और किस प्रकार हुई। राज्य की सुरक्षा की द ष्टि से यह जानकारी आवश्यक थी। चौथी समिति व्यापार और वाणिज्य की देखरेख करती थी। माप-तोल की जाँच, वस्तु विक्रय की व्यवस्था करना और यह देखना की प्रत्येक व्यापारी एक से अधिक वस्तु का विक्रय न करे। एक से अधिक वस्तु का विक्रय करने वाले को अतिरिक्त शुल्क देना पड़ता थ। पांचवीं समिति निर्मित वस्तुओं के विक्रय का निरीक्षण करती थी और इस बात का ध्यान रखती थी कि नई और पुरानी वस्तु को मिलाकर तो नहीं बेचा जाता है। इस नियम का उल्लंघन करने वालों को सजा दी जाती थी। नई-पुरानी वस्तुओं को मिलाकर बेचना कानून के विरुद्ध था। छठी उपसमिति का कार्य बिक्रीकर वसूल करना था। विक्रय मूल्य का दसवाँ भाग कर के रूप में वसूल किया जाता था। इस कर से बचने वाले को म त्युदंड दिया जाता था।

राजस्व प्रणाली

मौर्य साम्राज्य जैसे विस्त त साम्राज्य के संचालन के लिए धन की आवश्यकता रही होगी - इसमें तो संदेह हो ही नहीं सकता। वास्तव में इस युग में पहली बार राजस्व प्रणाली की रूपरेखा तैयार की गई और इसके पर्याप्त विवरण कौटिल्य ने भी दिए हैं। राज्य की आय के प्रमुख स्त्रोतों का कुछ विवरण ऊपर भी दिया जा चुका है। उनके अतिरिक्त अनेक व्यवसाय ऐसे थे जिनपर राज्य का पूर्ण आधिपत्य था और जिसका संचालन राज्य द्वारा किया जाता था। इनमें खान, जंगल, नमक और अस्त्र-शस्त्र के व्यवसाय मुख्य थे। राजा का यह दायित्व था कि वह कुशल कर्मकरों का प्रबंध कर खानों का पता लगाए, खानों से खनिज पदार्थ निकाल कर उन्हें कर्मान्तों या कारखानों में भिजवाए और जब वस्तुएँ तैयार हो जाऐं तो उनकी बिक्री का प्रबंध करें। कौटिल्य ने दो प्रकार की खानों का उल्लेख किया है - स्थलखानें और जल-खानें। स्थल खानों से सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा, नमक आदि प्राप्त किए जाते थे और जल-खानों से मुक्ता, शुक्ति, शंख आदि। इन खानों से राज्य की काफी आय होती थी। जंगल राज्य की संपत्ति होते थे। जंगल के पदार्थों को कारखानों में भेजकर उनसे विविध प्रकार की पण्य वस्तुएँ तैयार कराई जाती थीं। राज्य को कोष्ठागारों में संचित अन्न से खानों और जंगलों से प्राप्त द्रव्य से और कर्मान्तों में बनी हुई पण्य वस्तुओं के विक्रय से भी प्रचुर आय होती थी। मुद्रा-पद्धति से भी आय होती थी। मुद्रा-संचालन का अधिकार राज्य को था। लक्षणाध्यक्ष सिक्के जारी करता था और जब लोग सिक्के बनवाते थे तो उन्हें राज्य का लगभग 13½ प्रतिशत ब्याजि रूपिका और परीक्षण के रूप में देना पड़ता था। विविध प्रकार के दंडों से तथा संपत्ति की ज़ब्ती से भी राज्य की आमदनी होती थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अनेक ऐसी परिस्थितियों का निरूपण किया गया है जिनमें राज्य संपत्ति को जब्त कर लेता था। संकट काल में राज्य अनेक अनुचित उपायों से भी धन संचय करता था, जैसे अद्‌भुत प्रदर्शन और मेलों को संगठित करना। पतंजलि के अनुसार मौर्य काल में धन के लिए देवताओं की प्रतिमा बनाकर बेची जाती थी। इस प्रकार मौर्य शासनकाल में राज्य की आय के सभी साधनों की जुटाया गया।

राजकीय व्यय को विभिन्न वर्गों में रखा जा सकता है जैसे (1) राजा और राज्य परिवार का भरण-पोषण, (2) राज्य कर्मचारियों के वेतन। राज्य की आय का बड़ा भाग वेतन देने पर खर्च होता था। सबसे अधिक वेतन 48,000 पण मंत्रियों का था और सबसे कम वेतन 60 पण। आचार्य, पुरोहित और क्षत्रियों को वह देय भूमि दान में दी जाती थी जो कर-मुक्त होती थी। खान, जंगल, राजकीय भूमि पर कृषि आदि के विकास के लिए राज्य की ओर से धन व्यय किया जाता था। सेना पर काफी धन व्यय किया जाता था। अर्थशास्त्र के अनुसार प्रशिक्षित पदाति का वेतन 500 पण, रथिक का 200 पण और आरोहिक (हाथी और घोड़े पर चढ़ कर युद्ध करने वाले) का वेतन 500 से 1,000 पण वार्षिक रखा गया था। इससे अनुमान लग सकता है कि सेना पर कितना खर्च होता होगा। उच्च सेनाधिकारियों का वेतन 48,000 पण से लेकर 12,000 पण वार्षिक तक था।

कल्याणकारी राज्य

यद्यपि मौर्य साम्राज्य में सैनिकों पर अत्यधिक खर्च किया जाता था तथा सेना के बलबूते पर राज्य में शांति कायम रखना चाहता था परन्तु इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि मौर्य राजाओं ने लोकहितकारी कार्य किए जैसे राजमार्गों के निर्माण,

सिंचाई का प्रबंध, पेयजल की व्यवस्था, सड़कों के किनारे छायादार व क्षों का लगाना, मनुष्य और पशुओं के लिए चिकित्सालय, म त सैनिकों तथा राजकर्मचारियों के परिवारों का भरण-पोषण, कृपण-दीन-अनाथों का भरण-पोषण आदि। इन सब कार्यों पर राज्य का व्यय होता था। अशोक के समय इन परोपकारी कार्यों की संख्या में अत्यधिक व द्धि हुई मौर्य राजा अपना कर्तव्य लोकहितकारी कार्यें को भी अपना कर्तव्य समझता था जैसा कि राजा के अधिकार व कर्तव्यों का वर्णन करते समय इनका वर्णन किया गया है।

मौर्यकालीन राज्य का सामाजिक – आर्थिक आधार

मौर्यकालीन राज्य प्रकृति को समझने के लिए उस काल की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों को समझना निहायत जरूरी है। क्योंकि एक साम्राज्य के गठन तथा रखरखाव के लिए उसी के अनुरूप आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था तथा विकास और नए सामाजिक वर्गों का उदय भी था।

कुछ इतिहाकारों के अनुभार मौर्ययुगीन साम्राज्यवादी विस्तार के मूल में कबीलाई चारागाह अर्थव्यवस्था से कृषि पर आधारित ग्राम्य अर्थव्यवस्था में संक्रमण था। इस संक्रमण के परिणामस्वरूप रोमिला थापर के अनुसार उत्पन्न नई परिस्थितियों ने नवीन वर्गीकृत सामाजिक व्यवस्था के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

मौर्यों को अपने विशाल साम्राज्य जिसकी सीमाएं उत्तर में फारस के सुदूर दक्षिण तक फैली थी, में शांति बनाए रखने तथा रखरखाव के लिए एक लम्बी चौड़ी दफ्तरशाही, विशाल स्थाई सेना की आवश्यकता थी। इस दफ्तरशाही, स्थाई सेना तथा विस्त त क्षेत्र के शासन को संभालने के लिए प्रचुर धन की आवश्यकता थी। इसलिए राज्य की आय के स्त्रोत बढ़ाने के लिए आय के नए तथा स्थाई स्त्रोत ढूंढने आवश्यक हो गए। इस कारण से मौर्य राज्य ने अनेक लाभदायक आर्थिक प्रव त्तियां आरम्भ की तथा आय के सभी स्त्रोतों पर पहली बार राज्य ने परोक्ष तथा प्रत्यक्ष रूप से अपना नियन्त्रण स्थापित किया।

अर्थव्यवस्था

कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए जैसा कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र से स्पष्ट है मौर्य सम्राटों ने नई बस्तियां बसाई और जो उजाड़ पड़ती जा रही थी उनमें अधिक आबादी वाले बस्तियों के लोगों को बसाकर उन्हें फिर से जन-संकुल बनाने की कोशिश की। यह पहला अवसर था जब राज्य ने शूद्रों को इन बस्तियों में किसानों के रूप में, बसने में मदद दी। उन्हें या तो अन्य स्थानों से लुभाकर लाया गया या जहां आबादी ज्यादा घनी थी वहां से लोगों को जबरन लाकर नई या कम आबादी वाली बस्तियों में बसाया गया। कलिंग युद्ध के बाद 1,50,000 लोगों को अपने मूल स्थान से हटाकर अन्यत्र बसाना नई बस्तियां बसाने की मौर्य नीति के अनुरूप ही था। कुमारी जमीन में खेती आरंभ करवाने के लिए नई बस्तियां बसाने वाले शूद्रों की माफिया दी गई या रियायत के तौर पर इस आशा से पशुधन, बीज और पैसे सुलभ कराए गए कि भविष्य में वे इस सबकी अदायगी कर देंगें।

नए बसे इलाकों में, जो राजा के निजी क्षेत्र या शाही गांव (सीता) होते थे, जमीन सेवानिव त्त ग्राम अधिकारियों या पुरोहितों को दी जाती थी लेकिन उसे न बेचा जा सकता था, न रेहन रखा जा सकता था और न कोई उसे उत्तराधिकार में प्राप्त कर सकता था। साधारण किसान भी अपनी जमीन ऐसे लोगों को नहीं दे सकते थे जो करदाता न हों। अगर किसान अपनी जमीन में खेती नहीं कर पाता था तो वह किसी और को दे दी जा सकती थी। राजा के खास गांवों की आबादियों पर लगे प्रतिबंध निस्संदेह बहुत कठोर थे और उनसे बचना मुश्किल था। प्रजोत्पत्ति की आयु की समाप्ति से पहले कोई संन्यस्त नहीं हो सकता था। अपनी पत्नी तथा अन्य आश्रितों के गुजारे की व्यवस्था किए बिना संन्यास लेना दंडनीय अपराध था। किसी स्त्री को संन्यासिनी बनाना भी इसी प्रकार का अपराध था। संन्यासियों को नए बसे राजकीय गांवों में प्रवेश करने की अनुमति नहीं थी। निम्न वर्णों के लोग अपना संघ का समूह नहीं बना सकते थे। सार्वजनिक मनोरंजन निशिद्ध था। इसका कारण यह था कि संभव था, अभिनेता, नर्तकियां, गायक, संगीतज्ञ, कथावाचक और भाट नई बस्तियों में चलने वाले कृषिकार्यों में बाधा डालते। कौटिल्य का तर्क स्पष्ट है : 'ग्रामवासियों की असहायावस्था से उनमें अपना ध्यान अपने खेतों पर केंद्रित करने की प्रव त्ति जगती है, इसलिए करों, श्रम आपूर्ति, संपत्ति और धान्य की व द्धि करो।'

मालूम होता है, कौटिल्य ने कृषि उत्पादन को बढ़ाने के लिए ग्रामवासियों के गंवारपन को जानबूझकर बढ़ावा दिया क्योंकि राज्य को इसी तरह से अधिक अधिशेष प्राप्त हो सकता था। मौर्य राज्य के शोषक स्वरूप की स्पषट अभिव्यक्ति स्वंय कौटिल्य

के शब्दों में हुई है : 'जहाँ' तक जमीन को चारों वर्णों से आबाद करने का प्रश्न है, वह जमीन बेहतर है जहां निम्नतम जातियों के लोगों की संख्या अधिक होती है, वह बेहतर है, क्योंकि वहां सभी प्रकार के शोषण की सुविधा होगी।'

जिन इलाकों मे हाल में खेती शुरू की गई होगी उनका एक अच्छा खासा हिस्सा शाही जमीन (सीता) रहा होगा। मौर्य काल से पहले के प्रारंभिक पालि साहित्य में बड़े-बड़े फार्मों के चंद उल्लेख ही मिलते हैं। लेकिन मालूम होता है, मौर्यो के पास ऐसे बहुत सार फार्म थे जिन पर कृषि के अधीक्षक (सीताध्यक्ष) की देख-रेख में बहुत से गुलामों और उजरती मजदूरों के श्रम से खेती की जाती थी। इन फार्मो पर सीताध्यक्ष कृषि के उन्नत ज्ञान का प्रयोग करके इनकी पैदावार बढ़ाता था। ये फार्म की राजकीय आय के महत्वपूर्ण स्त्रोत थे। करदाता किसानों की भांति एक कृषि-प्रधान अर्थव्यवस्था के विकास के परिणामस्वरूप स्वभावतः ही कृषक को तत्कालीन समाज और अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका प्राप्त हुई। मैगस्थनीज़ मौर्ययुगीन भारत की सात जातियों में कृषक को द्वितीय स्थान देते है। यह स्थान सामाजिक स्तर को नहीं अपितु उनकी आर्थिक स्थिति तथा महत्व को प्रतिबिंबित करता है। यद्यपि सात जातियों के अस्तित्व की मैगस्थनीज की बात विश्वसनीय नहीं मानी जा सकती परंतु एक कृषि-प्रधान अर्थव्यवस्था में कृषक के महत्व की बात स्वाभाविक और विश्वसनीय प्रतीत होती है। यह समाज का सबसे बड़ा वर्ग था जो भूमि के प्रति प्रतिबद्ध था और युद्ध इत्यादि से भी अप्रभावित रहता था। यद्यपि भू-स्वामित्व के विषय में कोई स्पष्ट मत उपलब्ध नहीं है तथापि मुख्यतः यह माना जाता है कि भूमि राजा के अधीन थी। और कृषक उस पर कृषि के बदले में खेती के उत्पाद का 1/4 का हिस्सा राजा को कर के रूप में देता था। कौटिल्य अर्थशास्त्र में यह उल्लेख करते हैं कि सैनिक प्रदान करने वाले गांवों को कर से मुक्ति भी दी जाती थी[11] और इस उल्लेख से कौसांबी का यह कल्पनाजन्य सुझाव तथा रोमिला थापर द्वारा उसका अनुमोदन भी गलत सिद्ध हो जाता है कि कृषक शूद्र थे जिन्हे शहरों से खाली क्षेत्रों पर खेती करने के लिए ले जाया गया था।

भूलगान व्यवस्था

मैगस्थनीज, स्ट्रैवो, एरियन इत्यादि यूनानी लेखकों के अनुसार सारी भूमि राजा की होती थी जिस पर कृषक खेती करते थे और 1/4 भाग राजा को लगान के रूप में देते थे। इससे यह संकेत मिलता है कि कृषि के लिए तैयार खेतों को कृषि के लिए बटाई पर किसानों को दिया जाता था। कौटिल्य के वर्णन के अनुसार यदि किसान अपने बीज, बैल और हथियार लाएं तो उपज के 1/2 भाग के अधिकारी थे। यदि कृषि-उपकरण राज्य द्वारा दिए जाएं तो वे 1/4 या 1/3 भाग के अधिकारी थे। इस राजकीय भूमि के अतिरिक्त ऐसी भूमि भी थी, जो ग हपतियों तथा अन्य कृषकों की निजी भूमि होती थी, जिस पर वे खेती करते थे और उपज का एक भाग कर के रूप में राजा को देते थे। यह अंश आम तौर पर उपज का 1/6 भाग होता था किंतु कभी-कभी 1/4 भाग भी हो सकता था। इन कृषकों के ऊपर नियामक अधिकारी, समाहर्ता, स्थानिक तथा गोप होते थे, जो गांवों में भूमि तथा अन्य प्रकार की संपत्ति के आंकड़े तथा लेखा-जोखा रखते थे। राज्य की भूमि की व्यवस्था के लिए सीताध्यक्ष नाम का अधिकारी उत्तरदायी था।

जो भूमि कृषियोग्य नहीं होती थी और यदि उसे कृषि योग्य बना लेता था तो वह भूमि उससे वापिस नहीं ली जाती थी। ऐसी भी राजकीय भूमि होती थी जिस पर सीताध्यक्ष द्वारा खेती नहीं कराई जाती थी। ऐसी भूमि पर करद कृषक खेती करते थे। अर्थशास्त्र में आए अनेक उल्लेखों में भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार होने के संकेत मिलते है यथा क्षेत्रक (भू-स्वामी) और उपवास (काश्तकार) के बीच भेद। भूमि के संबंध में 'स्वाम्य' का उल्लेख मिलता है। अर्थशास्त्र के अनुसार जिस भूमि का स्वामी नहीं होता वह राजा की हो जाती है।

मौर्य काल में कृषि पर आधारित कर व्यवस्था भी अधिक विकसित और सुव्यवस्थित हुई। इस काल के विषय में लिखने वाले अधिकांश इतिहासकारों का मत है कि मौय काल में भू-राजस्व और कृषि उत्पाद-कर दोनों का अस्तित्व मिलता है जिन्हें बलि, भाग और हिरण्य के नाम दिए जाते थे तथा कृषि पर कर 1/3 से लेकर 1/12 तक हो सकता था। यह भी स्पष्ट है कि इस युग में राज्य के अधिकरी यानी राजस्व-अधिकारी कृषि-भूमि का प्रत्यक्ष मूल्यांकन करते थे। प्रायः यह मूल्यांकन एक गांव की संपूर्ण भूमि पर आधारित होता था परंतु साथ ही गांव के प्रत्येक सदस्य और काश्तकार से संबंधित जानकारी को ध्यान में रखा जाता था। उसके पश्चात गांव को निम्नवर्णित श्रेणियों में से एक में श्रेणीबद्ध किया जाता था (1) परिहारका अर्थात वे गांव जो कर से मुक्त थे; (2) अयुध्य अर्थात वे गांव जो सैनिक प्रदान करते थे; (3) हिरण्य, धान्य, व कप्य प्रतिकार अर्थात वे गांव जो कर का अनाज, स्वर्ण, पशु-धन अथवा कच्चे माल के रूप में भुगतान करते थे तथा (4) विष्टि व प्रतिकार अर्थात वे गांव जो कर के बदले दुग्ध उत्पाद अथवा निःशुल्क श्रम प्रदान करते थे।

सिंचाई व्यवस्था

मौर्यकालीन राज्य सिंचाई का समुचित प्रबंध करता था। इसे 'सेतुबंध' भी कहा या है। सेतुबंध के अंतर्गत तालाब, कुएं, तथा झीलों पर बांध बना कर एक स्थान पर पानी एकत्रित करना इत्यादि निमार्ण कार्य आते है। मौर्य काल में सौराष्ट्र में सुदर्शन झील पर बांध का निर्माण इस प्रकार का उदाहरण था। सिंचाई के लिए अलग कर भी देना पड़ता था जिसकी दर उपज का 1/5 से 1/3 भाग तक थी। जो कृषक अथवा भू-स्वामी स्वयं कुए खुदवा कर या तालाब बनवा कर सिंचाई की व्यवस्था करते थे, उन्हें कर में छूट देकर प्रोत्साहित किया जाता था। सिंचाई हेतु प्रयोग में लाए जाने वाले जल पर लगा शुल्क राज्य की आय का एक प्रमुख स्त्रोतों था। वर्षा के पानी का रख-रखाव व कुंओं और नहरों के माध्यम से नए जल-स्त्रोत का प्रबंध राज्य का दायित्व था। बौद्ध ग्रंथों में ऐसे गांवों का उल्लेख मिलता है। जहां कृषि-योग्य भूमि व्यक्तिगत जोतों में विभाजित थी तथा ये व्यक्तिगत कृषि-क्षेत्र सहकारी सिंचाई प्रबंध हेतु खोदी गई नहरों से प थकत थे।

अकृश्य भूमि का उपयोग

इसके साथ ही कृषि एवं वन उपजों के विपणन, प्रमापीकरण, भंडारण आदि के विषय में समुचित व्यवस्था के उल्लेख भी अर्थशास्त्र में मिलते हैं।

प्रशासन व सभ्याता के विकास की सीमा इस बात से भी ज्ञात होती है कि प्रत्येक ग्राम में शिल्प, दस्तकारी, जन-सुविधाएं व मनोरंजन की सुविधाएं उपलब्ध थीं। यथा ग्रामसभा, प्रेक्षाग ह, तालाब, आरामग ह, देव-ग ह, पुण्य स्थान, नर्तक, गायक, वादक, चित्रकार, चारण, माल्य संपादक, इत्यादि राज्य द्वारा रखे जाते थे। ग्राम-सुरक्षा व विकास हेतु संपत्ति का सीमा-निर्धारण मार्ग व सड़के तैयार करना भील, किरात, चांडाल तथा अरण्याचारियों से गांवों को सुरक्षा के प्रबंध भी राज्य की जिम्मेदारी थी।

ञ्कृषि के अयोग्य भूमि-अकृष्य भूमि- को राज्य चारागाहों तथा वनों के रूप में विकसित करता था। वनों का प्रयोग विविध वनस्पतियों व औषधियों के उत्पादन हेतु, आखेट-विहार हेतु तथा तपोवनों व यज्ञों के आयोजन हेतु करने के उल्लेख मिलते हैं। इनके अतिरिक्त वनों से मूल्यवान पशु-उत्पाद यथा पशुओं की खाल, हाथी दांत इत्यादि भी प्राप्त किए जाते थे। वनों के संरक्षण हेतु वनपाल नियुक्त किए जाते थे। इसके अतिरिक्त वन-संपदा के उचित दोहन हेतु व क्ष-मर्मज्ञों (व क्षों की विशिष्ट जानकारी रखने वाले) की सेवाएं भी ली जाती थीं।

वन-संपदा को उपभोक्ता वस्तुओं में परिवर्तन करने के लिए ग्रामीण कारखाने अथवा शिल्पग ह थे जिन्हे 'द्रव्यवना-कर्मान्ताः' कहा जाता था। यहाँ पर हल, बैलगाड़ी तथा अन्य प्रकार के शब्दों का निमार्ण किया जाता था।

मैगस्थीज़ ने भारत के वर्णन में यह स्पष्ट उल्लेख किया है। कि यहां कभी अकाल नहीं पड़ते थे। परंतु जैन स्त्रोतों और कम से कम दो मौर्यकालीन आभिलेखों से चंद्रगुप्त मौर्य के समय अकाल पड़ने ओर अकाल की स्थिति में सुधार के प्रयासों की जानकारी प्राप्त होती है। मैगस्थनीज के वर्णन से यह स्पष्ट जानकारी भी मिलती है कि कृषि और कृषक समुदाय युद्ध के दौरान भी अप्रभावित और सुरक्षित रहते थे जो कृषि की संपन्नता का एक कारण था।

पशुपालन

मौर्ययुगीन अर्थव्यसस्था मे गाय, भैंस, बकरी, भेड़, गधा, और ऊंट इत्यादि पशुओं का महत्वपूर्ण स्थान था। हाथी ओर घोड़ों का उल्लेख भी मिलता है परन्तु उनका महत्त्व सामरिक अधिक था। भारवाही बैलों का भी उल्लेख मिलता है। जिससे यह अनुमान सतलता से लगाया जा सकता है कि उस समय का किसान लकड़ी के हल से परिचित था। इन सब में गाय सबसे अधिक मूल्यवान थी। अर्थशास्त्र में यह उल्लेख मिलता है कि जब कोई व्यक्ति गऊशाला का स्वामी होता है तो उसे प्रतिवर्ष घी की एक निश्चित मात्रा और उस वर्ष मरने वाली गाय की खाल गाय-पालन से प्राप्त होती थी। यह भी स्पष्टतः उल्लिखित है कि बछड़ा, बैल और गाय की हत्या नहीं की जा सकती है। पशुशालाएं केवल राज्य की नहीं, अपित धनी व्यक्तियों की निजी संपत्ति भी थी। राज्य के गऊ निरीक्षक के कार्यो में कर-संग्रह, पशुओं की स्थिति तथा पुशुपालकों के कार्य की देख-रेख भी सम्मिलित थे।

अशोक के शासन काल में पशुओं के प्रति दयापूर्ण व्यवहार, मुख्य मार्गो पर व क्ष लगाने तथा कुएं खुदवाने का कार्य (ताकि छाया व जल मनुष्यों व पशुओं को भी मिल सके), पशु-वध की मनाही इत्यादि के विशिष्ट प्रबंध किए गए।

उद्योग धन्धे

मौयकालीन अर्थव्यवस्था में मछली एक महत्वपूर्ण पदार्थ पण्य मानी जाती थी। अतः उसके संरक्षण की व्यवस्था भी की गई थी। यथा कुछ दिवसों पर मछली पकड़ना तथा बेचना प्रतिबंधित था ताकि मत्स्य-प्रजनन व उत्पादन में बाधा न हो। मछलियों और पक्षियों के पकड़ने पर उनका 1/10 भाग शुल्क के रूप में देना पड़ता था। अर्थशास्त्र में मछली को खाद्य-पदार्थो में श्रेणीबद्ध किया गया है, साथ ही मत्स्य पालन को एक संगठित उद्योग बनाने के प्रयास भी मिलते हैं।

मौर्ययुगीन राजनीतिक एकीकरण और प्रशासनिक केंद्रीकरण के परिणामस्वरूप विविध शिल्पकलाओं को प्रोत्साहन मिला। प्रशासनिक सुधार के साथ व्यापार की सुविधाएं उपलब्ध होने के कारण शिल्पकलाओं ने छोटे-छोटे उद्योगों का रूप धारण कर लिया था तथा शिल्पियों का एक बड़ा वर्ग अस्तित्व में आ गया था। शिल्पी मुख्यतः दो प्रकार के थे- सरकार व गैर-सरकारी। जो सरकारी अथवा राज्य के शिल्पी होते थे, वे अनेक प्रकार की धातुओं, लकड़ियों तथा पत्थरों से राज्य के लिए विविध वस्तुओं का निर्माण करते थे जैसे जहाज़, कवच, आयुध, खेती के औजार इत्यादि। अन्य शिल्पी राज्य को कर देते थे अथवा कर के बदले महीने में एक दिन राजा के यहां काम करते थे। खानों और जंगलों से प्राप्त धातु तथा लकड़ी से राज्य अनेक प्रकार के उद्योगों का संचालन करता था। वस्त्र उद्योग भी राज्य द्वारा संचालित था। अतः इन विविध उद्योगों में अनेक शिल्पी विभिन्न अध्यक्षों के निरीक्षण में कार्य करते थे और राज्य से वेतन पाते थे। किंतु अनेक स्वतंत्र शिल्पी भी थे। ये श्रेणियों में संगठित थे जिसके कारण उनके वेतन तथा अन्य अधिकार सुरक्षित थे। साथ ही, शिल्पी के जीवन तथा संपंत्ति की सुरक्षा की राज्य की ओर से पूरी व्यवस्था थी। प्रजाहित में शिल्पियों और व्यापारियों पर राज्य का नियंत्रण था। मैगस्थनीज़ ने अपने वर्णन में दस्तकारों और हस्तशिल्पियों का भारतीय समाज के चौथे वर्ग के रूप में वर्णन किया। उन्होने यह भी लिखा है कि शिल्पि राज्य को अपनी सेवाएं और शुल्क अर्पित करते थे। जबकि डियोडोरस का मानना है कि ये शिल्पी राज्य के शस्त्र-निर्माता थे। अतः न केवल कराधान से मुक्त थे अपितु राजकोष से वेतन पाते थे। एरियन का मत है कि अधिकांश शिल्पी और दस्तकार राज्य को कर देते थे। केवल शस्त्र और जल-पोत निर्माता इनसे अलग थे और राज्य से वेतन पाते थे। दोनों ही प्रकार के स्त्रोतों से एक बात पूर्णतः स्पष्ट होती है कि मौर्य युगीन अर्थव्यवस्था में शिल्प व कला व्यस्थित रूप से संगठित थी। साथ ही प्रशासनिक व्यवस्था भी इतनी विकसित थी कि तैयार उत्पादन पर न केवल तत्काल कर लगाया जाता था अपितु एक विशिष्ट अधिकारी उन पर विशेष प्रकार की मुहर लगाता था ताकि नए माल को पुराने बिन बिके माल से अलग पहचाना जा सके। व्यापारियों को आदेश था कि पुराना माल संस्थाध्यक्ष की आज्ञा के बिना न तो बेचा जा सकता था और न ही बंधक रखा जा सकता था। माप और तोल का प्रति चार महीने बाद राज्य कर्मचारियों द्वारा निरीक्षण होता था। कम तोलने वाले को दंड दिया जाता था। लाभ की दर निश्चित थी।

मौर्ययुगीन स्थायित्व और व्यापार के फैलाव ने व्यापारियों और शिल्पयों की श्रेणीबद्ध व्यवस्था और संघों के विकास को संभव बनाया। उसका एक प्रमुख कारण एक प्रकार के शिल्पियों और व्यापारियों का एक स्थान पर निवास था। द्वितीय, कार्य की वंशानुगत प्रकृति और त तीयतः एक श्रेणी-नायक अथवा नेता के विचार की स्वीकृति से भी संघों के निर्माण को प्रोत्साहन मिला। यही श्रेणी अथवा संघ बाद के समय में जातियों में भी परिणत हों गए, ऐसा कुछ इतिहासकारों का मानना है। प्रारंभ में बढ़ती हुई प्रतियोगिता ने भी श्रेणीय संघीय प्रव त्ति को प्रोत्साहित किया हेागा जो बाद में अपने-अपने क्षेत्र के सर्वाधिक महत्वपूर्ण औद्योगिक संगठन बन गए। यहां तक कि धीरे-धीरे वे प्रायः संपूर्ण उत्पाद के नियंत्रक हो गए और अपने उत्पाद की बढ़ती हुई मांग के लिए श्रमिकों को मजदूरी पर रखने लगे और राज्य-प्रशासन उनके पंजीरकण व मान्यता के माध्यम से उनके क्षेत्रों व व्यवहार को नियंत्रित व विनियमित करने लगा।

जातक कथाओं में 18 प्रमुख हस्तकलाओं का उल्लेख मिलता है यथा तक्षक (लकड़ी का काम करने वाल), स्वर्णकार, चर्मकार, चित्रकार, हाथी-दाँत शिल्पी, पाषाण-कटक (पत्थर का काम करने वाले), जुलाहे, मूल्यवान धातुओं के शिल्पी यथा मणिकार, युक्तिकार, आभूषण-निर्माता, कुम्हार, तीर-कमान बनाने वाले तथा निष्ट-निर्माण या हलवाई जिनके काम विकास की उल्लेखनीय सीमा तक पहुंच चुके थे। ये हस्तशिल्पी श्रेणियों में संघबद्ध थे जिनके अध्यक्ष 'प्रमुख' तथा 'जेठक' होते थे। अनेक श्रेणियों अथवा संघों से मिल कर बने महापरिसंघ का भी उल्लेख मिलता है जिनका नेत त्व भंडागारिक करते थे। इसी प्रकार व्यापारियों के संघ 'सेठि' के नेत त्व में तथा 500 श्रेणियों का महासंघ 'महासेठि' के नेत त्व में सगठित थे। व्यापारियों के काफिले भी सहकारी उद्यम थे जहां अनेक उद्यमी अपने समान व गाड़ियों सहित मिल-जुल कर एक

'सत्तावाह' के अधीन चलते थे जो उनके मार्ग, रूकने के स्थान, जल-स्तर, खतरे के स्थान इत्यादि के विषय में भी निर्देश देता था। यह काम 'थलनियामक' नामक राज्याधिकारी भी करते थे। इसी प्रकार समुद्र के मार्ग से जाने वाले व्यापारी भी मिल-जुल कर एक जल-पोत किराए पर ले लेते थे। इस प्रकार व्यापारिक सहयोग व सहभागिता के पर्याप्त उदाहरण थे यथा बेबीलोन को पक्षियों का निर्यात तथा घोड़ों का आयात प्रायः व्यापारियों के संहभागी व्यापारिक प्रक्रम पर आधारित था।

इतने विशाल निजी उद्यमों की व्यवस्था व संगठन के बावजूद अनेक उद्योगों पर राज्य एकाधिकर था। यथा खनन, तेल के स्त्रोत, खनिज, नमक, मदिरा, अस्त्र-शस्त्र, पोत-निर्माण, मुद्रा इत्यादि। उसके अतिरक्त राज्य कपास, चीनी, डेयरी, वस्त्र बुनाई व सिलाई का कार्य भी उपने कारखानों में करवाता था। इन उद्योगों की देखरेख खननाध्यक्ष, सौवर्णिक, अगोरानोर्माइ अस्तिनोमाई, लवणाध्यक्ष इत्यादि अधिकारी करते थे। उत्पादित वस्तुओं के संग्रह के लिए राज्य के अपने भंडारग ह थे।

मौर्यकालीन अर्थव्यवस्था मुद्रा पर आधारित अर्थव्यवस्था थी जिसकी मुख्य मुद्रा 'पण' तथा 'मशक' प्रतीत होती है। कौटिल्य पणों का प्रयोग करते हैं। 'लक्षणाध्यक्ष' और 'रूपदर्शक' राजकीय सिक्कों पर प्रतीक अभिलेखन के लिए उत्तरदायी थे। मुद्रा संचालन का अधिकार राज्य को था। जब लोग सिक्के बनवाते तो उन्हें राज्य को 13-1/2 प्रतिशत ब्याज रूपिका और परीक्षरण के रूप में देना पड़ता था।

व्यापार

व्यापार के प्रमुख मद मोती, हीरे, मणिया, सीप, सुगंधित काष्ठ, गर्म कंबल, रेशम, कपास, सूती वस्त्र इत्यादि थे जो अपनी उत्पत्ति के स्थान समुद्र, खान, वन इत्यादि से विभिन्न बाज़ारों तक व्यापार मार्गो से पहुंचते थे।

व्यापार के क्षेत्र में राज्य का विशिष्ट उत्तरदायित्व था। राज्य राष्ट्र का विशालतम व्यापारी था और उसकी आय का एक बड़ा स्त्रोत राज्य भंडारग हों व कारखानों मे तैयार व संग्रहित माल का उचित विपणन था। मूल्यों पर भी राज्य का नियंत्रण था। यह व्यवस्था इतनी विकसित थी कि माल को उत्पादन के स्थान पर बेचने की मनाही थी और यह आवश्यक था कि उसे राज्य द्वारा सुनिश्चित पण्यशाला में ले जाया जाए जहां उत्पादक अथवा वितरक उसकी मात्रा, गुण व मूल्य की जानकारी देता था जिनका पंजीकरण और परवेक्षण पण्यशाला के अधिकारी करते थे। प्रत्येक व्यापारी को विक्रय हेतु प्रमाणपत्र लेना अनिवार्य था और बाहर से आए व्यापार के लिए (पासपोर्ट/अभिज्ञान मुद्रा) भी आवश्यक थी। मूल्यों का निर्धारण पण्य-अध्यक्ष करते थे। मिलावट और तस्करी जैसे अपराधों के लिए कड़ी सजा का प्रावधान था।

जनता और उपभोक्ता को अनुबंधित मूल्यों और धोखा-धड़ी से बचाने के लिए राज्य कड़े प्रबंध करता था जिसमें व्यापार मागों पर नज़र रखने के लिए गुप्तचरों तथा बाज़ार-निरीक्षकों की नियुक्ति जैसे प्रावधान सम्मिलित थे ताकि व्यापारियों द्वारा घोषित वस्तुओं व उनके मूल्यों की सच्चाई की पुष्टि की जा सके।

मूल्यों के अतिरिक्त राज्य का वस्तुओं के माप तोल पर भी नियंत्रण था जिसके लिए पौतवाध्यक्ष तथा संस्थाध्यक्ष नामक अधिकारी उत्तरदायी थे। नियंत्रण की व्यावहारिकता का ज्ञान इस तथ्य से होता है कि सरकारी माप सार्वजनिक माप से कुछ कम तय किया जाता था ताकि सरकारी शुल्क के स्त्रोत सरलता से बने रहें। व्यापार पर कराधान की विस्त त व्यवस्था थी जिसके अंतर्गत संपूर्ण व्यापारिक मार्ग में स्थान-स्थान पर आयात-निर्यात शुल्क, द्वारादेय/चुंगी तथा उत्पादन शुल्क लगाने की व्यवस्था थी जो उत्पाद के 1/6 से 1/25 तक होता था। परंतु इस कराधान के बदले में राज्य व्यापारियों को संपूर्ण सुरक्षा भी प्रदान करता था जो ग्राम-मुख्य, विवित्ताध्यक्ष, चौर-राजुक तथा सीमास्वामी नामक अधिकारियों का उत्तरदायित्व था। व्यापार के लिए भूमि व समुद्र दोनों प्रकार के मार्ग थे जिनका रख-रखाव भी राज्य करता था।

भू-मार्गो में कौटिल्य द्वारा दिए गए वर्णन से ज्ञात होता है। कि मौर्ययुगीन सभ्यता व अर्थव्यवस्था एक सराहनीय सीमा तक विकसित थी। कौटिल्य के अनुसार मार्गो में राज-मार्ग, स्थानीय पथ एवं द्रोणमुख पथ राष्ट्रपथ, विवित्त-पथ, व्यूह-पथ, सेतु-पथ, वन-पथ, हस्ति-पथ, रथ-पथ, क्षेत्र-पथ पशु-पथ, क्षुद्र-पशु पथ तथा मनुष्य-पथ इत्यादि थे।

ब्याज पर पैसा देने की प्रथा के विषय में यूनानी स्त्रोंतो यथा मैगस्थनीज़ का यह मानना है कि भारत में सूदखोरी की प्रथा

नहीं थीं और न ही भारतीय ऋण लेना जानते थे। परंतु मौर्यकालीन अर्थव्यवस्था की विकसित स्थिति को देखते हुए यह सत्य प्रतीत नहीं होता और कौटिल्य भी अपने ग्रंथ में ऋण की प्रथा का उल्लेख करते हैं। यहां तक कि राजकोष से भी पैसा उधार लिया जा सकता था जहां निश्चित समय पर ब्याज चुकाया जाता था। ब्याज की दर औसतन 15 प्रतिशत वार्षिक थी यद्यपि वाणिज्यिक ऋण पर यह दर 60 प्रतिशत वार्षिक तक हो सकती थी। ब्याज की दर राज्य द्वारा नियंत्रित थी।

राज्य की आय के स्त्रोत

अर्थशास्त्र में राज्य के संचालन हेतु आवश्यक आय के विभिन्न स्त्रोतों का भी विस्त त वर्णन उपलब्ध है जिनमें दुर्ग, राष्ट्र, खनि, सेतु, वन, ब्रज और वाणिक-पथ उल्लेखनीय है। दुर्ग या पुर से प्राप्त होनी वाली आय में शुल्क दंड पौतव (माप-तोल यंत्रों का प्रमाण शुल्क), विभिन्न राजकीय विभागों से प्राप्त होने वाली आय, तेल घ त, क्षार, स्वर्ण इत्यादि पर शुल्क, वेश्याग ह, जुआघर, कारीगर व शिल्पी, तथा अत्यधिक धनी लोगों से प्राप्त होने वाली आय तथा कर सम्मिलित है। है। राष्ट्र अथवा जनपद से प्राप्त होने वाली आय मे सीता (राजकीय कृषि से आय), भाग (लगान), वणिक (क्रय-विक्रय पर कर), नदीपाल स्तर (सेतु कर), नाव पर कर, पट्टन (कस्बों से प्राप्त कर), विवीत (चरागाहों से आय), वर्तनी (पथ कर), रज्जू (भूमि-निरीक्षकों से आय) तथा चोर रज्जू (चोरों को पकड़ने से आय) इत्यादि। इनके अतिरिक्त खानों से प्राप्त होने वाली आय अर्थात खनि, फल,-फूल शाक-सब्जी से प्राप्त आय अर्थात सेतु, पशु, लकड़ी तथा वन से प्राप्त आय अर्थात वन, गाय भैस इत्यादि पालतु तथा भाववाहक पशुओं से प्राप्त आय, अर्थात ब्रज स्थल मार्ग व जल मार्ग से प्राप्त आय अर्थात वाणिक पथ, भूमि-कर आयात निर्यात कर, बिक्री व उत्पादन कर इत्यादि भी आय का स्त्रोत थे।

साहित्यिक और ऐतिहासिक साक्ष्यों से प्राप्त जानकारी के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मौर्ययुगीन अर्थव्यवस्था विस्तारशील अर्थव्यवस्था थी जिसमें व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्र में नई संभावनाए विकसित हो रही थी, कृषिगत अर्थव्यवस्था स्थायित्व प्राप्त कर रही थी और उसके लाभ भी बड़े पैमाने पर समझे जा रहे थे। इस आर्थिक परिवर्तन के साथ-साथ सामाजिक संगठन भी एक नए स्वरूप में गठित हो रहा था जो आने वाली कई शताब्दियों तक के लिए एक अपरिवर्तनीय प्रतिमान बन कर उभर रहा था।

सामाजिक व्यवस्था

सामाजिक श्रम का विभाजन और उस पर आधारित सामाजिक वर्गीकरण वैदिक युग से प्रारंभ हो गया था परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्य काल से पूर्व वह संगठन काफी तरल अवस्था में था परिणामतः सामाजिक तरलता के अनेक उदाहरण आसानी से प्राप्य थे। उदाहरणार्थ, क्षत्रिय और ब्राह्मण की स्थिति परस्पर परिवर्तनीय थी जो 'राजर्षि' की संकल्पना के उल्लेख और वर्णन से स्पष्ट है।

बौद्ध युग में ऐसे द ष्टांत प्राप्त है जहां क्षत्रिय की सामाजिक स्थिति ब्राह्मण से उच्च प्रतीत होती है। यथा बौद्ध साहित्य में सामाजिक वर्गीकरण का जो वर्णन मिलता है उसमें चार वर्गो का उल्लेख प्रायः इस प्रकार आता हैः क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य शूद्र। इससे क्षत्रियों की सर्वोच्चता का संकेत मिलता है। बुद्ध-साहित्य में वैदिक रीति-रिवाज तथा यज्ञों के विरुध टिप्पणियां भी यही संकेत देती है तथा बुद्ध जो स्वयं क्षत्रिय थे, का धार्मिक सामाजिक नेत त्व भी इसका साक्ष्य प्रस्तुत करता है। परंतु मौर्य काल में ब्राह्माण की सामाजिक सर्वोच्चता पुनः स्थापित होने के प्रमाण है इसी के साथ जाति अथवा वर्ण व्यवस्था के और प्रतिलोम विवाहों से बताई गई है। जिन वर्णसंकर जातियों का उल्लेख है वे है अंबष्ठ, निषाद, वेदेहक, सूंत, पांकशव, रथकार, क्षत्ता, मागध, पुल्लकस, वेण, चांडाल, श्वापाक इत्यादि। इनमें से कुछ आदिवासी जातियां थी। कौटिल्य ने चांडालों के अतिरिक्त अन्य सभी वर्णसंकर जातियों को शूद्र माना है। इनके अतिरिक्त तंतुवाद (जुलाहे), राजक (धोबी), दर्जी, सुनार, लुहार, बढ़ई आदि व्यवसाय पर आधारित वर्ग, जाति का रूप धारण कर चुके थे। अशोक के शिलालेखों में दास और कर्मकार का उल्लेख है जो शूद्र वर्ग के अंदर ही समाविष्ट किए जाते थे।

यूनानी लेखक जैसे मैगस्थनीज़ भारतीय समाज का विभाजन सात जातियों अथवा वर्गो में करते हैं। ये वर्ग थे दार्शनिक, कृषक, सैनिक, पशुपालक, शिल्पी न्यायाधीश तथा पार्षद। एरियन भी लगभग इसी प्रकार का विचार रखते है। ऐसा प्रतीत होता है कि यूनानी लेखकों ने आर्थिक व सामाजिक वर्गीकरण को मिश्रित कर दिया अथवा यूनानी व भारतीय समाज के वर्गीकरण को कहीं परस्पर मिला दिया क्योंकि भारतीय वर्णव्यवस्था में चतुर्वगीय विभाजन अत्यंत प्राचीन है। मैगस्थनीज इन वर्गो के विषय

मे यह स्पष्ट उल्लेख करते है कि किसी को भी जाति से बाहर विवाह की और अपनी कला अथवा व्यवसाय से भिन्न व्यवसाय अपनाने की अनुमति नहीं है। परन्तु वे यह भी उल्लेख करते है कि 'दार्शनिक इसा अपवाद है जिसे अपने सदगुण के कारण विशेषधिकार प्राप्त है'। वस्तुतः मैगस्थीनज के दार्शनिक भारत के ब्राह्माण वर्ग का ही पर्याय है, यह उनके वर्णन से स्पष्ट हो जाता है। वह दार्शनिक वर्ग को दो भागों में बांटते है-ब्राह्मण और श्रमण। ब्राह्मण, उनके अनुसार, 37 वर्ष तक कठिन परिश्रम और एकान्तवास करते है और तत्पश्चात पारिवारिक जीवन में प्रवेश करते है उन्हें अनेक पत्नियां रखने का अधिकार है। अधिकाशं कार्य बच्चे करते है क्योंकि दास-प्रथा का अस्तित्व नहीं है। महिलाओं को दर्शन के ज्ञान से वंचित रखा जाता है। ब्राह्मण जीवन को 'माया' अथवा भ्रम मानते हैं अतः म त्यु उनके लिये भयावह परिघटना न होकर नवजीवन का प्रारंभ है। वे मांस खाते हैं परंतु श्रमोपजीवी पशुओं यथा गाय, बैल, घोड़े, और हाथी का मांस नहीं खाते, इस वर्ग को अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे। यथा कराधान व बलात श्रम से मुक्ति। वे यज्ञ, बलि, अनुष्ठान तथा भवष्यिवाणी का कार्य करते थे। संक्षेप में, यह एक संख्या में छोटा परंतु अत्यंत शक्तिशाली वर्ग था।

मैगस्थनीज के अनुसार द्वितीय वर्ग कृषक था। यह वर्ग संख्या में बड़ा तथा भूमि के प्रति समार्पित था। एक कृषि पर आधारित अर्थव्यवस्था में कृषक की स्थिति निःसंदेह महत्वपूर्ण हो जाती है और समाजिक स्थिति कुछ निम्न होते हुए भी इस वर्ग के आर्थिक महत्व की अवहेलना करना कठिन है। प्रायः यह वर्ग सैनिक आक्रमणों और युद्धों से अप्रभावित रहता था मैगस्थनीज का मत है कि भूमि राजा की थी और कृषक केवल उस पर खेती करते थे जिसके बदले में वे राज को उत्पाद का 1/4 हिस्सा कर शुल्क के रूप में देते थे। यही तथ्य अन्य यूनानी लेखकों के वर्णन में भी मिलता है। अर्थशास्त्र में प्राप्त विवरण के अनुसार भी केवल उन गांवों को कराधान से मुक्त किया जाता था जो सैनिक सेवा प्रदान करते थे।

राजा के भूमि पर स्वामित्व संबंधी तथ्य पर इतिहास विभाजित है। जायसवाल यूनानी लेखकों के मत से भिन्न यह मत प्रकट करते है कि भारतीय राजा कृषि-योग्य भूमि का स्वामी नहीं अपितु रक्षक था। जातकों में भी 'गहपतियों' और 'गामभाजकों' का उल्लेख मिलता है जो बड़े भू-क्षेत्रों के स्वामी थे। अतः यह मत अधिक उचित प्रतीत होता है कि मौर्य साम्राज्य जैसे विशाल राज्य में किसी एक प्रकार की भू-स्वामित्व की व्यवस्था मिलना सहज संभावना नहीं हो सकती। यह हो सकता है कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न प्रकार के स्वामित्व की व्यवस्था हो यथा कहीं पर भूमि राजा के अध ीन हो तो कहीं राज्य व पूर्वर्ती धर्मशास्त्रों की भाँति कौटिल्य ने भी वर्णक्रम व्यवस्था को सामाजिक संगठन का आधार माना है। उसके अनुसार कार्यक्रम व्यवस्था की रक्षा करना राजा का कर्तब्य है। धर्मशास्त्रों के अनुसार कौटिल्य ने भी चारों वर्णो के व्यवसाय निर्धारित किए। किंतु शुद्र को शिल्पकला और सेवाव त्ति के अतिरिक्त कृषि, पशुपालन और वाणिज्य से आजीविका चलाने की अनुमति दी है। इन्हें सम्मिलित रूप में 'वार्ता' कहा गया है। निश्चित है कि इस व्यवस्था से शुद्र के आर्थिक सुधार का प्रभव उसकी सामाजिक स्थिति पर भी पड़ा होगा। कौटिल्य द्वारा निर्धारित शूद्रों के व्यवसाय वास्तविकता के अधिक निकट हैं। वैश्यों के सहायक के रूप में अथवा स्वतंत्र रूप में शूद्र भी कृषि, पशुपालन तथा व्यापार किया करते थे। अर्थशास्त्र में एक और परिवर्तन द ष्टिगोरचर होता है और वह यह कि शूद्र को आर्य कहा गया है तथा उसे म्लेच्छ से भिन्न माना गया है। कहा गया है कि आर्यशूद्र को दास नहीं बनाया जा सकता-यद्यपि म्लेच्छों को दास रूप में बेचना या खरीदना दोष नहीं है।

समाज में ब्राह्मणों का विशिष्ट स्थान था किंतु मनु तथा पूर्वगामी धर्म सूत्रों की भाँति इस तथ्य को बार-बार दुहराने का प्रयास अर्थशास्त्र में नहीं किया गया है। यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती कि ब्राह्मण, समाज का बौद्धिक और धार्मिक नेत त्व करते थे, वे ही शिक्षक तथा पुरोहित होते थे। ब्राह्मणों द्वारा यज्ञ करवाए जाने का उल्लेख मेगस्थीनज ने भी किया है। राजा के पुरोहित और कानून मंत्री अधिकाशं इसी वर्ग से नियुक्त किए जाते थे। उन्हें आर्थिक और कानून संबंधी विशेष अधिकार प्राप्त थे। राजा के शिक्षकों, यज्ञ कराने वाले पुरोहित (आचार्य) तथा वेदपाठी ब्राह्मणों को भूमि दान में दी जाती थी। यह भूमि 'ब्रह्मदेय' कहलाती थी और यह पूर्णतः करमुक्त थी। ब्राह्मणों की समाज में प्रधानता बहुत पहले से चली आ रही थी और इस व्यवस्था में भी इसका प्रबल विरोध नहीं किया गया।

ब्राह्मणादि चार वर्णो के अतिरिक्त कौटिल्य ने अनेक वर्णसंकर जातियों का भी उल्लेख किया है। इनकी उत्पत्ति धर्मशास्त्रों की भाँति विभिन्न वर्गो के अनुलोम और प्रतिलोम विवादों में बताई गई। जिन वर्णसंकर जातियों का उल्लेख है वे है अम्वष्ट

, निषाद,पारशव, रथकार, क्षत्ता, बेदेहक, मागध, सूत, पुल्लकस, वेण, चांडाल, श्वपाक इत्यादि। इनमें से कुछ आदिवासी जातियाँ थी, जो निश्चित व्यवसाय से आजीविका चलाती थी। कौटिल्य ने चांडालों के अतिरिक्त अन्य सभी वर्णसंकर जातियों को शुद्र माना है। इनके अतिरिक्त तंतुवाय (जुलाहे), रजक (धोबी), दर्जी, सुनार, लुहार, बढ़ई आदि व्यवसाय पर आधारित वर्ग, जाति का रूप धारण कर चुके थे। अर्थशास्त्र में इन सबका समावेश शूद्र वर्ण के अंतर्गत किया गया है। अशोक के शिलालेखों में दास और कर्मकर का उल्लेख है जो शूद्र वर्ग के अंदर ही समाविष्ट किए जाते है।

जातिप्रथा की कुछ विशेषताओं की पुष्टि मेगस्थनीज की इंडिका से होती है। मेगस्थनीज ने लिखा है कि कोई भी व्यक्ति अपनी जाति के बाहर विवाह नहीं कर सकता, ने वह अपने व्यवसाय को दूसरी जाति के व्यवसाय में बदल ही सकता है। केवल ब्राह्मणों को ही अपनी विशेष स्थिति के कारण यह अधिकार प्राप्त था। धर्मशास्त्रों में भी ब्राह्मणों को आपातकाल में क्षत्रिय तथा वैश्व का व्यवसाय अपनाने की अनुमति दी गई है।

मेगस्थनीज द्वारा भारतीय समाज का वगीकरण, भारतीय ग्रंथों में वणित वर्गीकरण से भिन्न है। मेगस्थनीज ने भारतीय समाज को सात जातियों में विभक्त किया है।- (1) दार्शनिक, (2) किसान, (3) अहीर, (4) कारीगर या शिल्पी, (5) सैनिक, (6) निरीक्षक, (7) सभासद तथा अन्य शासक वर्ग। मेगस्थीनज का यह वर्णन भारतीय वर्णव्यवस्था या जातिव्यवस्था से मेल नहीं खाता।

दार्शनिकों की जाति को मेगस्थनीज दो श्रेणियों में विभक्त करता है-

ब्राह्मण और श्रमण। ब्राह्मण 37 वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करके ग हस्थाश्रम में प्रवेश करते थे। ब्राह्मणों की व त्ति के संबंध में मेगस्थनीज लिखता है कि यज्ञ, अंत्येष्टि किया तथा अन्य धार्मिक कृत्य करवाने के बदले में उन्हे बहूमूल्य दक्षिणा मिलती है। श्रमणों को भी दो श्रेणियों में बाँटा गया है। जो वनों में रहते है थे और कंद मूल-फलों पर आजीविका चलाते थे इन्हें वेखानस या वानप्रस्थ आश्रम से संबंद्ध माना जा सकता है। दूसरी श्रेणी के श्रमण वे थे जो आयुर्वेद में कुशल होते थे और समाज में सम्मानित थे। मेगस्थनीज के श्रमण, ब्राह्मण, वानप्रस्थाश्रम अथवा संन्यासियों से अधिक मेंल खाते है, जैन और बौद्ध श्रमणों से नहीं। मौर्यकालीन भारतीय समाज का जो सप्तवर्गीय चित्रण मेगस्थनीज ने प्रस्तुत किया है उसमें जाति वर्ण और व्यवसायों के अंतर को भुला दिया गया है। संभवतः एक विदेशी होने के कारण मेगस्थनीज़ भारतीय समाज की जटिलताओं को समझने में असमर्थ था।

परिवार में स्त्रियों की स्थिति स्म तिकाल की अपेक्षा अब अधिक सुरक्षित थी। उन्हें पुनर्विवाह तथा नियोग की अनुमति थी। किंतु फिर भी मौर्यकाल में स्त्रियों की स्थिति को अधिक उन्नत नहीं कहा जा सकता। उन्हें बाहर जाने की स्वतंत्रता नहीं थी और पति की इच्छा के विरुद्ध वे कोई कार्य नहीं कर सकती थी। संभ्रांत की स्त्रियाँ प्रायः घर के ही अंदर रहती थी। कौटिल्य ने ऐसी स्त्रियों को 'अनिष्कासिनी' कहा है। राजघराने के अंतःपुर का उल्लेख अर्थशास्त्र तथा अशोक के अभिलेखों में है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से सती प्रथा के प्रचलित होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस समय के धर्मशास्त्र इस प्रथा के विरूद्ध थे बौद्ध तथा जैन अनुश्रुतियों में भी इसका कोई उल्लेख नहीं है किन्तु यूनानी लेखकों ने उत्तर पश्चिम में सैनिकों की स्त्रियों के सती होने का उल्लेख किया है। योद्धा वर्ग की स्त्रियों में सती की यह प्रथा प्रचलित रही होगी।

मौर्य युग में भी बहुत-सी स्त्रियाँ ऐसी थी जो विवाह द्वारा पारिवारिक जीवन न बिताकर गणिका या वैश्या के रूप में जीवन-यापन करती थीं। वे अनेक प्रकार से राजा का मनोरंजन करती थी। स्वंतत्र रूप से वैश्याव त्ति करने वाली स्त्रियाँ 'रूपाजीवा' कहलाती थीं। इनसे राज्य को आय होती थी। इनके कार्यो का निरीक्षण गाणिकाध्यक्ष तथा एक राजपुरुष करता था। बहुत-सी गणिकाएँ गुप्तचर विभाग में भी काम करती थी।

नगरों का जीवन चहल-पहल का था। नट, नर्तक, गायक, बवादक, तमाशा दिखाने वाले, रस्सी पर नाचले वाले तथा मदारी गाँवों और नगरों में अपनी कला का प्रदर्शन करते थे। इन कलाकारों के गांवों में प्रवेश पर निषेश था किन्तु नगरों में ऐसा प्रतिबंध नहीं था। नगरों में प्रेक्षाएँ लोकप्रिय थी। स्त्री और पुरुष कलाकार दोनों प्रेक्षाओं में भाग लेते थे। इन्हें रगोपजीवी तथा रंगोपजीविनी कहते थे।

विहार, यात्रा समाज, प्रवहण अन्य माध्यम थे जिनके द्वारा जनता सामूहिक रूप से अपना मनोरंजन करती थी। एक प्रकार के समाज वे थे जिनमें लोग सुरापान, मांस भक्षण तथा मल्लयुद्ध को देखकर मनोरंजन करते थे। अशोक को ये समाज पंसद नहीं थे, अतः उसने नए समाजों का प्रारंभ किया जिनमें हस्ति, अग्निस्तंभ तथा विमानों की झाँकियाँ दिखाई जाती थी ताकि लोगों में धर्माचरण को प्रोत्साहन मिले।

कुछ ऐसे समाज भी थे जो सरस्वती के भवन में अयोजित होते थे और इनमें साहित्य नाटकों का अभिनय तथा गाष्ठियों का आयोजन होता था। विहार यात्राओं में म गया ओर सुरापान की प्रधानता रहती थी। अशोक ने इन यात्राओं को बंद करवा दिया और धम्म यात्राओं को प्रारंभ किया जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके है। प्रवहण भी एक प्रकार के सामूहिक समारोह थे जिनमें भोज्य ओर पेय पदार्थो का प्रचुरता से उपयोग किया जाता था।

दास प्रथा

मैगस्थनीज ने लिखा है कि सभी भारतवासी समान है और इनमे कोई दास नहीं है। डायोडोरस ने लिखा है कि "कानून के अनुसार उनमें से कोई भी किसी भी परिस्थिति में दास नहीं हो सकता।" मेगस्थनीज को ही उद्धत करते हुए स्ट्रांबो का कहना है कि "भारतीयों में किसी ने अपनी सेवा में दास नहीं रखे।" एक अन्य स्थल पर स्ट्रोबो ने कहा कि "चूँकि उनके पास दास नहीं है, अतः उन्हें बच्चों की अधिक आवश्कता है।

विदेशी शक्तियों के उपरोक्त वक्तयों को शब्दशः स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि कम-से-कम बुद्ध के काल से ही दासों को उत्पादान के काम में लगााया जाता था और पाली त्रिपिटक में इसके असंख्य उल्लेख हैं अतः उपरोक्त विवरणों की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की जा सकती है। हो सकता है। कि मेगस्थनीज़ को भारत में दासों के प्रति स्वामियों द्वारा किया गया व्यवहार निर्मल ओर सद्भावना पूर्ण लगा हो अथवा यह भी संभव है कि उसने किसी विशेष क्षेत्र का ही उल्लेख किया हो। एक स्थान पर तो कौटिल्य ने भी लिखा है-न त्वेवार्यस्य दासभावः अर्थात् "किसी भी परिस्थिति मे आर्य के लिए दासता नहीं होगी।" इस संदर्भ में मेगस्थनीज के कथन का यह अर्थ हो सकता है कि स्वतंत्र लोगों की आजीवन दासता में परिणत करने की सीमाएँ थीं।

मौर्यकालीन अर्थव्यवस्था में दासों का महत्वपूर्ण योगदान था। त्रिपिटक की तुलना में कौटिल्य ने कहीं अधिक विस्तार से दासों का वर्गीकरण किया हैं जहाँ त्रिपिठक में दासों के चार प्रकार बताए गए है, कौटिल्य ने नौ का उल्लेख किया है। और फिर 'दास कल्पः' नामक खण्ड में दिए गए नियम उस तीसरे अध्याय के अंग हे जिसमें कानूनी मामलों की चर्चा है। इस का अर्थ यह हुआ कि कौटिल्य ने दास प्रथा की कानूनी वैधता को स्वीकार किया था। बौद्ध ग्रंथों एवं कौटिलीय अर्थशास्त्र में उत्पत्ति एवं कार्यो के आधार पर किए गए दासों के वर्गीकरण से सपष्ट है कि वे संपत्ति का एक रूप थे। अब दास प्रथा केवल आर्थिक कारणों से संबंधित थी न कि सांस्क तिक तथा न जातीय (ethnical) विभिन्तओं पर।

सांराशतः मौर्य राज्य एक भव्य साम्राज्य के रूप में उदय हुआ जिसमें सत्ता का क्रेन्द्रीकरण हुआ, विकसित अधिकारी तन्त्र तथा समुचित न्यायव्यवस्था प्रतिस्थापित हुई, नगर, शासन, कृषि, शिल्प उद्योग, संचार व्यापार एवं वाणिज्य की खूब व द्धि हुई तथा प्रजा के कल्याण के लिए उचित कदम उठाए गए। यदि यह कहा जाए कि मौर्य साम्राज्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्रतिपादित राजतन्त्र तथा अर्थतन्त्र के सिद्धान्तों का कुछ अपवादों को छोडकर व्यवहारिक रूप था तो अतिशियोक्ति न होगी।

राजा के अधिकार व कर्तव्य

गुप्तकाल में राजत्व के स्वरूप में क्या-क्या परिवर्तन हुए, इसका पता लगाना कठिन है। सातवाहनों के विपरीत गुप्तों के राज्य में राजकीय उत्तराधिकार विशुद्ध रूप से पैत क था। गुप्त सम्राटों ने अपनी माताओं के नामों का उल्लेख तो किया है, किंतु प्रशासन में महिलाओं की कोई कारगर भूमिका नहीं थी। द्वितीय चंद्रगुप्त की पुत्री प्रभावती गुप्ता ने वाकाटक राज्य की संरक्षिका का काम किया, लेकिन गुप्तों के राज्य में ऐसे उदाहरण नहीं मिलते। किंतु ज्येष्ठाधिकार, अर्थात अन्य पुत्रों को छोड़कर केवल ज्येष्ठ पुत्र को ही उत्तराधिकार सौंपे जाने का नियम, सुस्थापित नहीं हो पाया था। कभी-कभी ज्येष्ठ पुत्रों के रहते कनिष्ठ पुत्र भी सिंहासन पर बैठते थे, और कुछ विद्वानों के अनुसार 467 ईस्वी में स्कंदगुप्त की म त्यु के बाद उसके साम्राज्य को सिंहासन के दो दावेदार राजकुमारों के बीच विभाजित करना पड़ा। अग्रज के बाद अनुज के राजा बनने की विचित्र प्रथा गुप्तों के अधीनस्थ राजवंश वलभी के मैत्रकों में तो प्रचलित थी, किंतु स्वयं गुप्तों के बीच नहीं।

सिक्कों और अभिलेखों में गुप्त राजाओं को मुख्यतः योद्धा और सेनापति के रूप में चित्रित किया गया है। इन्हें शिकार और युद्ध बहुत प्रिय थे। राजा मंत्रियों, सेनानायकों, क्षेत्रीय शासकों आदि की नियुक्ति करता था। वह अपने सामंतों और अधीनस्थ राजाओं का अभिनंदन स्वीकार करता था, और परमेश्वर, महाराजाधिराज, परमभट्टारक आदि आडंबरयुक्त उपाधियों से प्रकट होता है कि उसके साम्राज्य में ऐसे छोटे-छोटे राजे और सरदार भी थे जिनसे उसे किसी न किसी प्रकार का संधि संबंध स्थापित करना पड़ा था।

गुप्तों के अभिलेखों से लगता है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि की तरह वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करना गुप्त राजा का भी एक प्रमुख कर्तव्य था। राजा का दूसरा महत्त्वपूर्ण दायित्व प्रजा की रक्षा करना बताया गया है। उसे हजारों स्वर्ण मुद्राओं का दाता कहा गया है। सुरक्षा प्रदान करने के बदले राजा करग्रहण का अधिकारी है, इस पुरानी मान्यता को कतिपय गुप्तकालीन स्म तियों में दुहराया गया है लेकिन अब इस पर उतना जोर नहीं दिया जाता है जितना पहले दिया जाता था। इसके विपरीत, हमें एक नई महत्त्वपूर्ण प्रव त्ति का आभास लिमता है। कात्यायन के मतानुसार राजा इसलिए कर पाने का हकदार है कि वही भूमि का मालिक है। यह सिद्धांत राजत्व को सामंती स्वरूप प्रदान करता है और इससे राजा को भूमि अनुदान देने का कानूनी अधिकार प्राप्त होता है, पर यह अधिकार इस अर्थ में सीमित था कि अनुदान देते समय उसे उन सभी लोगों से परामर्श करना पड़ता था और उन सबको दान की सूचना देनी पड़ती थी जिसे किसी का भी उस किसी प्रकार हित निहित होता था।

शक्ति से राजपद को जोड़ना

गुप्त राजाओं के अधीन राजत्व में जो एक अन्य परिवर्तन लक्षित होता है वह गुणात्मक नहीं, बल्कि परिमाणात्मक है। उसका संबंध राजपद में दैवी शक्ति के अरोपण से है। सातवाहन राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि की तरह गुप्त राजाओं की तुलना बार-बार यम, वरूण, इंद्र, कुबेर आदि विभिन्न देवताओं से की गई है। लोगों के पालन और रक्षा के राज कर्तव्य को ध्यान में रखते हुए उनकी तुलना विष्णु से की गई है। अनेक गुप्त सिक्कों पर विष्णु की पत्नी और ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मी की आकृति अंकित है। संभव है कि गुप्त राजाओं के वैष्णव मतावलंबी होने से उनके कुछ राजनीतिक उद्देश्यों की भी पूर्ति होती होगी। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि उन्हें देव कहा गया है। इस तरह उन्हें कुषाण राजाओं की तरह देवपुत्र के रूप में नहीं; बल्कि स्पष्ट रूप से स्वयं देवता के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

राजा पर अंकुश

गुप्त राजाओं में दैवी तत्वों के आरोपण के बावजूद यह मानना गलत होगा कि कानूनी तौर पर वे स्वेच्छाचारी थे। सिद्धांततः गुप्त राजा धर्मशास्त्रों में विहित नियमों का पालन करने को कर्तव्यबद्ध थे। और व्यवहारतः देखें तो इन विधियों के मुख्य अभिरक्षक और व्याख्याता ब्राह्मण लोग राजसत्ता पर जबरदस्त अंकुश रखते थे। इसके अतिरिक्त राजा को व्यापारियों और शिल्पियों के संघों तथा अन्य सामुदायिक संस्थाओं को भी अपनी सत्ता में साझेदार बनाकर चलना होता था। उस इनके निर्णयों को अनुमोदन करना पड़ता था और इनके रीति-रिवाजों का पालन कराना होता था। सबसे बड़ी बात तो यह है कि अनुदानभोगी

महासांधिविग्रहिक था। उसी क्षेत्र से हमें भोगिकों की दो-दो और कभी-कभी तीन-तीन पीढियों के द ष्टांत मिलते हैं। किंतु ये अधिकारी सीधे गुप्त राजाओं की सेवा में नहीं, बल्कि उनके सामंतों की सेवा में थे। मगर पुंड्रवर्धन भुक्ति के शासन की देखरेख करनेवाले उपरिकों के कुलनाम (सरनेम) दत्त से यह संकेत मिलता था कि वे संभवतः एक ही वंश के थे। सिद्धांततः तो इन अधिकारियों का पदारूढ़ रहना न रहना सम्राट की इच्छा पर निर्भर था, किंतु व्यवहारतः ये और इनके वंशज अपनी स्थानीय शक्ति के कारण अपने पद पर कायम रहे। इसके अतिरिक्त, एक ही व्यक्ति के अनेक पदों पर आरूढ़ रहने के कारण भी इन अधिकारियों के प्रभाव और शक्ति की अभिव द्धि होती थी। उदाहरण के लिए, हरिषेण कई महत्वपूर्ण पदों को एक साथ सँभाले हुए था। इसी तरह एक कुमारामात्य महाश्वपति और महादंडनायक भी था।

हमें ठीक-ठीक मालूम नहीं कि गुप्त साम्राज्य में अधिकारियों को भुगतान कैसे किया जाता था। बहुत-सी गुप्तकालीन स्वर्ण मुद्राओं की प्राप्ति, बंगाल में जमीन की खरीद-बिक्री में इनके उपयोग और हिरण्य नामक कर के प्रचलन से यह संकेत मिलता है कि कम से कम उच्च अधिकारियों को नकद भुगतान किया जाता था। इस संबंध में उपलब्ध चीनी साक्ष्य पूरी तरह स्पष्ट नहीं है। फाहियान के एक अवतरण का लेगें ने जो अनुवाद प्रस्तुत किया है उससे विदित होता है कि राजा के सभी अंगरक्षकों और परिचाराको को नियमित वेतन मिलता है। लेकिन बील ने इसका दूसरी तरह से किया है : राजा के सभी मुख्य अधिकारियों के निमित्त कुछ राजस्व रख छोड़े गए हैं। हाल में एक चीनी विद्वान ने इस महत्त्वपूर्ण अवतरण का अनुवाद इस प्रकार किया है : 'राजा के सभी परिचारकों, रक्षकों और परिचरों को परिलब्धियां (इमाल्युमेंट्स) और पेंशन दी जाती है। यदि हम अंतिम अनुवाद को स्वीकार करें तो परिलब्धियां शब्द के अर्थ की व्यापकता को देखते हुए ऐसा मान सकते हैं कि उसमें राजस्व अनुदान भी शामिल रहा होगा। इस प्रकार, ऐसा प्रतीत होता है कि नौकरशाही को नकद और राजस्व अनुदान, दोनों रूपों में भुगतान किया जाता था।

उच्चाधिकारियों की इन श्रेणियों के अलावा अभिलेखों में दर्जन से ऊपर अन्य छोटे-बड़े अधिकारियों का भी उल्लेख हुआ है, जिन पर हम गुप्त शासन पद्धति के सैनिक, राजस्विक और ग्रामीण पहलुओं की चर्चा के संदर्भ में विचार करेंगें। यद्यपि गुप्त कर्मचारिवर्ग (इस्टैब्लिशमेंट कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' में विहित कर्मचारिवर्ग के जितना बड़ा नहीं था, लेकिन साथ ही वह नगण्य या शक्तिहीन भी नहीं था। जमीन की खरीद बिक्री संबंधी प्रलेखों (रेकार्ड्स) से यह स्पष्ट है कि जब तक पुस्तपाल (अभिलेखपाल) इस आशय का प्रमाणपत्र नहीं दे देता था कि अमुक भूमि बिक्री के लिए उपलब्ध है और जब तक विषयपति (जिलाधिकारी) उसका अनुमोदन नहीं कर देता था तब तक वह भूमि बेची नहीं जा सकती थी। अधिकारियों के वंशानुगत स्वरूप और नकद भुगतान के चलने के ह्रास से यह संकेत मिलता है कि निहित स्वार्थों का विकास करने की द ष्टि से गुप्त साम्राज्य की नौकरशाही मौर्य नौकरशाही की अपेक्षा कहीं अधिक अनुकूल स्थिति में थी।

सैनिक व्यवस्था

समुद्र गुप्त की दिग्विजय तथा द्वितीय चंद्रगुप्त और स्कंदगुप्त द्वारा किए गए अनेक युद्धों के बावजूद गुप्तों की सैनिक व्यवस्था के बारे में हमारी जानकारी बहुत कम है। गुप्त सिक्कों और अभिलेखों से हम सिर्फ सेना की रचना के बारे में थोड़ा बहुत अनुमान लगा सकते हैं। हालांकि कुछ गुप्त राजाओं को उत्कृष्ट और अद्वितीय रथी कहा गया है, लेकिन उनके सिक्कों पर प्रायः घुड़सवारों की आकृतियां ही मिलती हैं। सिक्कों पर धुनधरों की आकृतियों भी मिलती है, जिनसे सेवा में अश्व-धनुर्विद्या और अश्वारोहियों का महत्त्व प्रकट होता है। अश्वारोही सेना का बढ़ता हुआ महत्त्व मुद्राओं और अभिलेखों से भी सिद्ध होता है। इनमें अश्वपति, महाश्वपति और भटाश्वपति का उल्लेख मिलता है। जाहिर है कि ये सब अश्वरोही सेना के नायक थे। पूर्वकालीन गुप्त-अभिलेखों में हस्तिप्रबंध से संबंधित किसी अधिकारी का जिक्र नहीं मिलता। बंगाल से प्राप्त छठी शताब्दी के एक अभिलेख में पिलुपति शब्द का उल्लेख मिलता है, पर हम निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि पूर्ववर्ती गुप्त राजाओं के अधीन इस पद का कोई विशेष महत्त्व था या नहीं। सेना के अन्य अंगों के सेनापतियों के क्या-क्या पदनाम थे, इसकी जानकारी अभी तक अभिलेखों से नहीं मिल सकी है। महाबलाधिकृत, महाप्रतीहार और गौल्मिक कतिपय अन्य सैनिक अधिकारी है। अंतिम दो के नाम प्राग्गुप्त अभिलेखों में भी मिलते हैं, पर पहला कोई नया सैनिक अधिकारी है जिसका उल्लेख पहली बार इसी काल में मिलता है।

अधिकारी को हिरण्य सामुदायिक कहा है, और बंगाल से प्राप्त छठी शताब्दी के पूर्वार्ध क एक अभिलेख में उसका उल्लेख हुआ है। इस अधिकारी का उल्लेख चूंकि जिंसों में कर वसूल करनेवाले अधिकारी औदरंगिक के साथ हुआ है, इसलिए स्पष्ट ही उसका काम नकद कर वसूल करना रहा होगा।

व्यापार की वस्तुओं पर लगे शुल्कों की उगाही करने से संबंधित संभवतः एकमात्र अधिकारी शौल्किक था, यद्यपि बंगाल में एक एसे अधिकारी का भी उल्लेख देखने को मिलता है जिसका संबंध व्यापार विभाग से था। छठी सदी के पूर्वार्ध में कुछ ऐसे क्षेत्रों में, जो गुप्तों के अधीनस्थ राजाओं के शासन थे, और्णस्थानिक नामक एक अधिकारी का उल्लेख मिलता है। उसका संबंध बंगाल के ऊन बाजार के नियंत्रण से था। इसी काल में गुजरात में द्रंगिक कहे जानेवाले अधिकारी का जिक्र मिलता है, जिसका काम सीमावर्ती नगरों में सीमा शुल्क वसूल करना था।

प्रशासनिक इकाईयां

प्रशासन की सुविधा के लिए राज्य को विभिन्न प्रशासनिक इकाई में बाँटा हुआ था-

प्रान्त

अभिलेखों से ज्ञात होता है कि सुव्यवसिति प्रांतीय और स्थानीय प्रशासन का विकास सबसे पहले गुप्त राजाओं ने ही किया। इस प्रशासन का मुख्य कार्य राजस्व वसूल करना और शांति एवं व्यवस्था कायम रखना था। साम्राज्य के जिन क्षेत्रों पर गुप्त राजाओं का प्रत्यक्ष नियंत्रण था वे प्रांतों में बंटे हुए थे। इन प्रांतों का आकार मौर्य प्रांतों से छोटा किंतु आधुनिक प्रमंडल (डिवीजन) से बड़ा होता था।

भुक्ति

गुप्तों के अधीन भुक्ति सबसे बड़ी प्रशासनिक इकाई जान पड़ती है। बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में ऐसे कम से कम छः भुक्तियां थीं। भुक्ति का प्रधान उपरिक होता था। इस उच्च पद की सही स्थिति अब तक ज्ञात नहीं हो पाई है। शायद मूलतः इसका कुछ संबंध किसानों पर निश्चित वार्षिक कर के ऊपर से लगाए गए उपरिकर नामक अतिरिक्त कर की वसूली से था। यह अधिकारी निस्संदेह गुप्त राजा द्वारा नियुक्त क्षेत्रीय शासक था, लेकिन भुक्ति के शब्दार्थ से ऐसा भासित होता है कि यह क्षेत्र उसे इसलिए नहीं दिया जाता था कि वह इसके हितों को ध्यान में रखकर इस पर शासन करे, बल्कि इसलिए सौंपा जाता था कि वह इसका उपभोग करे। दुख की बात है कि भुक्ति के प्रधान के कार्यों की हमें कोई जानकारी नहीं है।

विषय/जिला

भुक्ति विषयों या जिलों में विभक्त होती थी। विषयों की संख्या की जानकारी हमें नहीं है। राजग ह, पाटलिपुत्र और गया, ये तीन विषय मगधभुक्ति में शामिल थे, और यदि हम समुद्रगुप्त के नाम से जारी किए गए जाली नालंदा अनुदानपत्र में दिए गए भौगोलिक ब्यौरों को मानकर चलें तो इसमें क्रिमिला विषय भी आता था। इस विषय में मोटे तौर पर आधुनिक मुंगेर और बेगूसराय जिलों के क्षेत्र आते थे। वैशाली तीर भुक्ति का एक महत्त्वपूर्ण नगर था और कोई आश्चर्य नहीं कि यह एक विषय का मुख्यालय भी रहा हो, लेकिन विषय के रूप में इसका उल्लेख केवल एक मुहर में हुआ है, और उस मुहर के लेख को भी जैसा पढ़ा गया है वह सही है या नहीं यह कहना कठिन है। पुंड्रवर्धनभुक्ति में 'कोटिवर्ष विषय' एक प्रसिद्ध प्रशासनिक इकाई था। आरंभ में यह विषय कुमारामात्य के अधीन था, लेकिन बाद में विषयपति को इसका प्रधान बनाया गया। बंगाल और बिहार में सामान्यतया विषयपति विषय का प्रधान होता था और स्थानीय अधिकरण की सहायता से शासन चलाता था। लेकिन पश्चिमी उत्तर प्रदेश में एक विषयपति भाग नामक प्रशासनिक इकाई का प्रधान था। कोटिवर्ष विषय का विषयपति अपनी सत्ता और शासन किस प्रकार चलता था इसकी कुछ जानकारी हमें हे इसकी सत्ता का आधार हस्तिसैनिकों, अश्वारोहियों तथा पदाति सैनिकों से युक्त सेना थी और इस सेना का खर्च शायद उस विषय से प्राप्त राजस्व से चलता था। संभवतः प्रत्येक विषय में एक सशक्त सैनिक टुकड़ी रखी जाती थी, जो आवश्यकता पड़ने पर सिविल अधिकारियों की सहायता करती थी।

विथि

परिवारों का निगमित संगठन। आठ की संख्या संभवत परंपरा से चली आ रही हो, तथा व्यवहार में यह संख्या कम या ज्यादा हो सकती है। ये परिवार एक ही जाति के होते थे या आठ प्रमुख जातियों और पेशों के प्रतिनिधि रूप होते थे, यह स्पष्ट नहीं है। अधिक संभावना इसी बात की है कि सभी परिवार एक ही जाति के होते थे, लेकिन यहां परिवार को आज की छोटी पारिवारिक इकाई के अर्थ में नहीं, बल्कि द्रायाद की ब हत्तर परिधि के अर्थ में लिया जाना चाहिए। बंगाल के अभिलेखों से यह स्पष्ट है कि उनकी सहमति के बिना जमीन का कोई सौदा नहीं हो सकता था, और हम बेखटके ऐसा मान सकते हैं कि अन्य स्थानीय मामलों में भी उनकी आवाज का काफी असर था।

मध्य भारत के कुछ क्षेत्रों में देहाती इलाकों के स्थानीय मामलों का प्रबंध पंचमडली नामक पांच सदस्यों की एक संस्था करती थी। एक धार्मिक अनुदान देते हुए दाता ने इस मंडली का अभिवादन किया हैं इस संस्था करती थी। एक धार्मिक अनुदान देते हुए दाता ने इस मंडली का अभिवादन किया है। इस संस्था में हमें परवर्ती काल में राजस्थान तथा गुजरात में मिलनेवाले पंचकुलों और आगे चलकर देशभर में फैल जानेवाली पंचायतों का आदिरूप देखने को मिलता है। पंचमंडली के गठन की जानकारी हमें नहीं है, लेकिन इसके निगमित रूप में कोई संदेह नहीं है।

ये जनपद अपनी मुहरें और अपने सिक्के भी चलाते थे। स्पष्ट है कि यद्यपि राजस्विक तथा प्रशासनिक प्रयोजनों के लिए कई जनपद नालंदा में शामिल थे, फिर भी उनका इतना अधिक महत्त्व था तथा उन्हें इतनी सवायत्तता प्रपत थी कि वे अपनी अलग मुहरें रख सकते थे। इन मुहरों से उनके निगमित स्वरूप का भी प्रमाण मिलता है। बड़े-बड़े जनपदों की व्यवस्था के लिए पंचमंडली के गठन की सिफारिश की गई है और जान पड़ता है, इसका चलन गुप्तकाल के पूर्व ही प्रारंभ हो चुका था।

वैशाली के आसपास शहरों या गांवों में एक प्रकार की परिषदें भी काम करती थी। उदाहरण के लिए, एक परिषद उदानकूप में थी। लेकिन यह कहना कठिन है कि यह गांव की समस्याओं से निबटनेवाली कोई पंचायत थी या धर्मशास्त्रों में विहित नियमें की व्याख्या करनेवाली विद्वान ब्राह्मणों की कोई समिति। राजा को याज्ञवल्क्य का आदेश है कि वह लोगों से उनके परिवारों, जातियों, श्रेणियों, संघों या गावों (जानपदान) के नियमों का पालन कराए। मनु ने भी ऐसे नियमों का महत्त्व स्वीकार किया है। इस सबसे संकेत मिलता है कि नालंदा क्षेत्र के सभी जानपदों के अपने अलग नियम थे, जिनका आदर राजा भी करता था।

इन संस्थाओं के अस्तित्व से यह जरूरी नहीं कि ग्रामीण लोग, प्रशासन में लोकतांत्रिक रीति से भाग लेते थे। इसका मतलब ज्यादा से ज्यादा जैसा कि R.S. Sharma कहते है यही हो सकता है कि थोड़ी बहुत सत्ता का उपभोग राज्य कर्मचारियों से इतर वर्ग के एसे लोग भी करते थे जिनके समर्थन के बिना प्रशासन नहीं चल सकता था। समकालीन ग्रंथों में प्रयुक्त 'ग्रामाधिपति' और 'ग्रामस्याधिपति' शब्दों से ऐसा जान पड़ता है कि ग्रामप्रधान को गांव का अधिपति माना जाता था। यहद हम वात्स्यायन के 'कामसूत्र' के साक्ष्य का विश्वास करके चलें तो पश्चिम भारत में, जहां इस ग्रंथ की रचना हुई, 'ग्रामाधिपति आयुक्त' संज्ञा से अभिहित ग्रामप्रधान अपने क्षेत्र में शायद सर्वशक्तिमान होता था। वह कृषक स्त्रियों को अपना धान्यागार भरने, विभिन्न वस्तुएं अपने कार्यालय में ले जाने और वहां से ले आने, अपने आवास की सफाई और सजावट करने, अपने खेतों में काम करने और अपने कपड़े के लिए कपास, ऊन, सण या पटसन से सूत कातने को विवश कर सकता था।

ग्राम प्रशासन का बढ़ता हुआ दायरा गुप्त प्रशासन का एक महत्त्वपूर्ण पहलु है। इस नई प्रव त्ति का कारण यह था कि राज्य ने न तो इतने अधिक कर लगाए कि उनकी आमदनी से अधिकारियों का एक बड़ा संगठन कायम रखा जा सकता था और न उसके पास इतनी ताम्रमुद्राएं थीं कि वह छोटे-छोटे अधिकारियों को सुविधापूर्वक वेतन दे सकता स्वभावतः किसी समय केंद्रीय सरकार द्वारा संपादित किए जानेवाले बहुत-से कार्यो का दायित्व ग्राम प्रशासन पर आ गया, जिस पर किसी एकताबद्ध और समत्ववादी समुदाय का सामूहिक नियंत्रण नहीं था, बल्कि जिसमें भूस्वामियों तथा अन्य प्रभावशाली लोगों का बोलबाला था।

नगर प्रशासन

गुप्त साम्राज्य के कम से कम बंगाल में पड़नेवाले हिस्से में नगरों की व्यवस्था पुरपात नामक अधिकारी के अधीन थी, लेकिन प्रशासन कार्य में प्रमुख स्थानीय तत्वों का सहयोग भी लिया जाता था। जहां तक उत्तर भारत का संबंध है, मुहरों और अभिलेखों को देखने से प्रकट होता है कि गुप्तकाल व्यापारियों और शिल्पियों के संघों के चरमोत्कर्ष का युग था। वैशाली, भीटा (इलाहाबाद के निकट), इंदौर (बुलंदशहर के पास) और मंदसौर (मालवा स्थित) जैसे नगरों में ऐसे संघ खूब क्रियाशली थे। स्पष्ट है कि नगरों के प्रशासन की अच्छी खासी जिम्मेदारी इनके ऊपर थी।

ने कानून को अलग-अलग अठारह शीर्षकों में बांटा है और बताया है कि इनमें से चौदह का मूल संपत्ति में (धर्ममूल) और चार का हिंसा में (हिंसामूल) निहित है। पहले की तुलना कौटिल्य के धर्मस्थीय विभाग से और दूसरे की कंटकशोधन विभाग से की जा सकती है। लेकिन जहां कौटिल्य में दंड विधान का प्रशासन महत्त्वपूर्ण जान पड़ता है, ब हस्पति में सिविल विधान का। गुप्तकाल में जमीन पर निजी स्वामित्व का विकास हुआ और अब उसकी खरीद-बिक्री भी होने लगी। इसलिए इस काल के विधिग्रंथों में हमें जमीन के बंटवारे, बिक्री, बंधक और पट्टे के संबंध में विस्त त कानून देखने को मिलते है। इस सबसे प्रकट होता है कि चीजों को बुद्धिपूर्वक देखने-समझने की दिशा में काफी प्रगति हुई थी, किंतु विचित्र बात यह है कि न्यायप्रक्रिया में हम तब भी अंधविश्वासों का कुछ बोलबाला देखते हैं मनु ने इस प्रक्रिया के संबंध में मात्र दो परीक्षाओं का विधान किया है, लेकिन याज्ञवल्क्य तथा नारद ने पांच और ब हस्पति ने नौ परीक्षाएं सुझाई है।

गुप्तकाल के विधिग्रंथों में न्यायालय के गठन और साक्ष्य संबंधी नियम विस्तार से विहित किए गए है। राजा से कम से कम तीन सभ्यों की सहायता से विवाद का निर्णय करने को कहा गया है। सभ्यों के रूप में सह ब्रह्मणों को ही चुने, यह आवश्यक नहीं है, लेकिन शूद्रों का चयन वर्जित है। अभिलेखों में विषय-अधिष्ठान स्तर की या ग्राम-स्त की अष्टसदस्यीय व्यवस्था समिति अथवा वीथिस्तर की प्रबंध समिति का वर्णन करने के लिए जिस 'अधिकरण' शब्द का प्रयोग हुआ है। उसे सातवीं शताब्दी की साहित्यिक कृतियों में न्यायालय के अर्थ में भी लिया गण है। 'म च्छकटिक' में एक ऐसे न्यायलय का वर्णन है जिसमें अधि ाकरण, श्रेष्ठि और कायस्थ शामिल है।

संभवतः दीवानी न्यायालय महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक केंद्रों में काम करते थे। नालंदा में प्राप्त दो मुहरें, जिनमें 'धर्माधिकरण' शब्द का प्रयोग हुआ है (एक में एक नाम-श्री शिलादित्य-का भी उल्लेख), इसी ढंग के न्यायालय से संबधित जान पड़ती हैं और उनसे नालंदा में ऐसे न्यायालय के अस्तित्व का संकेत मिलता है।

विधिग्रंथों में एक के ऊपर एक कई श्रेणियों के स्थानीय न्यायालयों की व्यवस्था की गई है। इनकी स्थापना तो राजा द्वारा नहीं की जाती है, लेकिन उससे इन्हे मान्यता प्रदान करने को अवश्य कहा गया हैं याज्ञवल्क्य तथा ब हस्पति ने स्थानीय न्यायालयों के तीन स्तरों का उल्लेख किया है- कुल, श्रेणि तथा पुग, और ब हस्पति कहता है कि कुल के निर्णय के विरूद्ध श्रेणि के फैसले के खिलाफ पुग में अपील की जाए। कात्यायन पुग के स्थान पर गण का उल्लेख करता है और इसी आरोहक्रम में दो और न्यायालय जोड़ देता है, जिनमें से एक तो है कोई प्राधिकृत व्यक्ति और दूसरा स्वयं राजा। स्म तिकारों के अनुसार, शिल्पियों, व्यापारियों आदि के अपने अलग न्यायालय भी हो सकते है, जो अपने-अपने समुदायों के लोगों के आपसी विवादों का निर्णय कर सकते हैं शिल्पियों, किसानों आदि को कात्यायन का सुझाव है कि वे अपने विवादों का निर्णय अपने महत्तरों से- जिनका उल्लेख गुप्त अभिलेखों में बार-बार हुआ है- करवाएं। गांवों से संबंधित जिस 'अष्टकुलाधिरिण' का उल्लेख पुरालेखों में हुआ है, वह स्पष्ट ही गुप्तकालीन विधिग्रंथों में उल्लिखित कुल न्यायालय का ही प्रतिरूप है। जो भी हो, विधिग्रंथों से ऐसा भासित होता है कि अलग-अलग पेशों के लोगों के संघ न्यायालय के रूप में काम करते थे, जिससे राजा की ओर से न्याय की व्यवस्था किए जाने की आवश्यकता बहुत हद तक दूर हो जाती थी।

गुप्तकाल के अंतिम दिनों में व्यापारियों के निगमों को राजपत्रों द्वारा काफी स्वायत्तता प्रदान की गई। इसका उदाहरण पश्चिमी भारत में 592 ई. में विष्णुषेण द्वारा जारी किया गया राजपत्र था। उसमें व्यापारियों को विभिन्न प्रकार के करों से मुक्त कर दिया गया, उन्हें श्रमिकों आदि से इच्छानुसार व्यवहार करने की स्वतंत्रता दी गई, तथा कुछ कारीगरों से बेठ-बेगार लेने का अधिकार दिया गया। उन व्यापारियों के इलाके में राज्य कर्मचारियों का प्रवेश वर्जित कर दिया गया। व्यापारी इन लोगों के खाने-पीने की सामग्री जुटाने तथा अन्य प्रकार के शुल्क देने से बरी कर दिए गए। उत्तर भारत के संदर्भ में ऐसा कोई राजपत्र प्राप्त नहीं हुआ है, लेकिन आश्चर्य नहीं कि इस क्षेत्र में भी वे जारी किए गए हों।

भूअनुदान प्रथा

गुप्तकाल में शासन प्रद्धति में अनेक परिवर्तन हुए। लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन अनुदान भोगियों को दी गई राजस्विक तथा प्रशासनिक छूटों और सामंत कहे जानेवाले विजित राजाओं के साथ स्थापित किए गए संबंधों के संदर्भ में हुए। द्वितीय प्रवरसेन वाकाटक के समय (पांचवीं सदी) से लेकर आगे के काल तक जो भी अनुदान दिए गए उन सबमें राजा गोचर भूमि, चर्म, काष्ठागार, नमक की खान, बेगार, और समस्त भूगर्भस्थ संपदा, अर्थात राजस्व के प्रायः सभी स्रोतों पर अपने अधिकार

अध्याय—8

सामाजिक-आर्थिक आधार

(Socio-Economic Basis)

इतिहास के किसी भी काल की समाजिक-आर्थिक दशा उस काल की राज्य व्यवस्था का स्वरूप निर्धारित करती है। किसी भी काल की सामाजिक-आर्थिक राजनीतिक धार्मिक स्थिति एव दूसरे की संरक्षक तथा पोषक तथा दिशा निर्देक होती है अतः किसी भी काल में किसी पक्ष को बेहतर समझने के लिए जरूरी हो जाता है कि अन्य पक्षों को भी देखा जाए अतः गुप्तकाल की प्रशासन व्यवस्था अर्थात राज्य व्यवस्था को समझने के लिए जरूरी हो जाता है कि उसकी समाजिक आर्थिक स्थिति को भी जाना जाए।

सामाजिक स्थिति

वर्ण व जाति प्रथा

गुप्तकालीन समाज पंरम्परागत चार वर्णो-ब्राह्ाण, क्षत्रिय वैश्य व शुद्र- में विभवनत था परन्तु जातियों की संख्या में व द्धि होने से वर्ण व्यवस्था में काफी बदलाव आ गया जान पड़ता हैं वह बात गुप्तोत्तर काल के पौराणिक पाठों से स्पष्ट हैं। मनु द्वारा उल्लिखित 61 जातियों के मुकाबले उनमें 100 जातियों का जिक्र किया गया हैं हूणों तथा बाद में गुर्जरों के बड़ी संख्या में भारत आकर राजपूतों के रूप में क्षत्रिय वर्ण में शामिल हो जाने से इस वर्ण का संख्या-बल खूब बढ़ा शूद्रों तथा अस्प श्य जातियों की संख्या में व द्धि मुख्य रूप से वनांचलीय कबीलों के वर्णसमाज में शामिल किए जाने का परिणाम थी। अकसर कारीगरों की श्रेणियां भी जातियों का रूप ग्रहण कर लेती थीं। कुछ विद्वानों की राय है कि भूमि या राजस्वों के हस्तांतरण का सिलसिला चल पड़ने के फलस्वरूप कायस्थ नामक एक नई जाति का जन्म हुआ जिन्होंने प्रलेखन पर ब्राह्मणों की इजारेदारी को कमजोरी कर दिया। यही कारण है बाद के ब्राह्मणीय लेखन में उनकी उल्लेख बहुधा तिरस्कारपूर्ण स्वर में किया गया है। उत्तर भारत में देहाती इलाकों में गांव के बुजुर्गो और मुखियों का एक वर्ग उदित हुआ जो महत्तर कहलाता था। उन्हे भूमि-हस्तांतरण के सभी मामलों की जानकारी देना अपेक्षित था। बाद में वे भी एक जाति के रूप में उभर आए।

गुप्तकालीन लेखन में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में स्पष्ट वर्ण-विभेद दिखाई देता है। वराहमिहिर के अनुसार, ब्राह्मण का घर पांच कमरों का, क्षत्रिय का चार का, वैश्य का तीन और शूद्र का दो कमरों का होना चाहिए। वह यह भी कहता है कि प्रत्येक वर्ण के घर के मुख्य कमरे की लंबाई और चौड़ाई वर्णविन्यास के अनुसार होनी चाहिए। विभिन्न वर्णो के लिए ब्याज की अलग-अलग दरें निर्धारित करने का पुराना दस्तूर गुप्तकाल में भी चालू रहा। गुप्तकाल में संकलित एक पौराणिक पाठ में श्वेत, लाल, पीत और काले, इन चार रंगों का संबंध क्रमशः ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों से बताया गया हैं इससे चारों वणों के तुलनात्मक दर्जे का पता चलता है। इस काल के लेखन में इस बात पर जोर दिया गया है कि ब्राह्मण को शूद्र का दिया भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे उसकी आध्यात्मिक शक्ति का क्षय होता है। कानूनी मामलों में भी वर्ण-भेद बरता जाता था। विधि-ग्रंथों का विधान है कि ब्राह्मण की सचाई की परीक्षा तुला से, क्षत्रिय की आग से, वैश्य की जल से और शुद्र की विष से की जानी चाहिए। जिन मुकदमों में जामिनों की जरूरत होती थी उनमें भी द्विजों तथ शूद्रों के बीच भेद किया गया। उत्तराधिकार के नियम भी उतने ही भेदभावपूर्ण थे। उच्च वर्ण के व्यक्ति के शूद्र पुत्र को सबसे कम हिस्सा मिलता था। स्म तिकार ब हस्पति के अनुसार, किसी द्विज व्यक्ति और शूद्र स्त्री के बेटे को भूसंपत्ति पर कोई अधिकार नहीं था। उसका यह भी कहना

है कि गवाह प्रतिष्ठित परिवारों का होना चाहिए। एक अन्य विधिग्रंथ का विधान है कि शूद्रों को सिर्फ अपनी जाति से संबंधित मुकदमें में ही गवाही देनी चाहिए। इस सबसे कानून और न्याय के मामलें में वर्गगत पूर्वग्रह साफ झलकता है।

शूद्रों तथा अस्प श्यों में फर्क किया जाता था। यदि कोई शूद्र किसी चंडालिनी से लैगिंक संबंध स्थापित करता था तो उसी की स्थिति को प्राप्त हो जाता था। अस्प श्यता में पूर्ववर्ती काल की अपेक्षा अधिक तीखापन आया। चंडाल के स्पर्श से लगने वाले पाप के लिए प्रायश्चित की व्यवस्था की गई। फाहियान से मालूम होता है कि किसी नगर या बाजार में प्रवेश करने वाले चंडाल को लकड़ी से ठक-ठक करके अपने आगमन की सूचना देनी पड़ती थी ताकि लोग उससे दूर रह सकें। समकालीन पाठों में आम तौर पर सभी अस्प श्यों का और खास तौर से चंडालों का बहुत तिरस्कारपूर्ण शब्दों में उल्लेख किया गया है। उन्हें अशुद्ध, झूठा, चोर, अधर्मी, बेवजह झगड़ा करने वाला, आवेशी, क्रोधी और लालची बताया गया है।

वर्ण-व्यवस्था हमेशा सुचारू रूप से काम नहीं करती थी। *महाभारत* में 'शांति पर्व' में, जिसे गुप्त काल का माना जा सकता है, कम से कम नौ ऐसे श्लोक है जिनमें ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के पारस्परिक सहयोग पर जोर दिया गया है : इसे इस बात का द्योतक माना जा सकता है कि वैश्यों तथा शूद्रों की ओर से उनका कुछ संगठित विरोध हो रहा था। इनमें एक से एक अवतरण में कहा गया है कि एक समय ऐसा आया जब वैश्य और शूद्र जानबूझकर ब्राह्मण स्त्रियों के साथ संबंध स्थापित करने लगे। मालूम होता है, शूद्र तत्कालीन समाजव्यवस्था के खास खिलाफ थे। *महाभारत* के 'अनुशासन पर्व' में उन्हें राजा का विनाशक कहा गया हैं एक अन्य समकालीन कृति में उन्हें विद्वेषी, उग्र, अहंकारी, क्रोधी, झूठा, अत्यधिक लोभी, कृतघ्न, अधर्मी, आलसी और अशुद्ध कहा गया हैं इस सबसे और विधि ग्रंथों के इस प्रकार के अवतरणों से मालूम होता है कि शूद्रों और शासक वर्ग के बीच संघर्ष की स्थिति थी। लेकिन ऊपरी वर्गो के विरूद्ध शुद्रों के विद्रोह का कोई उल्लेख गुप्तकालीन स्रोतों में नहीं मिलता।

वर्ण पर आधारित समाजव्यवस्था को कायम रखने के लिए शासक वर्ग बहुधा धर्म का इस्तेमाल करते थे। पहले ही *गीता* में कृष्ण वैश्यों, शूद्रों तथा स्त्रियों को निम्न मूल का बताकर उनकी निंदा कर चुके थे। अब वैष्णव तथा शैव संप्रदायों के प्रभाव के अधीन इस पर और भी जोर दिया जाने लगा। *महाभारत* के एक अवतरण में कहा गया है कि शूद्र द्विजों की सेवा तथा भगवान से भक्ति करके ही मोक्ष प्राप्त कर सकता हैं इसमें और पुराणों में यह बात बार-बार कही गई कि सदाचरण करके शूद्र अगले जन्म में ब्राह्मण बन सकता हैं इस विचार का मूल स्रोत कर्म का सिद्धांत था जिसके अनुसार मनुष्य का सौभाग्य-दुर्भाग्य, सामाजिक स्थति और सुख-दुख उसके पूर्व जन्म के कर्म का फल होता है। कर्म पूर्व ऋतु में वपित बीज की तरह परिपक्वता प्राप्त कर सकता है। यह सिद्धांत सभी वर्णो के लोगों के मन को भाया क्योंकि कर्म का खाता ठीक होने पर शूद्र भी अगले जन्म में राजा होने की आशा रख सकता था। शूद्रक-कृत *म च्छकटिकम* में एक गाड़ीवान वसंतसेना को मारने से इसी कारण इनकार कर देता है कि वह उस तरह का कर्म नहीं करना चाहता है जिसके फलस्वरूप इस जन्म में वह दास होकर उत्पन्न हुआ। स्पष्ट है कि इस विश्वास के कारण आम लोगों के लिए अपने कष्टों के लिए दूसरों को दोष देने की गुंजाइश ही नहीं रह गई और उन्हें *वर्ण* व्यवस्था द्वारा पारंपरिक रूप से निर्धारित अपने धर्म या कर्तव्य का पालन करते रहने की प्ररेणा मिली।

अस्प श्य : फाह्मान के वर्णन से ज्ञात होता है कि भारतीय समाज में गुप्त काल में एक अस्प श्य जाति थी। इस काल के सम ति ग्रंथों में शूद्रों व अस्प श्यों के बीच पूर्ववत् अंतर माना गया है। शूद्रों व श्वपाकों का प थक् रूप से वर्णन कई ग्रंथों में मिलता है। किन्तु अमरकोश में वर्णसंकरों और अस्प श्यों को शुद्र जाति में ही रखा गया है। गुप्त काल के ग्रंथों में अछूतों का, और विशेष रूप से चांडालों का, वर्णन बहुत अपमानजनक है और उन्हें अपवित, असत्यवादी, चोर, झगडालू, क्रोधी व लोभी कहा गया है।

जितना अधिक बल ब्राह्मणों की पवित्रता पर दिया गया उतना ही अछूतों की अपवित्रता पर। यदि किसी 'द्विज' की द ष्टि अस्प श्य पर कुछ दूर से भी पड़ जाती थी, तो वह अपवित्र हो जाता था। उसे अपनी शुद्धि के लिए धार्मिक अनुष्ठान करने पड़ते थे। धर्म संहिताओं में शुद्धि के मार्ग बताए गए थे। **फाह्मान के वर्णन से पता चलता है कि अस्प श्यों को बस्ती से बाहर रहना पड़ता था।** स्म तियों में उन्हें अंत्यज अथवा चांडाल तथा प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न कहा गया हैं ये सबसे निम्न व त्ति का पालन करते थे, जैसे जंगली जानवरों का शिकार, मछली पकड़ना या श्मशान घाटों की रखवाली करना। अन्य स्रोतों से इन संकर जातियों और अछूतों की आजीविका के बारे में विशेष जानकारी नहीं मिलती है। कालिदास ने चांडालों का उल्लेख बहेलियों और मछुओं से भिन्न रूप में किया है, यद्यपि ये सब एक ही वर्ग के हैं ऐसा प्रतीत होता है कि चांडाल मूलतः शिकारी नहीं

थे परंतु शिकार करना उनका एक गौण व्यवसाय था। साधारणतः चांडालों का पेशा था **सड़कों व गलियों की सफाई करना, श्मशान का काम करना, अपराधियों को फाँसी पर लटकाना और रात में चोरों का पकड़ना आदि।** डोम्ब गीत गाते थे और सार्वजनिक मनोरंजन भी करते थे।

जिस प्रकार **फाह्यान ने पाँचवी शताब्दी में अछूतों का वर्णन किया** है उसी प्रकार सातवीं शताब्दी **में ह्वेनत्सांग ने भी अस्प श्यता का उल्लेख किया है।** वह लिखता है कि कसाई व मेहतर नगर के बाहर ऐसे मकानों में निवास करते थे जो किसी विशेष चिन्ह से जाने जा सकते थे। गुप्त काल में अस्प श्यता ही विकसित नहीं हुई बल्कि चांडालों की संख्या में व द्धि भी हुई थी। अतः यह स्वाभाविक ही था कि फाह्यान का ध्यान इस ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। **विंध्य जंगल में शबर जाति** के निवासी रहते थे जो अपने देवताओं को **मनुष्य का मांस चढ़ाते** थे। डोम्ब नामक जाति भी संभवतः गुप्त काल में ही एक स्वतंत्र जाति के रूप में प्रकट हुई। **डोम्ब जाति को भी अछूत माना** गया है। **जैन स्रोत उन्हे उपेक्षित वर्ग का मानते है।**

अस्प श्यता की सामाजिक स्थिति पहले से भी अधिक बिगड़ गई थी। यद्यपि वे सिद्धांत रूप में शूद्र माने जाते थे परंतु व्यवहार में वे प थक् थे और उनकी स्थिति दयनीय थी।

दास प्रथा : सभी शूद्र दास नहीं थे, परंतु चूंकि दास प्रथा प्रचलित थी, अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता हे कि गुप्त काल में कुछ शूद्र दास थे। दास-दासियों से युक्त राज्य का भोग करना उत्कट साधना का फल माना जाता था। **'शांतिपर्व' में कहा गया है कि शूद्र की स ष्टि प्रजापति ने अन्य तीनों 'वर्गो' के दासे के रूप में की,** इसलिए उसे दास धर्म के पालन का उपदेश दिया गया है। **नारद ने दास के** 15 **प्रकार बताए है** जिनमें से कुछ इस प्रकार है- (1) प्राप्त किया हुआ दास, (2) स्वामी द्वारा प्रदत्त दास, (3) ऋण न चुका सकने के कारण बना दास, (4) दाँव पर हार जाने वाला दास, (5) स्वयं दासत्व ग्रहण करने वाला, (6) अपने को एक निर्धारित समय के लिए दास बनाने वाला, (7) दासी के प्रेमपाश में पड़कर बनने वाला, और (8) आत्मविक्रमी दास।

नारद और ब हस्पति दोनों ने यह स्पष्ट किया है कि दास केवल अपवित्र कार्यो में लगाए जाते थे। अतः इस बात का कोई प्रमाण नही मिलता कि कोई दास उत्पादन कर्म में लगाया गया हो यद्यपि मौर्यकाल और उससे पूर्व इसके प्रमाण मिले है। अतः यह स्पष्ट है कि गुप्त काल में दासों की अवस्था पूर्वकाल से अधिक दयनीय थी। याज्ञवल्क्य, नारद और कात्यायन ने यह कहा कि दास स्वामी के वर्ण से नीचे के वर्ण का होना चाहिए। कात्यायन के अनुसार दासता ब्राह्मण के लिए नहीं है और वह ब्राह्मण का दास भी नहीं बन सकता। यदि किसी आपत्ति के समय उसे ब्राह्मण का दास बनना भी पड़ जाए तो वह वैदिक अध्ययन जैसे स्वच्छ कर्म को ही अपनाए। परंतु इन नियमों से यह निष्कर्ष निकलता है कि दासता शूद्रों तक ही सीमित नहीं थी। **अनुशासन पूर्व** में कहा गया है कि किसी मनुष्य का विक्रय नही करना चाहिए। **नारद और ब हस्पति** ने भी अपने को बेचने वाले की **निंदा की** है। दासियों के अस्तित्व का भी प्रमाण मिलता है जो धनी लोगों के घरों में **चेरियों** का कार्य करती थी। **अमरकोश में 'दाससिभम्'** (दासियों का दल) शब्द आया है। जैन ग्रंथों से ज्ञात होता है कि आदिम जातियों से भी दासियाँ और चेरियाँ ली जाती थी। कोई दासी अपने स्वामी के पुत्र को जन्म देती थी तो वह स्वतंत्र हो जाती थी। **गुप्त काल में दासों की सामान्य दशा अपरिवर्तित रही।** उन्हे पीटा जा सकता था **और बेड़ियों में बाँधा जा सकता था।**

परंतु इस बात के अनेकानेक प्रमाण मिले है कि गुप्त काल में दास प्रथा कमजोर हो गई थी। दासमुक्ति के अनुष्ठान का विधान **सर्वप्रथम नारद ने किया है।** दासों में संगठन होने से भी दास-व्यवस्था कमजोर हुई होगी। भारत में दासों के साथ दुर्व्यवहार नहीं किया जाता था, अतः विदेशी यात्री इसके अस्तित्व का पता भी नहीं लगा सके।

इस काल में कई ऐसी बाते दिखाई पड़ती है जिनसे दास प्रथा के शिथिल होने का प्रमाण मिलता है। **डॉ. रामशरण शर्मा के अनुसार, ऐसा लगता है कि वर्ण-व्यवस्था ही कमजोर पड़ गई थी और इस कारण दास प्रथा में भी कमजोरी आई।** वर्ण प्रथा का नियम था कि शुद्र को दास बनाना चाहिए, पर गुप्तकालीन पुराणों के वर्णन से पता चलता हे कि वैश्य और शूद्र अपने वर्ण-धर्म का पालन नहीं करते थे। अर्थात् किसान के रूप में अन्न पैदा कर वैश्य कर नहीं देते थे और शूद्र द्विजों की सेवा करने को तैयार नही थे। **घोर वर्ण संकट की स्थिति पैदा हा गई थी।'**

गुप्तयुगीन अनेक पुराणों, महाभारत के अंशों, बौद्ध जातक साहित्य एवं कतिपय जैन ग्रंथों में ऐसे विवरण हैं जिनका संबंध **तथाकथित कलियुग** से हैं इसका संबंध भारतीय समाज के उस पारंपरिक युग से है जबकि अवनति के पर्याप्त चिन्ह द ष्टिगोचर

होते है। हाल ही में इन कलियुग विवरणों का प्रयोग भारत में प्राचीन काल से मध्ययुग की ओर होने वाले संक्रमण की विशिष्टताओं को प्रदर्शित करने के लिए किया गया हैं इन्ही विशिष्टताओं में दास प्रथा पर आधारित उत्पादन पद्धति में आए परिवर्तनों पर विशेष बल दिया गया है। एक ओर अंत्यों का मध्यों में रूपांतरण देखने को मिलता है, तो दूसरी ओर कृषि और व्यापार में लगे वैश्यों को शूद्रों के निकट लाने की चर्चा है। **विष्णु पुराण में कहा गया है** कि वैश्य कृषि एवं व्यापार का परित्याग कर शूद्रों के व्यवसायों को अपनाएँगे और तुच्छ शिल्पी (कारूकर्मोपजीविनः) बन जाएँगे। कुछ तो भूमिगत संपत्ति के विभाजन से और कुछ विदेशी आक्रमणों द्वारा उत्पन्न राजनीतिक बलवों के कारण दासों एवं सेवकों के विशाल समूहों को आश्रय देने वाले पुराने परिवार कम होते गए। सारांश यह है कि ईसा की **प्रथम सहास्राब्दी के मध्य तक दास प्रथा के क्षीणतर** होने की प्रव त्ति प्रबल होती जा रही थी- यहाँ तक कि लगभग 600 ई॰ में रचित मनुस्म ति पर भारूचि की टीका में दासों के संपत्ति विषयक अधिकारों की भी पर्याप्त चर्चा है।

उपरोक्त विवरण के संदर्भ में एक विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या इन स्वतंत्र किए गए दासों और दासों के रूपांतरण को मध्ययुगीन यूरोप के कृषिदास मान सकते है ? ईसा की छठी शताब्दी अथवा कुछ बाद के काल में रचित **विष्णु-धर्मोत्तर पुराण** में इस बात का संकेत है कि ऐसे दासों को मालिकों और उनके बीच हुए वंशगत निर्भरता के **बंधनों में बाँधा जा सकता था।** 10 वीं शताब्दी के चंबा के भूमि अनुदान में दास एवं दासी के साथ-साथ ही **आश्रितहालिक** का उल्लेख इस द ष्टि में काफी महत्त्वपूर्ण है। भूमि अनुदानों के सामान्य विवरणों में भी स्पष्ट होता है कि इन आश्रित-हालिकों की गतिशीलता पर काफी अंकुश लगे हुए थे। शहरीकरण के पतन, **मुद्रा-अर्थव्यवस्था के ह्रास,** उत्पादन की सीमित ग्राम-अर्थव्यवस्था आदि से नवीन सामतीय उत्पादन प्रणाली का जो स जन हो रहा था, उसमें दासों के रूपांतरण और कृषकों के दमन की प्रव त्ति को और अधिक बल मिला। **महासुपिन जातक** के गद्य वर्णन में कहा गया है :

"आने वाले दिनों में जगत् का पतन होगा ··· उसके राजा गरीब हो जाएँगे। फिर ये राजा अपनी आवश्यकताओं के लिए सभी देशवासियों से अपने लिए काम करवाएँगे, उन्हीं की खातिर पीड़ित जन अपना काम छोड़कर अनाज एवं दालों को बोऐगे तथा फसल की रक्षा करेगे, राजाओं की खातिर ही वे गन्ने की फसल लगाएँगे, चीनी-मिलों को चलाएँगे और शीरे को उबालेगे। राजाओं के लिए ही वे फूल एवं उद्यानों को लगाएँगे और जब वे सभी प्रकार के उत्पादनों को एकत्र करेगे तो अपने घर के खाली खलिहानों पर द ष्टिपात किए बिना ही शाही धान्यागारों को लबालब भर देगे।··· राजा अपनी प्रजा को उसी प्रकार पीस देगे जैसे मिल में गन्ना पीसा जाता है···।"

अतिशयोक्तिपूर्ण सही, किन्तु इस उदाहरण में राजाओं द्वारा कृषकों एवं शिल्पियों के दमन एवं शोषण की पर्याप्त झलक मिलती है। बाध्य श्रम (विष्टि) का जो उल्लेख इसमें द ष्टिगोचर होता है, उससे लगता है यह प्रव ति बढ़ती जा रही थी। विष्टि केवल राज्य द्वारा ही नहीं अपितु भूमिगत कुलीन वर्ग तथा भूमि अनुदानों के प्राप्तकर्त्ताओं द्वारा भी कृषकों एवं शिल्पियों पर लगाई जाती थी। हाल में ही निकट पूर्व (मध्य एशिया) के ग्रामीण समुदाय के विस्त त अध्ययन में बताया गया है कि उस क्षेत्र में प्राचीन काल से मध्य युग का संक्रमण दास उत्पादन प्रणाली के क्षीणतर होने पर उतना आधारित नहीं था, जितना कि पहले के स्वतंत्र कृषकों की निर्भरता, शोषण एवं दमन पर जो कि उत्पादन का प्रमुख रूप बन गया था। यद्यपि यह मत सभी क्षेत्रों में समान रूप से लागू नहीं किया जा सकता किन्तु फिर भी यूरोप के बाहर मध्ययुगीन व्यवस्था के अध्ययन के लिए एक प्रश्न तो अवश्य प्रस्तुत करता है। यह मध्ययुग की एक विशिष्टता को उजागर करता है, जो कुछ हद तक भारतीय संदर्भ में भी देखी जा सकती है। बँटवारे और धार्मिक भूमिदानों के फलस्वरूप भूमि छोट-छोटे टुकड़ों में विभाजित हो गई थी, अतः छोटे कृषि-क्षेत्रों में स्थायी रूप से अधिक शूद्र, दास और मजदूर रखने की आवश्यकता नहीं थी। इससे अधिकांश दासों को छाँट दिया गया। यह दास प्रथा कमजोर होने का मुख्य कारण था।

स्त्रियों की दशा

गुप्कालीन साहित्य व कला में नारी का आदर्शमय चित्रण है परंतु व्यवहारिक रूप में उनकी स्थिति पहले की अपेक्षा दयनीय हो गई थी। साहित्य में नारी की मर्यादा और सम्मान का वर्णन है। **महाभारत** में पत्नी के बिना जीवन शून्य माना गया है। इसमें भार्या को समस्त रोगों और दुखों का निदान माना गया है। रघुवंश में अज ने अपनी प्रिया को सखी, सचिव तथा प्रिय

शिष्या कहा है। स्वप्नवासवदत्त्म् में उदयन वासवदत्ता को 'प्रिये' तथा 'प्रियशिष्ये' कहता है। पत्नी पुरूष की सहधर्मिणी मानी जाती था।

स्त्रियों की सामाजिक मर्यादा को लेकर इस काल में कुछ ऐसी बाते विकसित हुई जो बाद की शताब्दियों में उसकी विशेषता बन गई। अल्पायु में विवाह, सती प्रथा इत्यादि इसी काल में सामने आई। जन्म से म त्यु तक वह पुरूष के नियंत्रण में रखने के लिए निर्देशित की गई, यद्यपि ये बंधन उसकी पवित्रता और सुरक्षा के लिए थे। पिता के लिए कन्या एक समस्या थी और पुत्र के आगमन का स्वागत होने लगा। धार्मिक, आर्थिक और वैयक्तिक सभी स्थितियों में स्त्रियों पर प्रतिबंध लगाए गए, उन्हे ऐसी संपत्ति कहा गया जो किसी को भी जा सकती थी या गिरवी रखी जा सकती थी। उनकी निरंतर अधीनता पर विशेष बल दिया गया। निजी संपत्ति के विचारों पर आधारित पित प्रधान, वर्ग-विभाजित समाज में यह स्वाभाविक था कि स्त्री को पुरूष के अधीन रखा जाए।

उच्च वर्ग की स्त्रियों को थोड़ी शिक्षा दी जाती थी जिसका उद्देश्य इतना ही था कि वे बुद्धिमत्तापूर्ण वार्तालाप कर सके। परंतु सार्वजनिक जीवन में भाग लेना उनके लिए आवश्यक नहीं समझा गया। केवल उच्च वर्ग में ही स्त्रियाँ सुशिक्षिता होती थी। महिला दार्शनिकों और विदूषियों के भी कुछ द ष्टांत मिले है। विविध कलाओं में निपुण स्त्रियों को भी चर्चा है। साहित्य में इसके संकेत मिलते है। काव्य-मीमांसा (राजेशखर) के अनुसार स्त्रियाँ भी कवायित्री होती थी कालिदास ने अभिज्ञानशकुन्तलम् में अनुसूया को इतिहास का ज्ञाता कहा है। भवभूति के मालती माघव नाटक में माधवी चित्र अंकित करने तथा संस्कृत समझने योग्य दर्शाई गई है। अमरकोश में शिक्षिकाओं के लिए उपाध्याया, उपाध्यायीय और आचार्या शब्द आए है। परंतु अल्पायु में विवाह की प्रथा के विकास के कारण स्त्री शिक्षा की धक्का पहुँचा और बाल विवाह के कारण समुचित रूप से विद्याभ्यास का अवसर कन्याओं से छिन गया। अतः गुप्त काल में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में ह्रास हुआ।

ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त काल में परदे की प्रथा का अधिक विकास नहीं हुआ। फाह्यान व ह्वनेत्सांग जैसे चीनी लेखकों ने अपने व त्तांत में स्त्री के परदे का कही उल्लेख किया हैं परंतु साहित्य के उच्च वगै की स्त्रियों में परदे की प्रथा की जानकारी प्राप्त होती हैं कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् में कहा है कि जब शकुंतला राजा दुष्यंत के दरबार में गई तो उसने आने मुख को अवगुंठन से ढक लिया। वाणभट्ट ने हर्षचरित में राजश्री को अरूणांशुकावग्ण्ठितमुखी कहा है जिसका अर्थ है 'मुख पर लाल रेशम का परदा डाले हुए'। दक्षिण प्रांतों में यवन, शक, कुशाण, हूण आदि विदेशी आक्रमणों का प्रभाव न होने के कारण पर्दा प्रथा नहीं थी। अतः अजंता या ऐलोरा के चित्रों व मूर्तियों में कही भी स्त्रियों को पर्दे में नही दिखाया गया है।

सती प्रथा के संबंध में भी गुप्तकालीन अभिलेखी प्रमाण मिले है। सती प्रथा का महत्त्वपूर्ण साक्षी 510 ईसवी का ऐरन शिलालेख है जिसमें गोपराज नामक सेनापति की पत्नी के सती होने का वर्णन है। यह शिलालेख एक स्मारक के रूप में स्थापित किया गया था। उत्तर भारत की कुछ सैनिक जातियों में बड़े पैमाने पर विधवाओं के जलकर मर जाने की प्रथा थी। जब सैनिक पति युद्ध करते हुए मारे जाते थे तब अपने सम्मान की रक्षा के लिए स्त्रियाँ सती हो जाती थी। बाद में यह प्रथा मध्य भारत तथा पूर्वी भारत व नेपाल के उच्च वणों तक पहुँची। हर्षवर्धन की माता यशोमति अपने पति की म त्यु की संभावना मात्र पर ही 604 ईसवी में सती हो गई थी। हर्ष की विधवा बहन राजश्री को सती होने से उसने बचाया था। इसके विपरीत किसी गुप्त रानी के सती होने का प्रमाण नहीं मिलता हैं दूसरी ओर, चंद्रगुप्त द्वितीय की विधवा पुत्री प्रभावती गुप्त ने लंबे समय तक अपने पुत्र की संरक्षिका के रूप में शासन-भार संभाला।

यद्यपि जनसाधारण में तो सती होने का प्रचलन नहीं था परंतु विधवाओं की स्थिति अत्यंत शोचनीय थी। उच्च वर्ग की विधवाओं का और ब्राह्मण वर्ण की विधवाओं का जीवन कष्टपूर्ण था। उन्हे श्वेत वस्त्र धारण करने होते थे और जीवनभर ब्रह्मचर्य का पालन करना होता था। ब हस्पति के अनुसार, "पति के मरने पर जो पतिव्रता साध्वी निष्ठा का पालन करती है वह सब पापों को छोड़कर पतिलोक को प्राप्त होती है। नित व्रत-उपवास में निरत, ब्रह्मचर्य में व्यवस्थित, दम और दान में रत सती अपुत्रवती होते हुए भी स्वर्ग की ओर प्रस्थान करती है।" गुप्तकालीन अनेक स्म तियों से विधवा के लिए ब्रह्मचर्य, व्रत, नियम आदि का विधान है।

गणिकाएँ नागरिक जीवन का सामान्य अंग थी। उनकों न तो भावुकतापूर्ण द ष्टि से देखा जाता था और न ही उपेक्षा की द ष्टि से। कामसूत में गणिका को दिए जाने वाले प्रशिक्षण के वर्णन से स्पष्ट है कि इस व्यवसाय की अधिक माँग थी। कालिदास ने विदिशा

की गणिकाओं के साथ साहसी नवयुवकों की क्रीड़ाओं का उल्लेख किया हैं विशाखदत्त के मुद्राराक्षस में उत्सवों पर बड़ी संख्या में वेश्याओं के सड़कों पर आने का उल्लेख है। देवदासियों का भी एक वर्ग था जो मंदिरों के साथ संबद्ध था। देवताओं के साथ इनका संबंध माना गया और इन्हें मंदिर में रखा जाने लगा। जो सुंदरियाँ देवमंदिर में नियुक्त की जाती थी उनका काम था आराध्यदेव के सम्मुख न त्य और गान करना तथा संगति का कार्यक्रम प्रस्तुत करना। मेघदूत तथा पुराणों में देवदासियों का उल्लेख है। कालिदास ने मेघदूत में उज्जयिनी के महाकाल मंदिर में अनेक देवदासिमों ने न त्यगान का उल्लेख किया है।

स्त्रियों के संपत्ति-संबंधी अधिकारों के विषय में याज्ञवल्क्यस्म ति में निरूपित मान्यताएँ महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने पत्नी को भी पति की संपत्ति का अधिकारी बताया हैं पुत्र के अभाव में पुरूष की संपत्ति पर उसकी पत्नी का सर्वप्रथम अधिकार होगा और उसके बाद उसकी कन्याओं का-यह समान मंतव्य मनु, आपस्तम्ब आदि के विधानों के सर्वथा प्रतिकूल है। ब हस्पति और नारद ने भी कहा है कि कन्या भी पुत्र के सान संतान होती है, अतः पुत्र के अभाव में उसका संपत्ति पर अधिकार होना चाहिए। कात्यायन ने पत्नी को 'धनहरी' (संपत्ति प्राप्त करने वाली) बताया है और उसके जीवित न होने पर कन्या को। परंतु यह विषय विवादग्रस्त था। ऐसे भी शास्त्रकार हुए जिन्होंने विधवा को पति की संपत्ति की अधिकारिणी नहीं माना हैं नारद के अनुसार संतानहीन व्यक्ति की संपत्ति राज्य को प्राप्त हो जानी चाहिए, यद्यपि राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह विधवा का पालन-पोषण करे। नारद ने इसे 'सनातनधर्म' कहा है।

कृषि अर्थव्यवस्था

भूस्वामीत्व

स्म तिकारों के अनुसार राजा भूमि का मालिक माना गया है। मनु और गौतम जैसे स्म तिकारों ने राजा को भूमि का 'अधिपति बताया है। गुप्तयुग में शासकों को जो भूमिदान या कभी-कभी संपूर्ण ग्रामदान देता हुआ देखते है उससे यही धारणा मजबूत होती है कि गुप्तकाल में शासक भूमि को किसी ब्राह्मण, किसी ग हस्थ या किसी राज्याधिकारी को दान देने का अधि ाकारी था। भूमि पर जोतने वाले का कहाँ तक अधिकार होता था, यह प्रश्न अस्पष्ट है। **हालाँकि प्रारंभिक स्म तिकार, जैसे मनु ने यह कहा है कि भूमि उसी की है, जो भूमि को जंगल से साफ कर पहले-पहल जोतता है।** परंतु यह विचारधारा विवेच्य युग तक बनी नहीं रही होगी, क्योंकि इसका संबंध उस जमाने से मालुम पड़ता है, जब नए-नए ग्राम बस रहे होंगे। गुप्तयुग तक भलीभाति विकसित ग्रामों की स्थापना हो चुकी थी। यहाँ अब जमीन किसकी है, इसकी पूरी जानकारी होनी जरूरी थी। **ब हस्पति और नारद** स्म तियों में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि किसी भी व्यक्ति का जमीन पर मालिकाना अधिकार तभी माना जा सकता है, जब उसके पास कानूनी दस्तावेज हो। अगर कोई साधारण नागरिक कोई जमीन खरीदना चाहे तो उसे राज्य से अनुमति लेनी पड़ती थी।

भूमि के प्रकार

आर्थिक उपयोगिता के द ष्टिकोण से भूमि के कई प्रकार बनाए गए हैं, जैसे (1) खेती के उपयुक्त जमीन 'क्षेत्र' कहा जाता था; (2) वास करने योग्य भूमि जिसे 'वास्तु' कहा जाता था; (3) चरागाह-भूमि; (4) जो भूमि जोती नहीं जाती थी और जिसे 'सिल' कहा जाता था; (5) बिना जोती गई जंगली भूमि को 'अप्रहत' कहा जाता था, इत्यादि। इनके अलावा भूमि की विशेषताओं के आधार पर अमरकोष में 12 तरह की भूमि गिनाई गई है : (1) उर्वरा, (2) ऊसर, (3) मरू, (4) अप्रहत, (5) सद्वल, (6) पंकिल, (7) जलप्रायमनुपम, (8) कच्छ, (9) शर्करा, (10) शर्कावती, (11) नदीमात क और (12) देव-मात क।

भू व्यवस्था

गुप्तयुग में भूमि की माँग क्रमशः बढ़ती जा रही थी। अतः जब कोई भूमि खरीदता था या दान में देता था तो उस भूमि की नाप-जोख, सीमारेखा बहुत स्पष्ट शब्दों में व्यक्त की जाती थी। उदाहरणस्वरूप प्रवरसेन द्वितीय के सिवानी ताम्रपत्र में ब्रह्मपूरक नामक गाँव की सीमारेखा को उस गाँव पर से बहने वाली नदी के द्वारा और गाँव के पड़ोसी चार गाँवों के द्वारा स्पष्ट किया गया हैं जमीन की माँग बढ़ जाने से जमीन-जायदाद के झगड़े भी इस युग तक बढ़ गए थे। इस कारण ब हस्पति और नारद स्म तियों में इस बात पर जोर डाला है, कि जब कभी किसी भूमि में स्वामित्व का प्रश्न उठ खड़ा हो तब जमीन की सीमा स्पष्ट निर्धारित की जानी चाहिए। तालाब, नदी, बड़े पेड़, बगीचे, मंदिर, टीले, नाले, ढाल, पहाड़ियाँ इत्यादि ऐसे प्राकृतिक साधन है

जिनके द्वारा किसी गाँव या भूमि की सीमा निर्धारित की जा सकती है।

जमीन को साधारणतया दान में देने के उद्देश्य से खरीदा जाता था। सबसे पहले खरीदने वाला व्यक्ति स्थानीय शासन को यह सूचित करता थ कि वह कौनसी जमीन किस उद्देश्य से खरीदना चाहता है तथा उस जमीन का जो भी मूल्य होगा, उसे वह देने को तैयार है। इस प्रक्रिया का उदाहरण 478.79 ई॰ के पहाड़पुर ताम्र पत्र में उपलब्ध है। फिर स्थानीय शासक या विषयपति, पुस्तपाल या जमीन का ब्यौरा रखने वाले अफसर के आलेख से जमीन के मालिकाना इत्यादि प्रश्नों की जाँच-पड़ताल करता था। कभी-कभी जमीन के मालिकाना के प्रश्न पर विषयपति और पुस्तपाल में विरोध भी हो सकता था, जैसाकि दामोदरपुर ताम्रपत्र में दिखाई पड़ता है। पुस्तपाल के दफ्तर से अनुमति आने के उपरांत खरीददार स्थानीय शासक के पास जमीन का मूल्य जमा करता था। तब स्थानीय परिषद् इस प्रश्न पर विचार करती थी कि कहीं कोई आपत्ति नहीं होने पर स्थानीय परिषद् इस भूमि की बिक्री को कानूनी करार दे देती थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तयुग में साधारणतया छोटे-छोटे कृषक होते थे, जो स्वयं अपने परिवार के साथ जमीन जोतते थे। परंतु कही-कहीं, जैसे गुनाइगढ़ लेख में ग्यारह 'पाटक' जमीन का उल्लेख मिलता है। इसी तरह जो बड़ी जमीन दानस्वरूप दी जाती थी उसमें ग्रहीता स्वयं जमीन नहीं जोतता था अपितु भूमिहर मजदूरों के द्वारा जमीन जुतवाता था। नारद और ब हस्पति स्म ति में इन भूमि जोतने वाले नौकरों का नकद **वेतन उपज** 1/5 **हिस्सा मिलता था** और जो नौकर खाना-कपड़ा नहीं लेते थे उन्हें उपज का 1/3 भाग उनके पारिश्रमिक के रूप में दिया जाता था। परंतु गुप्त युग व उसके पश्चात् जैसे-जैसे मठों और मंदिरों को दान में भूमि दी जाने लगी। वैसे-वैसे कृषि मजदूरों की स्थिति में कुछ परिवर्तन आया। इन मठाधिपतियों और मंदिर के मंहतों को दान में भूमि दी जाने लगी, और इस जमीन पर सरकार को कर नहीं देना पड़ता था। ये जमीन स्वयं जोतते भी नहीं थे। **फाह्यान और ई-चिगं के विवरण** से पता लगता है कि **विहारों और मठों की** जमीन अस्थायी **पट्टेदार लोग जोतते थे।** ये भूस्वामियों को मालगुजारी दिया करते थे। इस प्रकार भूमिदान का यह दुष्परिणाम निकलने लगा कि भूमिविहीन किसान, अब तक सम्मानपूर्वक मजदूरी कर सकते थे, अब भूमिपतियों के अधीन अर्धदास से बनते चले गए क्योंकि दानपत्रों में यह स्पष्ट उल्लेख है कि केवल भूमि ही दान में नहीं दी जाती थी वरन् उसमें रहने वाली स्त्रियाँ भी ग्रहीता के सुपुर्द कर दी जाती थीं। इन दानपत्रों को जब तक चंद्र-सूर्य विद्यमान है तब तक के लिए स्थायित्व देने की बात कही जाती थी। अतः आगे आने वाली पीढ़ियाँ भी कोई विशेष कारण आए बगैर दान में दी गई जमीन को नहीं छोड़ती थी।

कृषि उत्पादन

कृषक अधिकांशतः वर्षा पर निर्भर होते थे। **वराहमिहिर की व हत्संहिता में वर्षा की संभावना** और वर्षा के अभाव के प्रश्न पर काफी **विचार-विमर्श** हुआ है। ब हत्संहिता में तीन फसलों का जिक्र आया है। एक फसल **श्रावण के महीने** में तैयार होती थी, दूसरी **वसंत** में और तीसरी **चैत्र या वैशाख** में। साधारणतया सभी तरह की उपज जो आजकल होती है उस युग में भी हुआ करती थी, जैसे दाल, अनाज, सरसों, तिल, कपास, नील, मसाले, सब्जियाँ, फल और जानवरों के खाने की घास इत्यादि। **सिंचाई का भी थोड़ा-बहुत प्रबंध राजा की ओर से किया जाता था जिसका प्रमाण स्कंदगुप्त के जूनागढ़ लेख में मिलता है।**

वन सम्पदा

कृषि के अतिरिक्त तत्कालीन समाज वनस्पतियों पर निर्भर करता था। पशुचर्म, कस्तुरी तथा हाथीदाँत आदि चीजे वन्य पशुओं से प्राप्त होती थी। इसके अलावा तरह-तरह की जड़ी-बूटियाँ, जो दवाई के काम आती थी, महुआ (जिसकी शराब बनती थी), भोजपत्र (जिस पर लिखा जाता था) और चंदन (जिसकी कलाकृतियाँ बनती थी) अन्य वनसंपदा थी।

खनिज पदार्थ

तरह-तरह के खनिज पदार्थ जैसे सोना, चाँदी, ताँबा, लौह का ज्ञान लोगों को हो चुका था। तत्कालीन साहित्य और मूर्तियों में प्रचुर आभूषणों का अंकन हुआ है। ताँबा ताम्रपत्र, बर्तन और सिक्कों के काम आता था। मेहरोली का लौहस्तंभ तत्कालीन लोहे का उत्कृष्ट नमूना प्रस्तुत करता हैं वराहमिहिर की 'व हत्संहिता' में हीरा, मोती, रूबी तथा शंख इत्यादि की बनी चीजों का अनेक बार उल्लेख आया है।

पशुपालन

पशुपालन जीविका का अन्य प्रमुख साधन था। कामंदक और मनु के अनुसार गोपालन वैश्य का पेशा है। **'अमरकोष' में पालतु पशु के रूप में घोड़े, भैस, ऊँट, बकरी, भेड़, गधा, कुत्ता, बिल्ली आदि को गिनाया गया है।** बैल सामान ढोने और हल चलाने के काम आता था।

उद्योग धन्धे

कपड़े बनाने का शिल्प काफी उन्नति कर चुका था। 'अमरकोष' में कताई, बुनाई, हथकरघा, धागे इत्यादि का संदर्भ आया है। महीन कपड़ों का कालिदास के नाटकों में उल्लेख मिलता है। कुषाण-काल में भारत में सिले हुए कपड़ों का प्रचलन हो चुका था अतः कपड़ों को काटकर उनको सिलने की कला भी लोगों ने सीख ली थी। शिल्पियों की गतिविधियों के संबंध में नारद एवं ब हस्पति की स्म तियों में उल्लिखित श्रेणी व्यवस्था की चर्चा अनुपयुक्त न होगी। ये आर्थिक जीवन के संघटित पक्ष का प्रस्तुत करती है। मौर्योत्तर युग में, विशेषकर कुषाण-सातवाहन शताब्दियों में, व्यापारियों की द्रुत प्रगति के फलस्वरूप सार्थवाह एवं श्रेणीबल, श्रेणिक एवं विभिन्न व्यावसायिक श्रेणियों के अगणित उल्लेख मिलते है। गुप्त काल में नालंदा, वैशली आदि स्थानों से श्रेष्ठियों, सार्थवाहों, प्रथम कुलिकों, कुलकों आदि की मुहरे शिल्पियों की संघटनात्मक गतिविधियों को प्रदर्शित करती है। ब हस्पति का कहना है कि नवीन श्रेणी के जन्म के समय सदस्यों को कुछ पूँजी जमा करके एक-दूसरे में विश्वास व्यक्त करना पड़ता था। अपने-अपने व्यवसाय के हितों के अतिरिक्त, श्रेणियों को अन्य सामाजिक कार्य भी करने पड़ते थे, जैसे सभाग हों का निर्माण, यात्रियों के लिए पीने योग्य पानी की सुविधाओं से युक्त आश्रयग हों जलाशयों, उद्यानों, मंदिरों आदि का निर्माण। कुमारगुप्त प्रथम एवं बंधुवर्मन के 'मंदसौर अभिलेख' से पता चलता है कि रेशम बुनकरों की श्रेणी ने किस प्रकार **437.4 ई. में एक भव्य सूर्य मंदिर का निर्माण कराया और** 473.4 **ई. में उसकी मरम्मत भी करवाई।** ये श्रेणिया बैंक का कार्य भी करती थी। स्कंदगुप्त के इंदौर ताम्रपत्र से पता चलता है कि इंद्रपुर (आधुनिक इंदौर) के देवविष्णु नामक ब्राह्मण ने इंद्रपुर के तेलियों की श्रेणियों के पास पूंजी जमा कराई ताकि सूर्य मंदिर के दीपक की स्थाई रूप से देख-रेख की जा सके। स्वयं चंद्रगुप्त द्वितीय ने भी इसी प्रकार पूंजी जमा करवाई थी (गढ़वा अभिलेख)। नारद एवं ब हस्पति ने स्पष्ट रूप से इन श्रेणियों की प्रशासनिक व्यवस्था का भी वर्णन किया है। यद्यपि इन स्म तियों में श्रेणियों की गतिविधियों में राज्य की भूमिका के अनेक उल्लेख है, किन्तु अभिलेखागत साक्ष्यों से उनकी पुष्टि के कोई प्रमाण नहीं मिलते है।

व्यापार व वाणिज्य

लगता है, दूर देशों के साथ व्यापार का ह्रास गुप्त काल में आरंभ हो चुका था। ईसवी सन् की प्रारंभिक सदियों के बाद भारत में रोमन सिक्कों का आना बंद हो गया और कुछ समय बाद स्वयं रोम साम्राज्य टूट गया। पूर्वी रोम (बैजंतिया) साम्राज्य के साथ व्यापार छठी सदी के मध्य से पहले तक जारी रहा। इसी काल के आसपास बैजंतियाइयों ने चीनियों से रेशम के कीड़े पालने की विधि सीख ली। पश्चिम के साथ भारत के व्यापारिक संबंध पर इसका बुरा प्रभाव पड़ा। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी कि रेशमी कपड़े बुनने वालों की एक श्रेणि गुजरात में अपने मूल स्थान का त्याग करके दशपुर (मध्य प्रदेश में मंदसोर) में जा बसी जहां उसने अपना पुराना पेशा छोड़कर और धंधे अपना लिए। भारत के तटवर्ती क्षेत्र दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ व्यापार करते रहे, ऐसा संकेत अवश्य मिलता है लकिन देश की आंतरिक अर्थव्यवस्था पर उसका कोई असर नहीं हुआ।

दूर देशों के साथ व्यापार का ह्रास होने के साथ तटवर्ती शहरों के साथ उनके सहायक इलाकों का संबंध कमजोर पड़ गया। माल के उत्पादन में कमी आई। व्यापारिक गतिविधियां शिथिल पड़ गई और देश के एक भाग से दूसरे भाग में व्यापारियों और कारीगरों के आने-जाने के सिलसिले का कोई हेतु नहीं रह गया। इसलिए गतिहीन कारीगर अपने-अपने गांवों में बंधे रह गए और कालांतर में किसानों की ही तरह दानभोगियों को हस्तांतरित किए जाने लगे। इस प्रकार कलाओं और शिल्पों का ग्रामीकरण हुआ यद्यपि चौथी सदी का मेहरौली (दिल्ली) का जंग-रहित स्तंभ कारीगरों के प्रौद्योगिकीय कौशल की साक्षी भारत है और अभिलेखों से पता चलता है कि कारीगरों और व्यापारियों की श्रेणियां और निगम गुप्तकाल में कुछ शहरों के प्रशासन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे।

मुद्रा स्थिति

गुप्तकाल से धातु के सिक्कों की कमी होने लगी जिसका कारण व्यापारिक शिथिलता थी। प्राचीन भारत में सोने के सबसे अधिक सिक्के गुप्तों ने जारी किए जिनमें से कुछ शिल्प के उत्कृष्ट नमूने हैं। लेकिन इन सिक्कों का इस्तेमाल बड़े-बड़े आर्थिक सौदों में ही किया जा सकता था, जैसे जमीन की खरीद-बिक्री में, जिसका भरपूर साक्ष्य बंगाल से प्राप्त हुआ है। इन सिक्कों का उपयोग रोजमर्रा के सौदों में नही किया जा सकता था, इस काल के तांबे और चांदी के सिक्के बहुत कम मिले हैं। फाहियान से मालूम होता है कि कौड़ी विनिमय का आम माध्यम बन गई।

शहरों का ह्रास

व्यापार की शिथिलता और शिल्पों तथा माल-उत्पादन के ह्रास के फलस्वरूप तीसरी-चौथी सदियों में बहुत से शहर उजाड़ पड़ गए। उत्तर भारत में कई कुषाण शहरी बस्तियों के ह्रास के लक्ष्य दिखाई देते है। कौशांबी (इलाहाबाद), हस्तिनापुर, पुराना किला (दिल्ली), अहिच्छत्र और तक्षशिला इसके उदाहरण है। अयोध्या और मथुरा ईसवी सन् की आरंभिक सदियों में फूलते-फलते नगर थे लेकिन गुप्तकाल में वे अपना महत्व खो बैठे यद्यपि बाद में राम और कृष्ण से उनके जुड़ जाने से उनका महत्व और भी बढ़ गया। मालूम होता है, मध्य प्रदेश, राजस्थान और गुजरात में कई शहर (नोह, उज्जैन, नागर आदि) पतनोन्मुख हो चले। यही बात सातवाहन शहरी केंद्रों पर, जैसे कोंडियपुर, पैथन और नासिक (महाराष्ट्र), अमरावती और धरणीकोट (आंध्र प्रदेश), बड़गांव-माधवपुर, ब्रह्मागिरि और चंद्रवल्लि (कर्नाटक) आदि नगरों पर भी लागू होती है। सुदूर दक्षिण में अरिकामेडु सबसे महत्वपूर्ण शहर था जो तीसरी सदी के बाद अपनी आर्थिक अहिमयत खो बैठा। गुप्त साम्राज्य के केंद्रीय प्रदेशों में शहरी ह्रास के साक्ष्य अनेक स्थानों में देखे जा सकते है। वैशाली में गुप्तकालीन निर्माण पूर्ववर्ती निर्माणों से कम प्रभावोत्पादक है। पाटलिपुत्र (पटना) की भी स्थिति यही है। गुप्तकाल के दो सदी से भी कम समय बाद जब चीनी बौद्ध यात्री ह्वेंत्सांग भारत आया उस समय यह नगर छीज कर एक गांव की स्थिति में पहुंच गया था। खुदाइयों से सोहगोरा (गोरखपुर जिला) में इस काल में आबादी का कोई निशान नहीं मिला है जबकि मौर्य काल में वहां दो अन्नागार थे। वाराणसी किंचित महत्व का प्रशासनिक केंद्र तो बना रहा था लेकिन उसमें भी इस काल में ह्रास के चिन्ह दिखाई देते है।

स्पष्ट ही गुप्तकाल में शहरी केंद्र बिलकुल लुप्त नहीं हो गए। सुख-सुविधा में जीते सम द्ध नगर निवासी सर्वथा अनुपस्थिति नही थे। कामसूत्र में आनंदोपभोग में रात सुरूचि पूर्ण खुशहाल नागरिक का वर्णन है इसका समागम अयोजित किए जाते थे जिनमें काव्यपाठ होता था संगीत होता था काम कला की शिक्षा दी जाती थी।

(घ) दक्षिण भारत में राज्य निर्माण

(State Formation in South)

अध्याय–9

सरदारी राज्य एवं चोल राज्य

(Chiefdoms & Cholas)

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद उत्तरी भारत की भाँति दक्षिण भारत में भी अनेक राज्यों का उदय हुआ

दक्षिण भारत में जनजीवन पर पहले पहल संगम साहित्य से ही स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। यद्यपि हमें इस साहित्य में राजनीतिक जीवन, राज्यों के गठन तथा राजनीतिक गतिविधियों की तिथिक्रम के सम्बन्ध में यथेष्ट जानकारी प्राप्त नहीं होती फिर भी दक्षिण भारत के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक इतिहास तथा संस्कृति के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण स्त्रोत है। ऐसा लगता है कि ई.पू. प्रथम शती तक जहाँ उत्तर पश्चिम दक्षिण में सातवाहन तथा वाकाटका का वहाँ सूदर दक्षिण में तीन प्रमुख राज्यों पांडय चेर और चोलो - का उद्‌भव हो चुका था जैसा कि संगम साहित्य से स्पष्ट है। कलिंग के शासक खाखेल के प्रसिद्ध हाथीगुफा अभिलेख में भी तमिल प्रदेश के तीन राज्यों के संघ (त्रामिर देश संघटम्‌) को खाखेल शासक द्वारा पराजित करने का वर्णन आता है। किंतु इससे भी पहले 4 शताब्दी ई.पू. में मेगस्थनीज ने पांडयो के राज्य का उल्लेख किया है संगम कवियों ने इन तीन राज्यों की प्राचीनता तथा सम्मानित परम्परा प्रदान करने के लिए इनका सम्बन्ध महाभारत के कौरव पांडवों से जोड़ा है उदाहरणस्वरूप इस साहित्य में प्रथम चेर शासक उदियनजेरल द्वारा कुरूक्षेत्र के युद्ध में भाग लेने वाले सभी योद्धाओं को भोजन कराने की बात कही गई है वह बात दूसरी है कि इन घटनाओं का ऐतिहासिक तथ्यों से कोई मेल नहीं खाता।

इन तीन बड़े राज्यों के अतिरिक्त अनेक छोटे-छोटे राज्य भी इस क्षेत्र में विद्यमान थे जो परिस्थितिनुरूप इन तीन बड़े राज्यों में से किसी न किसी राज्य की युद्ध में सहायता करते रहते थे। संगम कवियों ने इन छोटे राज्यों की उनके राजाओं की उदारता के कारण काफी प्रंशसा की है तथा इन राजाओं के लिए उन कवियों ने वेल्लल (संरक्षक) नाम प्रयुक्त किया है।

दक्षिण भारत के इन राज्यों के उद्‌भव की एक विशेषता यह है कि ये 'राज्य कुल संघ' प्रतीत होते हैं। इस प्रकार के राज्य उत्तरी भारत में भी रहे हैं। जिन्हें कौटिल्य ने 'कुल संघ' कहा है। ऐसे राज्य में कुल के विभिन्न परिवारों के वयस्क पुरुष राज्य कार्य में भाग लेते थे। संगम कवियों ने लम्बे ग हयुद्ध का वर्णन किया है। चोल राज्य में उत्तराधिकार के युद्ध में नव शासकों की म त्यु हो गई थी। इस युद्ध में शेनगुट्टुवन राजा ने हस्तक्षेप किया। संगम कवियों द्वारा अपनी रचना में राजवंश के अनेक शासकों का नाम भरना, जैसा कि प्रो० डी० एन झा कहते हैं, भी यही साबित करता है कि राजवंश के सभी सदस्यों का सत्ता में कुछ-न-कुछ हिस्सा था इसका संकेत पदिटुटपातु में चेर शासकों के शासन काल से भी मिलता है। उदियनजेरल के बाद तीन पुश्त में होने वाले पाँच शासकों ने शासन किया। कुल मिलाकर इन लोगों ने 209 वर्ष शासन किया। साथ ही उसी वंश की अन्य शाखा के तीन शासकों ने 58 वर्ष तक शासन किया। इससे ऐसा लगता है कि इन शासकों ने क्रमिक उत्तराधिकार के अनुसार शासन नहीं किया वरन्‌ एक साथ ही सत्ता में भागेदारी करते रहे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युग में वंशानुगत राजतंत्र का प्रचलन था। उत्तराधिकार के लिए युद्ध होते थे। राजा सर्वशक्तिमान होता था। उसकी निरंकुशता को मान्य पंरपरा, बुद्धिमान मंत्री या राजा के कवि मित्र ही अपने प्रभाव से कम करते

थे। साधारणतया इस काल का साहित्य प्रजा को सुखी तथा राजा के प्रति निष्ठावान दर्शाता है। राजा का व्यवहार सभी व्यक्तियों के लिए अनुकरणी माना जाता था, इसलिए अनेक कवियों ने राजा के व्यवहार में नैतिकता पर जोर दिया है। उसके लिए कला, साहित्य तथा धर्म का संरक्षक होना अपेक्षित माना गया है। राजा के सामने आदर्श था प्रजा को संतान रूप में मानना तथा पक्षपातरहित होकर शासन करना। राजा प्रतिदिन अपनी सभा (नालवै) में प्रजा के कष्टों को सुनता था और न्यायकार्य संपन्न करता था। राज्य-संचालन में राजा के अत्यंत कठिन उत्तरदायित्व का बोध कवियों में था। राजा को प्रजा के लिए प्राणस्वरूप माना गया। राजा अपने दिन-प्रतिदिन के क्रियाकलापों तथा राजकार्य के संचालन में योग्य ब्राह्मण सहायकों पर निर्भर रहता था। ब्राह्मणों को कष्ट न देना राजा की अभिलाषा होती थी।

राज्य का अस्तित्व खेती पर ही आधारित था। जनता में वह परंपरागत धारणा थी कि योग्य राजा ऋतुओं को नियमित रखने में सक्षम होता है। राजा में विजेता (विजिगीशु) होने की आकाँक्षा होती थी और इसके लिए वे युद्ध भी करते थे। संपूर्ण भारत की विजय (दिग्विजय) करना भारतीय शासकों के लिए सदैव ही एक आदर्श रहा है। पुरनानुरू में सम्मिलित एक कविता में चक्रवर्ती राजा की चर्चा की गई है। इसी कृति में सम्मिलित एक अन्य कविता में राजा की म त्यु के बाद उसके साथी द्वारा आत्महत्या करने का उल्लेख है। बाद में इस पंरपरा का व्यापक प्रचलन मिलता है।

राज्य का सर्वोच्च न्यायालय राजा की सभा (मन्रम) ही होता था। उरैयूर के मन्रम में मलैयमान के लड़कों के अपराध की न्यायिक जाँच के बाद उन्हें म त्युदंड दिया गया, किंतु किलार के हस्तक्षेप के कारण उन्हें छोड़ दिया गया। सभासदों से यह अपेक्षा की जाती थी कि न्याय-संबंधी विवादों में वे निष्पक्ष रहेंगें। सभा में राजा अन्य प्रशासकीय विषयों पर भी परामर्श करता होगा। संगम काल के बाद की एक कृति कुरल में सभा को सभी कार्यों को संपदित करने वाली साधारण परिषद् कहा गया है। प्रशासन तथा न्याय-व्यवस्था के अंतर्गत बंदीग ह भी स्थापित थे।

इसके अतिरिक्त ग्रामीण जीवन की सामाजिक तथा धार्मिक समस्याओं के समाधान के लिए भी मन्रम नामक सभा होती थी। प्रत्येक गाँव में सामाजिक क्रिया कलापों, खेल-कूद, मनोरंजन के कार्यक्रमों आदि के लिए एक विशेष स्थान होता था। ऐसे स्थलों का कभी-कभी पेड़ों के नीचे होने का उल्लेख भी मिलता है। इस प्रकार के ग्रामीण आयोजनों में राजनीतिक विचार-विमर्श तथा निर्णय भी होते होंगे जिसका आगे चलकर ग्रामीण स्वशासन की संस्था के रूप में विकास हुआ। बाद में चोल शासकों के अंतर्गत स्थानीय स्वशासन अत्यंत सुसंगठित संस्था के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

कृषि तथा व्यापार ही राज्य की आय के मुख्य साधन थे। किंतु कृषि-उत्पादन में राज्य का कितना भाग होता था, इसका कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं है। विदेशी व्यापार का बड़ा महत्त्व था क्योंकि इससे सीमा-शुल्क (कस्टम) के रूप में राज्य की भारी धनराशि प्राप्त होती थी। पुहार (कावेरीपत्तिनम) के संबंध में विशेष रूप से वहाँ के अधिकारियों के बारे में पट्टिनप्पालइ में बड़ा सजीव वर्णन है। आंतरिक व्यापार में भी चुंगी ली जाती थी। अनधिकृत व्यापार की रोकथाम के लिए सड़कों पर सैनिकों द्वारा रातदिन निगरानी की जाती थी। कर-वसूली में समय तथा नरमी के लिए परंपरित मान्यता तथा कवियों का आग्रह राजा को प्रभावित करना था।युद्ध में लूट की सामग्री भी आय का एक स्त्रोत था।

सभी शासक पेशेवर सैनिकों की सेना रखते थे। सेना के कप्तान की उपाधि 'एनाड़ी' थी। परंपरित चतुरंगिणी - रथ, हाथी, घोड़े तथा पैदल - सेना संगठित की जाती थी। अस्त्र-शस्त्र में तलवार, धनुष बाण, बाघंबर का कवच, बर्छे, भाले, ढाल का उल्लेख मिलता है। सैनिकों के आह्वान के लिए नगाड़े तथा शंख की ध्वनि प्रयोग में लाए जाते थे। युद्ध में म त्यु स्वर्ग के द्वार के रूप में मान्य थी। युद्ध में म त सैनिकों की पत्थर की मूर्तियाँ बनाई जाती थी। राजा स्वयं लड़ाई के मैदान में सैनिकों के साथ लड़ता था। युद्ध में शत्रु के खेतों तथा फ़सल को नष्ट कर दिया जाता था।

राजा केवल राज्य का ही प्रमुख नहीं था वरन् समाज में भी इसको उच्च स्थान प्राप्त था। राजा द्वारा विभिन्न ललित कलाओं को प्रोत्साहन तथा संरक्षण प्रदान किया जाता था। कभी-कभी राजा मुक्त हस्त से कवियों तथा कलाकारों को धनराशि वितरित करता था। करिकाल ने पट्टिनप्पालइ के रचयिता को 16,00,000 सोने की मुद्राएँ प्रदान की। कवियों को विशेष रूप से दरबार में प्रश्रय मिलता था। मनोरंजन के लिए गायकों की मंडली भी राजा के दरबार से संबद्ध होती थी। इनमें कुछ मंडलियाँ जनजाति के लोक गीतों को प्रस्तुत करने वाली थीं। जनजाति के गायकों की आर्थिक दशा अत्यंत दयनीय थी। वे बहुत निर्धन होते थे।

इसके विपरीत राजा और उसके सेना के नायक 'एनाड़ी' लोगों के पास प्रचुर धन-संपत्ति होती थी। अपार धन के कारण इन लोगों में मदिरापान, विषय-वासना तथा मनोरंजन के रीति-रिवाजों का बड़ा सजीव चित्रण कवियों ने किया है। इस काल के पुरुषों का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था और स्त्री-समाज की दशा अच्छी नहीं प्रतीत होती। विधवाओं के सादा जीवन का वर्णन प्राप्त होता है तथा सती प्रथा का भी प्रचलन था। निश्चित ही ये विवरण स्त्रियों की दुर्बल स्थिति के परिचायक हैं।

संगमकालीन राजतंत्र के तत्कालीन राजनीतिक जीवन पर जनजातीय तत्त्वों का प्रभाव स्पष्ट नज़र आता है। एम॰ जी॰ नारायणन ने संगम साहित्य का गहन अध्ययन करके जनजातीय रीतिरिवाजों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। संगम कवियों ने मरवा नामक जनजातियों में प्रचलित वेत्ची (गोग्रहण या गोहरण) प्रथा के अंतर्गत पशुओं की चोरी या लूट का यथेष्ट विवरण प्रस्तुत किया है। कहीं तो निंदा का स्वर मुखरित करते हुए इन पशुहरण करने वाले योद्धाओं की तुलना मांसाहारी गिद्धों से की गई है और कहीं लूट में उनकी वीरता की उन्मुक्त प्रशंसा के विवरण प्राप्त होते हैं। पहाड़ के ढलानों पर स्थित पशुहरण में कुशल और लड़ाकू मरवर जाति तथा मैदान के शांतिप्रिय पशुपालक लोगों के बीच संघर्ष संगम काल के दैनिक जीवन का एक अभिन्न अंग प्रतीत होता है।

पुरुणानूर में संकलित एक कविता में, जंगल में चरवाहे को मारने के बाद गाय के झंडु को लाकर उपहारस्वरूप बाँटने वाले नायक की वीरोचित प्रशंसा की गई है। एक अन्य वेत्ची नायक का चोल राजा के संबंध था। कभी-कभी आमोद-प्रमोद और मांसाहार के लिए पशुओं को लूटा जाता था और कभी यह लूट युद्ध के प्रारंभिक धावे के रूप में होती थी। पशुहरण में प्रवीण मरवर योद्धा राजा के साथ युद्ध में भाग लेते थे। इस प्रकार राजा भी वेत्ची से संबंधित हो जाता था। अपने स्वामी तथा गाँववालों के लिए युद्ध करना क़बीले के नेता अपना **कुलधर्म** मानते थे। कबीले के प्रधान की सहायता में पूरे गाँव वाले अग्रसर होते थे। युद्ध में जिस स्थल पर इनकी म त्यु होती वहाँ उस नायक के सम्मान में पत्थर लगाया जाता था। ये मरवा क़बीले के लोग तमिल शासकों की सेना में स्थान पाते थे। इन लोगों की पशुपालन तथा कृषि में रुचि नहीं थी। ब्राह्मण धर्म के उच्च आदर्शों के प्रति भी इनका कोई विशेष लगाव द ष्टिगोचर नहीं होता।

पूर्व-वैदिक समाज में पशु, विशेष रूप से गाय, की चोरी व लूट होती थी क्योंकि इन्हें संपत्ति के रूप में माना जाता था। उत्तर भारत की वैदिक पंरपरा में भी सफल पशुहरण के उपलक्ष में आयोजित उत्सव में पुरोहित दान आदि प्राप्त करते थे। सामाजिक विकास तथा वर्गीकरण की प्रक्रिया में इस बात की पर्याप्त संभावना है कि उत्तर तथा दक्षिण भारत के अनेक क्षेत्रीय शासक, चाहे वे आर्य हों अथवा अनार्य, अपनी मूल यायावरी या अर्धयायावरी सामाजिक प ष्ठभूमि से ही शक्तिशाली शासक वर्ग के रूप में प्रतिष्ठित हुए। सूर्यवंशी तथा चंद्रवंशी शासक के रूप में प्रसिद्ध होने पर भी इन लोगों में कुछ पुरानी परंपराएँ चलती रही जिनमें पशुहरण भी एक थी।

संगम कवियों से स्पष्ट है कि चेर, चोल, पांड्य तथा दक्षिण के अन्य छोटे राज्यों के अंतर्गत जिस सामाजिक ढाँचे में ब्राह्मण संस्कृति की नैतिकता तथा उच्च आदर्श स्थापित थे उसी में जनजातीय रीति-रिवाज तथा जीवन-मूल्य भी प्रतिष्ठित थे। इनमें प्रचलित युद्ध के तरीकों, नायकों की परिकल्पना, शूरवीरता संबंधी उनकी मर्यादा, म त नायकों के सम्मान में पाषाण प्रतिमाओं की स्थापना, उनमें गोमांसाहार की परंपरा, आदि की तात्कालिक जीवन पर गहरी छाप है। मूल रूप से अनेक महत्त्व के कारण जनजातीय लोगों ने संगम काल के राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन को अनेक ढंगों से प्रभावित किया।

चोलो की प्रशासन प्रणाली

भारतीय राज्य के विकास क्रम में प्रारम्भिक मध्ययुगीन इतिहास का समय अनेक महान प्रान्तीय राज्यों और न पतन्त्रों के उदय और विस्तार का रहा है। सूदुर दक्षिण के राज्यों में पांडेय, चेरि तथा चोलो के राज्य उल्लेखनीय रहे हैं। 10, 11 वीं शताब्दी के आते-आते राजराजा और उसके उत्तराधिकारियों के अधीन चोल साम्राज्य दक्षिण की प्रमुख शक्ति के रूप में स्थापित हुआ। चोलो के राज्य का स्वरूप भले ही राजतन्त्रामक था परन्तु स्थानीय इकाईयों जैसे ग्राम सभाओं को काफी स्वायतता दी गई थी।

राज्य का स्वरूप

संगम साहित्य से हमें यह जानकारी मिलती है कि दक्षिण भारत में भी राज्य का स्वरूप राजतंत्रीय था जिसमें राजा सर्वशक्तिमान था। वह समाज और राज्य का मुखिया था। विधि का सर्वोच्च प्रशासक था। राजा जन-संरक्षक तथा न्याय का प्रतीक था। उसकी निरंकुशता को मान्य परंपरा, बुद्धिमान मंत्री, संगठित अधिकारी-तंत्र या राजा के कवि मित्र ही सीमित कर सकते थे। साधारणतः राजतंत्र वंशानुगत था तथापि उत्तराधिकार के लिए युद्धों का भी उल्लेख मिलता है। प्रजा सुखी तथा राजा के प्रति निष्ठावान थी। राजा का व्यवहार सबके लिए अनुकरणीय माना जाता था अतः उसके व्यवहार में नैतिकता परम आवश्यक थी। राजा कला, साहित्य तथा धर्म का संरक्षक था, प्रजा को संतान के समान मानते हुए प्रतिदिन अपनी सभा (नालवै) अथवा अवाइ (Avai) में प्रजा के कष्टों को सुनता था तथा पक्षपात रहित होकर शासन तथा न्याय कार्य संपन्न करता था। संगम साहित्य में राज्यसंचालन में राजा के अत्यंत कठिन उत्तरदायित्व को समझते हुए राजा को प्रजा के लिए प्राणस्वरूप माना गया। राजा अपने दिन-प्रतिदिन के नित्यकर्म तथा राज कार्य के संचालन में योग्य ब्राह्मण सहायकों पर निर्भर था। राज्य में ब्राह्मणों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण थी तथा किसी राजा के लिए प्रशंसा के सर्वोच्च शब्द यह हो सकते थे कि वह ब्राह्मणों को कष्ट नहीं पहुंचाता।

कार्यक्षेत्र

राजा केवल राज्य का ही प्रमुख नहीं था अपितु समाज में भी उसको उच्च स्थान प्राप्त था। राजा द्वारा विभिन्न ललित कलाओं को प्रोत्साहन तथा संरक्षण प्रदान किया जाता था। इस उद्देश्य से प्रायः राजा कवियों तथा कलाकारों को धनराशि वितरित करता था।

यथा प्रारंभिक चोल राजाओं में से प्रमुख करिकाल द्वारा पट्टिनप्पालै के रचयिता को 16,00,000 सोने की मुद्राएं प्रदान करने के विवरण उपलब्ध हैं। कवियों और गायकों को विशेष रूप से दरबार में प्रश्रय दिया जाता था। इसके अतिरिक्त दक्षिण भारतीय राज्य/राजा मंदिरों के उदार संरक्षक भी थे। अधिकांश अभिलेखों के अनुसार राजा तथा राज परिवार मंदिरों को प्रचूर मात्रा में भेंट व दान देते थे जिनका उद्देश्य ब्राह्मण के अनुष्ठानों, बलि, यज्ञ, पूजा इत्यादि को सहायता प्रदान करना था। मुख्यतः ये भेंट अलंकृत वेदी-स्थल, मूर्तियां बहुमूल्य आभूषण इत्यादि के रूप में होती थी। कहीं-कहीं पर दान कृषि भूमि को कर से मुक्ति के रूप में भी होता था जिसमें प्रायः एक सम्मानित व्यक्ति औपरचारिक रूप से राजा से किसी निश्चित कृषि-भूमि के कर के स्थगन और उस कर को निश्चित मंदिर के अनुष्ठान/कर्मकांड के खर्च के लिए हस्तातंरित करने की प्रार्थना करता था। राजा इस प्रार्थना को स्वीकार करते हुए कर-स्थगन की अनुमति देते और साथ ही कर को औपचारिक तौर पर मंदिर के रख-रखाव के लिए हस्तांतरित करने के निर्णय को सार्वजनिक रिकार्ड में चढ़ाने का आदेश भी दे देते थे। यह परंपरा 11वीं शताब्दी में अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई जो चोल राजाओं का भी चरमोत्कर्ष का समय था।

सेना

राजा में विजेता होने की आकांक्षा होती थी और इसके लिए वे युद्ध के लिए तत्पर भी रहते थे। संपूर्ण भारत की विजय (दिग्विजय) करना दक्षिण भारतीय शासकों के लिए एक आदर्श था। संगम साहित्य में भी चक्रवर्ती राजा का उल्लेख मिलता है। स्वाभाविक ही, सभी शासक पेशेवर सैनिकों की सेना रखते थे। सेना के कप्तान की उपाधि 'एनाड़ी' थी। परंपरागत चतुरंगिणी सेना संगठित की जाती थी जिसमें रथ, हाथी, घोड़े तथा पैदल सैनिक सम्मिलित होते थे। चोल राज्य में सेना की 31 टुकड़ियों (Regiments) का उल्लेख शिलालेखों से मिलता है जिनके प्रशिक्षण व अनुशासन पर विशेष ध्यान दिया जाता था। संपूर्ण सेना की संख्या लगभग 1,50,000 थी जिसमें 60,000 हाथी थे। घुड़सवार सेना के लिए अरबी घोड़े मंगाए जाते थे। सेनाध्यक्षों में नायक, सेनापति और महादंडनायक होते थे। असीम शौर्य प्रदर्शन करने पर 'क्षत्रियशिखामणि' जैसी पदवियां प्रदान की जाती थीं। अस्त्र-शस्त्र में तलवार, धनुषबाण, बाघंबर का कवच, बर्छे, भाले, ढाल इत्यादि का उल्लेख मिलता है। सैनिकों के आह्वान के लिए नगाड़े तथा शंख की ध्वनि प्रयोग मे लाए जाते थे। राजा के आवास पर सशस्त्र महिलाएं रक्षक के रूप में नियुक्त की जाती थी। परांतक प्रथम के समय के शिलालेखों की एक से ये जानकारी भी मिलती है कि राजा के व्यक्तिगत अंगरक्षकों की एक टुकड़ी भी सेना का भाग थी जो साम्राज्य की सेवा के साथ-साथ राजा की व्यक्तिगत सुरक्षा के लिए सदैव तत्पर रहती थी। राजा स्वयं भी युद्ध के मैदान में सैनिकों के साथ लड़ते थे। युद्ध में म त्यु स्वर्ग के द्वार के रूप

में मान्य थी। युद्ध में वीरगति प्राप्त सैनिकों की पत्थर की मूर्तियां बनाई जाती थी। वैदिक व मौर्यकालीन परंपरा से भिन्न दक्षिण भारतीय राज्यों में युद्ध में शत्रु के खेतों तथा फसल व नागरिक जनसंख्या को भी नष्ट कर दिया जाता था। सैनिक के रूप में 'बेलालर' लोगों का काफी महत्व था। ये संपन्न कृषक थे, फिर भी युद्ध में भाग लेते थे। इनके अतिरिक्त ब्राह्मण भी सेना में नियुक्त होते थे।

अर्थव्यवस्था/आर्थिक तंत्र

चोल राज्य का अस्तित्व कृषि पर ही आधारित था यद्यपि राज्य की आय के प्रमुख स्त्रोत कृषि व व्यापार दोनों थे। कृषि-उत्पाद में राज्य का कितना भाग होता था इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता फिर भी राजराजा प्रथम के समय में यह उत्पादन का एक-तिहाई प्रतीत होता है। योग्य राजा ऋतुओं को० नियमित रखने की क्षमता रखता है ऐसा विश्वास भी प्रचलित था। विदेशी व्यापार का भी अत्यंत महत्व था क्योंकि इससे सीमा-शुल्क के रूप में राज्य को भारी धन-राशि प्राप्त होती थी। आंतरिक व्यापार में भी चुंगी ली जाती थी तथा अनुबंधित व्यापार की रोक थाम के लिए सैनिकों द्वारा विभिन्न मार्गों की दिन-रात निगरानी की जाती थी। कर-वसूली में संयम तथा नरमी बरतने की परंपरा थी। युद्ध में लूट की सामग्री भी आय का एक स्त्रोत था। चीन, सुमात्रा, जावा, तथा अरब राष्ट्रों के साथ व्यापारिक अंतः क्रिया के प्रमाण उपलब्ध है जो व्यापार के उन्नत स्तर की ओर संकेत करते हैं। कुछ व्यापारिक श्रेणियां (guilds) बड़े आकार के अंतर्राष्ट्रीय संगठन थे। उद्योग उन्नत व फल-फूल रहे थे विशेषतः आभूषण, धातु उद्योग व बुनाई का कार्य।

भूमि पर व्यक्तिगत व सामुदायिक दोनों प्रकार के स्वामित्व का अस्तित्व था। कृषि की संपन्नता हेतु केंद्रीय व स्थानीय शासन द्वारा सिंचाई की सुविधा का विशेष ध्यान रखा जाता था। कावेरी व अन्य नदियों के जल के उचित उपयोग हेतु बड़े-बड़े तालाब बनाए गए थे। ग्राम-सभाएं इनके रख-रखाव के लिए तथा वन व अनुपयोगी भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिए उत्तरदायी थीं। कृषि उत्पाद में राज्य का हिस्सा विस्त त भू-सर्वेक्षण व भूमि के श्रेणियों में विभाजन के बाद निश्चित किया जाता था जिसका समय-समय पर संशोधन व नवीकरण किया जाता था। सार्वजनिक व्यय के प्रमुख क्षेत्र, राजा, दरबार, सेना, नौ-सेना, नागरिक प्रशासन, सड़क, सिंचाई-सुविधाएं, तथा मंदिर व धार्मिक विधियां थीं।

चोल राज्य की वित्त व्यवस्था का ज्ञान भी तत्कालीन अभिलेखों से प्राप्त होता है जिनमें भू-उत्पाद के अधिकारों के हस्तांतरण का लेखा-जोखा अंकित है। चोलकालीन राज्य व्यवस्था में मुख्यतः दो प्रकार के भूमि-शुल्कों का वर्णन मिलता है। प्रथम, स्थानीय स्तर पर भूमि के नियंत्रकों पर अनेक प्रकार के शुल्क देय थे जो सिंचाई सुविधाओं और ग्रामीण-स्वशासन की स्थानीय प्रक्रियाओं के रख-रखाव के वार्षिक खर्च के लिए थे। द्वितीय, उच्चतर अभिक्रमों के कृषि उत्पाद के भाग के रूप में लिए जाने वाले अनेक प्रकार के शुल्क थे। इनमें से एक भू-शुल्क 'कदमाई' था जो प्रायः चोल राज्य के केंन्द्रीय प्रांत में भू-शुल्क विभाग द्वारा निर्धारित अवधि पर 'वस्तु' रूप में देय था। इनके अतिरिक्त शुल्क नकद अथवा वस्तु के रूप में देय थे जो शुल्क-संग्रह करने वाले अभिकर्ताओं (agents) के रख-रखाव का भार वहन करने के लिए होते थे। कृषि उत्पाद-शुल्क के दो विभाजन 'मैलवारम्' (उच्चस्थ अधिकारियों का भाग) और 'किलवारम' (निम्नस्थ अधिकारियों का भाग) थे। कृषि उत्पाद और भू-शुल्क के अतिरिक्त ग्रामीण शासन हेतु कर, नाडु शासन हेतु कर (नाटाची), हल चलाने हेतु शुल्क (उरप पोन), विवाह शुल्क (कणाकल काणम) तथा कानूनी शुल्क (विवास्ताई), स्थानीय वैयक्तिक श्रम हेतु शुल्क (विनियोगम), अंतर्वर्ती आय कर (अन्तरायम्), पके चावलों में अधिकारियों का हिस्सा (इकोरू), विशेष 'सुरक्षा' शुल्क (पाड़िकावल) इत्यादि का भी उल्लेख मिलता है।

कडुपाह जिले के चिडिपिरल्ला में प्राप्त 1578 के एक अभिलेख में अनेक प्रकार के भू-राजस्व और काश्तकारी व्यवस्थाओं के उल्लेख मिलते हैं। विभिन्न प्रकार के लोगों को उनकी सेवाओं के बदले में देवदाय, ब्रह्मदेय, व त्ति तथा मान्य भूमि देने के अतिरिक्त शासक अथवा प्रांतीय प्रशासक काश्तकारों को पट्टे पर भूमि देते थे जिसका निश्चित वार्षिक किराया देय होता था। काश्तकारों (कंपुओं) को अनेकशः नई तथा कृषि के अयोग्य बंजर भूमि को कृषि-योग्य बनाने के लिए प्रोत्साहित करने हेतु भी भूमि दी जाती थी। अधिकांशतः जमीन को पट्टे पर देने वाले जन महामंडलेश्वर (मंदिर प्रमुख) कार्यकर्ता (राज-अधिकारी) मठ, तथा नायक प्रमुख (प्रांतीय शासक) होते थे तथा पट्टे पर लेने वाले कंपु, करणम, रेड्डी, गौड़ तथा कुछ अन्य व्यक्ति होते थे। प्रायः राजाओं से भू-अनुदान मंदिरों को प्राप्त होता था जो उसे नायकों को पट्टे पर देते थे और नायक अंततः उसे काश्तकारों को खेती के लिए देते थे। उससे प्राप्त होने वाले उत्पाद में मंदिर का भाग मंदिर के कोष में भेज कर, थोड़ा सा भाग काश्तकारों को देकर

शेष स्वयं नायक रखते थे और इस प्रकार वे सबसे बड़े भू-बिचौलिए भी कहे जा सकते थे जो अपनी संपत्ति में इस अतिरिक्त भू-उत्पाद से निरंतर व द्धि करते थे।

प्रशासनिक-तंत्र

चोल राज्य के अधिकारियों की पहचान उनके नाम और पदवियों के मिश्रण के कारण जटिल है। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि अधिकांश अतिरिक्त पदवियां व नाम इन अधिकारियों की राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था में अवस्थिति की ओर संकेत करते हैं। जबकि बर्टन स्टीन का मानना है कि सभी अतिरिक्त पदवियां मात्र सम्मानजनक और राजा द्वारा प्रदत्त थी तथा वे प्रशासनिक कार्यों की ओर संकेत नहीं करती। तथापि इन दोनों द ष्टिकोणों को ध्यान में रखते हुए भी उपलब्ध सामग्री से चोलकालीन प्रशासनिक अधिकारियों के विषय में जानकारी प्राप्त की जा सकती है। उदाहरणार्थ दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी के अभिलेखों में अधिकारियों के एक ऐसे समूह का उल्लेख मिलता है जो 'नाडु' के रख-रखाव में संलग्न थे जिनमें मुख्य निरीक्षक (कण्कणी नायकन), प्रशासक (अधिकारी) तथा सेनापति उल्लेखनीय है। मुख्य निरीक्षक प्रायः विभिन्न गांवों और सभाओं की वार्षिक देय राशि तथा मंदिरों के विभिन्न देवी-देवताओं के लिए सुनिश्चित राशि के निर्धारण का कार्य संपन्न करते थे। प्रशासक अथवा अधिकारी न्यायालयों में उपस्थित होने तथा दूर-दराज के इलाकों में विभिन्न कार्यों के निरीक्षण के लिए उत्तरदायी थे। अनेक अधिकारी राजकीय परिवार के साथ जुड़े थे और अनेकशः दानियों के रूप में भी उनका उल्लेख आता है। प्रायः ये विस्त त राज-परिवार का ही अंग माने जाते थे जिनमें राजा के सचिव, मित्र, अंतरंग, पदाधिकारी, चोल कुल से जुड़े श्रेष्ठ कुलों के वंशज तथा राज-परिवार के निकट संबंधी सम्मिलित थे। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में जिन कुशल राज्यों को 'कुलसंघ' का नाम दिया है वे ऐसे ही प्रतीत होते हैं।

चोल राज्य तंत्र के अधिकांश पदाधिकारी स्थानीय विवादों में मध्यस्थता का कार्य भी करते प्रतीत होते हैं। किसी भूमि से ईश्वर अथवा मंदिर के लिए देय राशि के विषय में उत्पन्न विवादों में ऐसे अधिकारी इस गांव में जाते, संबंधित कागज़ों को देखते, प्रासंगिक गवाही सुनते और स्थानीय सभाओं की उपस्थिति में निर्णय दे देते जिसकी मान्यता कानून के समान थी। उदाहरणार्थ, तिरूविदाइमेरादुर में मंदिर में श्री कार्य (धार्मिक कार्य) करने वाले एक अधिकारी की मध्यस्थता का वर्णन मिलता है। वह अधिकारी स्थानीय समुदाय द्वारा मंदिर को देय राशि से संबंध विविध तर्क सुनता है, समुदाय के अग्रणी लोगों को संबंध दस्तावेज/कागज दिखाने का आदेश देता है और उनके आधार पर देय राशि की सीमा निर्धारित करता है। ऐसे ही कार्य विस्त त राज-परिवार से जुड़े अधिकारी भी करते थे। तदर्थ हस्तक्षेप व मध्यस्थता का कार्य होने के बावजूद ये राज-प्रतिनिधि स्थानीय मामलों में राजकीय पैठ के प्रतीक थे और इस रूप में केंद्रीत नौकरशाही की संरचना के बाहर रहते हुए भी राजकीय प्रभाव के विस्तार की महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। परंतु यह भी स्पष्ट है कि ये अधिकारी एक प्रशासनिक अधिकारी-तंत्र का हिस्सा नहीं थे। इसी आधार पर जेम्स हीट्ज़मैन इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इन अधिकारियों के नामों के विश्लेषण से चोल राज्य में शासन के लिए शाखाओं में विभाजित (ramified) नौकरशाही की व्यवस्था के बहुत कम संकेत मिलते हैं।

बाद के अभिलेखों में राजकीय प्रतिनिधियों के एक निम्न समुदाय के उल्लेख मिलते हैं जिन्हें 'भूमि-शुल्क विभाग' (land revenue department) के सदस्य के रूप में वर्णित किया गया है। ये सदस्य विशेषतः एक उद्देश्य हेतु कार्य करते थे। वह उद्देश्य था भूमि के माप-तोल व उस पर देय शुल्क-राशि का हिसाब-किताब रखना। प्रायः ही राजकीय आदेशों में इस विभाग का उल्लेख होता था।

और अनेक बड़े अभिलेखों में भी इस विभाग की राजा की इच्छा व आदेश क्रियान्वित करने और अन्य राजनीतिक संरचनाओं के साथ उनको जोड़ने की भूमिका का वर्णन मिलता है। भूमि-शुल्क विभाग के अधिकारियों के कार्यों में विभाग का पर्यवेक्षण, रिकार्ड की नकल रखना, उस पर राजकीय मुहर लगाना तथा स्थानीय ऐजेंटों और राज-महल के अन्य लेखा विभागों की गतिविधियों के साथ संबंध जोड़े रखना इत्यादि शामिल है। इस विभाग के अधिकारी विशिष्ट व श्रेणीबद्ध पदों पर कार्यरत थे तथा राजा के आदेशों को स्थानीय इकाई तक हस्तांतरित करने के विशिष्ट कार्य में संलग्न थे अतः इस विभाग को एक अधिकारी-तंत्रीय राज्य का अंग माना जा सकता है जिसमें अधिकारीतंत्र के अनेक गुण देखे जा सकते थे जैसे प्रणालीबद्धता, केंद्रीकृत निर्णय, कार्य-विशिष्टता, श्रेणीबद्धता, विभिन्नीकृत आदेशों व भूमिकाओं की कड़ी तथा अधीनस्थता इत्यादि। जहां प्रारंभिक चोल राज्य में विस्त त राज-परिवार के अधिकारियों की विशालतम संख्या थी, वहीं ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारंभ तक

उनकी संख्या घटती गई और उनका स्थान भूमि-शुल्क विभाग के नौकरशाह लेते गए।

चोल राज्य में लगाए जाने वाले प्रमुख करों के अध्ययन से एक निंरतर ढांचा उभर कर आता है जिससे यह जानकारी मिलती है कि धीरे-धीरे ग्रामीण प्रशासन द्वारा निर्धारित और संग्रहित करों और शुल्कों के महत्व में कमी आई और कर-संग्रह के अधिकार उच्चतर अभिकरणों के हाथों में केंद्रित होते गए। इनसे यह भी ज्ञात होता है कि धीरे-धीरे चोल राजाओं के अधीनस्थ अधिकारियों की ग्रामीण प्रशासन में पैठ बढ़ती गई जो चोल राज्य की बढ़ती सत्ता का भी सूचक है। जैसे-जैसे चोल राजाओं की सत्ता बढ़ी, स्थानीय सभाओं जैसे नाटार दह्मजजह्मत (नाडु नेताओं की सभा) की प्राथमिकता और सत्ता कम होती गई और जैसे ही चोल राजाओं की शक्ति क्षीण हुई, ये स्थानीय सभाएं फिर से सत्ता में स्थापित होने लगी। चोल राज्य की बढ़ती हुई सत्ता का एक अन्य प्रमाण मंदिरों के निर्माण और उनको दान में मिली भूमि व अन्य संपत्ति में उत्तरोत्तर व द्धि था। परंतु जैसे-जैसे केंद्रीय राज्य की सत्ता क्षीण हुई, मंदिरों की स्थायी धर्मनिधि (endowments) में विस्तार होता गया और अंततः मंदिर स्वयं ही मुख्य भूमिपति और राजनीतिक शक्ति बन कर दक्षिण भारत की महानतम संस्थाएं बन गए। हीट्ज़मैन चोल राज्य को एक 'प्रारंभिक राज्य' की श्रेणी में रखते हैं क्योंकि इसका कृषिगत आधार और राजनीतिक शक्ति विस्तार की प्रारंभिक अवस्था में थे तथापि चोल राजाओं ने उपजाऊ नाडुओं में शासकीय प्रवेश की नई सीमाएं स्थापित की। ऐसा उन्होंने आर्थिक क्रियाओं के निरीक्षण, राजकीय अधिकारियों की मध्यस्थता और कराधान व संग्रह के विस्तार के माध्यम से किया। परिणामस्वरूप, चोल राज्य ने विस्तार, शहरीकरण और स्थानीय मामलों में केंद्रीय अंतप्रवेश की जो विरासत छोड़ी वह पांड्य और विजयनगर साम्राज्य-निर्माण की अवधि में भी लुप्त नहीं हुई अपितु अधिक प्रभावी तौर पर क्रियान्वित हुई।

चोल शासन तंत्र में अधिकारियों को भुगतान भू-अनुदानों अथवा भू-प्रबंधन के अधिकार के माध्यम से किया जाता था तथा उन्हें सम्मान व प्रोत्साहन पदवियों के माध्यम से दिया जाता था। उच्चधिकारियों को पैरून्दारम (Perundarem) तथा निम्न अधिकारियों को सिरूतारम (Sirutaram) की अवस्थिति प्राप्त थी। राजा के द्वारा विभिन्न स्थानों के भ्रमण की प्रक्रिया से प्रशासन की कुशलता व निपुणता बनी रहती थी।

चोल राज्य में स्थायी मंत्रिपरिषद् का उल्लेख नहीं मिलता परंतु कार्यकारी अधिकारियों की संस्था 'उडन-कुट्टम' निरंतर राजा की सहायता में तत्पर रहती थी। चोल अधिकारियों का उच्च व निम्न श्रेणियों में विभाजन था जिसे उनकी पदवियों से पहचाना जा सकता था। राजकीय भूमि-अनुदान के लिए एक जटिल प्रशासन तंत्र व प्रक्रिया निर्धारित थी। राजा के आदेश पहले एक सचिव को लिखित में सूचित किए जाते थे फिर उस पर तीन प्रमुख सचिवों द्वारा हस्ताक्षर किए जाते, तत्पश्चात राज्य के लेखा-विवरण में नियुक्त तीन अधिकारियों द्वारा दर्ज किए जाते, उसके बाद 38 राजकीय अधिकारियों की सभा होती थी जहां चार अधिकारी आदेश दर्ज करने का आदेश देते, एक आदेश को पढ़ते, एक अन्य अधिकारी उसे दर्ज करते तथा एक अन्य संशोधित लेखा-विवरण को जारी करते।

न्याय-व्यवस्था

राजा का सर्वोच्च न्यायालय राजा की सभा (मन्रम) ही होती थी। सभासदों से यह अपेक्षा की जाती थी कि न्याय संबंधी विवादों में वे निष्पक्ष रहेंगें। ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं कि सभा में राजा अन्य प्रशासकीय विषयों पर भी परामर्श करता होगा जैसे संगम काल के बाद की एक कृति 'कुरल' में सभा को सभी कार्यों को संपादित करने वाली साधारण परिषद कहा गया है। प्रशासन तथा न्याय व्यवस्था के अंतर्गत बंदीग ह स्थापित थे। न्याय-समिति अर्थात 'न्यायाट्टार' विवादों के निपटारे, अपराध की घोषणा व स्थापना तथा दंड देने के अधिकारों से युक्त थी। अपराधी के अपराध की जांच एक जन-समिति द्वारा करने की व्यवस्था के संकेत भी मिलते हैं जिससे यह कहा जा सकता है कि चोलकालीन व्यवस्था में 'जूरी पद्धति' (Jury System) का अस्तित्व था। म त्यु दंड बहुत कम मामलों में दिया जाता था। दुर्घटना मे म त्यु की स्थिति में अपराधी को गांव के मंदिर में स्थायी दीप का दान देने का दंड किया जा सकता था जिससे म तात्मा को धार्मिक पुण्य प्राप्त हो सके। उत्तरामेरूर शिलालेखों से ज्ञात होता है कि अवैध संबंध, चोरी, धोखा-धड़ी तथा कौटुंबिक व्याभिचार जैसे गंभीर अपराधों के लिए भी 'गधे की सवारी' जैसे दंड दिए जा सकते थे। इससे यह प्रतीत होता है कि चोल न्याय व्यवस्था काफी उदार थी।

स्थानीय स्वशासन

प्रशासनिक सुविधा के लिए चोल राज्य प्रांतों, मंडलों, नाडुओं व नगरों में विभाजित था। राजराजा का साम्राज्य आठ मंडलों अथवा प्रांतों में विभाजित था जो आगे वेलनाडु और नाडुओं तथा कुर्रमों अथवा कोट्टमों में उपविभाजित थे जो स्वायत्त गांवों की एक निश्चित संख्या से बने थे तथा प्रशासन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते थे। अनेकशः प्रांतों का शासन युवराजों द्वारा नियंत्रित था।

दक्षिण भारत की उर्वर नदी-घाटियों की एक प्रादेशिक इकाई को 'नाडु' के नाम से जाना जाता था। एक नाडु में प्रायः 300 के लगभग गांव शामिल होते थे। एक ऐसी प्रादेशिक इकाई जिसमें निवासियों के जीवन-निर्वाह के पर्याप्त साधन हो और मुखिया के लिए पर्याप्त आय के स्त्रोत हों, एक श्रेष्ठ नाडु समझा जाता था। इससे यह संकेत मिलते हैं कि पहले बिखरी हुई विखंडित इकाइयों का एकीकरण हो चुका था और धीरे-धीरे अनेक विशिष्टकृत स्थानीय अर्थव्यवस्थाओं का नाडु की नई प्रादेशिक इकाई में एकीकरण हो रहा था।

बर्टन स्टीन ने नाडुओं को मध्यकालीन दक्षिणी भारत के आंतरिक रूप से विभिन्नीकृत स्थानीय सामाजिक संरचनाएं मानते हुए यह तर्क दिया है कि इस समय की राजनीतिक व्यवस्था ऐसे विखंडित तथा स्तरीकृत सामाजिक व्यवस्था पर आधारित थी। ये नाडु उनके अनुसार स्तरीकृत श्रेणीबद्ध, व्यावसायिक विविधता युक्त, सांस्कृतिक आधार पर विभिन्नीकृत प्रादेशिक इकाइयां थीं जिनमें प्रायः परस्पर पूरक विपक्षी प्रव त्तियों का प्रदर्शन भी मिलता था। इसी तर्क को आगे बढ़ाते हुए बर्टन स्टीन ने नीलकान्त शास्त्री जैसे इतिहासकारों द्वारा चोल राज्य के "प्रभावी स्थानीय प्रशासनिक इकाइयों से युक्त केंद्रीकृत राज्य" के रूप में वर्णन को अस्वीकार किया और यह मत दिया कि चोल राज्य वेलाल वर्ग ने नेत त्व के अधीन नाडुओं पर आधारित पिरामिडी राज्य (Pyramidal State) था। नाडु मंदिरों की परंपराओं तथा शैव संप्रदाय को राजकीय संरक्षण के कारण चोल युगीन राज्य इन नाडुओं को एक सांस्कृतिक सूत्र में बांध सका था और इसी संदर्भ में ये नाडु चोल साम्राज्य को सैनिक सप्लाई करते थे।

संगम साहित्य में उपलब्ध विवरण के अनुसार भी इन नदी घाटियों की उर्वर इकाइयों 'नाडुओं' का राजनीतिक नेत त्व 'वेलिर' समुदाय के हाथ में था। संगम रचनाओं में कृषि में संलग्न जन-समुदाय को 'बेलालर' कहा गया है और उनके प्रमुखों को 'बेलिर'। 'वेलिर' कृषि भूमि के बड़े भाग के स्वामी थी इसलिए 'वेलिर' वर्ग को दक्षिण भारत का प्रारंभकीय 'कृषिगत विशिष्ट वर्ग' कहा जाना अनुचित नहीं होगा। न केवल यह समुदाय धनी एवं संपन्न था अपितु इनकी नियुक्ति राज्य के उच्च पदों पर होती थी, वे युद्ध तथा शिकार में राजा के साथ जाते थे तथा राजपरिवारों से इनके वैवाहिक संबंध होते थे।

ग्रामीण जीवन की सामाजिक तथा धार्मिक समस्याओं के समाधान के लिए मन्रम नामक सभास्थल का उल्लेख मिलता है। यह जानकारी भी संगम साहित्य में प्राप्त है कि प्रत्येक गांव में सामाजिक क्रियाकलापों, खेल-कूद, मनोरंजन के कार्यक्रमों आदि के लिए एक विशेष स्थान होता था। कभी-कभी उसका व क्षों के नीचे होने का उल्लेख भी मिलता है। इस प्रकार के स्थलों पर होने वाले सामूहिक आयोजनों में राजनीतिक विचार-विमर्श तथा निर्णय भी होते होंगें जिनका आगे चल कर ग्रामीण स्वशासन की संस्था के रूप में विकास हुआ, क्योंकि बाद में चोल शासकों के अंतर्गत स्थानीय स्वशासन अत्यंत सुसंगठित संस्था के रूप में विकसित और प्रचलित हुआ।

ग्रामीण सभाएं

यद्यपि चोल राज्य अनेक प्रादेशिक इकाइयों जैसे मंडल, नाडु, कुर्रम्, नगरम इत्यादि में विभाजित था, ग्रामीण सभाओं की भूमिका और गतिविधियां सर्वाधिक व्यापक व उल्लेखनीय थीं। ग्राम सभाएं प्राथमिक सभाएं थीं जिनमें ग्राम के सभी वयस्क पुरुष सदस्य होते थे। दो प्रकार की सभाओं का उल्लेख चोलकालीन शिलालेखों में मिलता है - 'ऊर', यंत तथा 'महासभा'। इनमें से प्रथम सामान्य श्रेणी की सभा थी, जबकि द्वितीय अग्रहर और ब्राह्मण समुदायों की सभा थी जिसका विवरण चोल मंडलम के शिलालेखों में सर्वाधिक प्राप्य है। ये सभाएं कुछ क्षेत्रों में संकेन्द्रित थीं यथा कांची तथा मद्रास क्षेत्र। इनके अतिरिक्त नगर में व्यापारियों की सभा थी। इन्हीं शिलालेखों में चोल राज्य के ग्रामीण क्षेत्रों में समिति व्यवस्था 'वारियम' के भी स्पष्ट संकेत मिलते हैं।

919 और 921 के परांतक प्रथम के शिलालेखों में 'वारियम' अथवा कार्यकारी समिति के संविधान के बारे में महासभा द्वारा पारित प्रस्तावों के उल्लेख मिलते हैं। संविधान के प्रावधानों संबंधी विवरण से तत्कालीन राजनीतिक परिपक्वता व समझ का

आभास सरलता से हो जाता है। 921 के प्रस्ताव के अनुसार गांव के तीस वार्डों (कुडंबस) में से प्रत्येक को निम्नलिखित योग्यताओं से युक्त व्यक्तियों को चयन हेतु मनोनीत करना था :

- 1/4 वेली (लगभग 1.5 एकड़) से अधिक भूमि का स्वामित्व ;
- अपनी भूमि पर बनाए घर में निवास ;
- 35 से 70 के बीच आयु ;
- वैदिक मंत्र व ब्राह्मण ग्रंथों का ज्ञान अथवा विकल्प के रूप में 1/8 वेली भूमि का स्वामित्व तथा एक वेद और एक भाष्य का ज्ञान ;

साथ ही निम्नलिखित व्यक्तियों को मनोनीत नहीं किया जा सकता था :

- जो पिछले तीन वर्षों से किसी समिति के सदस्य थे ;
- जो किसी समिति के सदस्य थे परंतु उसके हिसाब-किताब का ब्योरा नहीं दे सके ;
- जो कौटुंबिक व्याभिचार (incest) अथवा ऐसे ही किसी बड़े पाप के दोषी थे ;
- जो स्वयं अथवा उनके संबंधी दूसरों की संपत्ति चुराने के अपराधी थे ; इत्यादि।

इस प्रकार नियमानुसार मनोनीत व्यक्तियों में से प्रत्येक तीस वार्डों में से एक-एक व्यक्ति को एक वर्ष के लिए लाटरी (कुडुवोलाइ) की प्रक्रिया से चुना जाता था। इस प्रकार चुने गए तीस व्यक्तियों में से 12, जो ज्ञान और आयु में परिपक्व थे यथा तालाब समिति और उद्यान समिति के सदस्य रह चुके थे, को वार्षिक समिति अथवा संवत्सर वारियम का सदस्य नियुक्त किया जाता था ; 12 को उद्यान समिति अथवा टोट्टावारियम (garden committee) का सदस्य; तथा 6 को तालाब समिति अथवा एरिवारियम (tank committee) का सदस्य नियुक्त किया जाता था। अन्य समितियों - (पंचवार-वारियम (स्थायी समिति), पोन-वारियम (स्वर्ण समिति); धर्म-वारियम (धर्म-समिति) न्याय समिति, वार्ड समिति, क्षेत्र समिति इत्यादि के भी इसी प्रकार चयन का उल्लेख शिलालेखों में मिलता है। चयन की प्रक्रिया इस प्रकार थी। वार्ड़ों में मनोनीत व्यक्तियों में से योग्य व्यक्तियों के नाम ताड़ के पत्तों पर लिखकर एक घड़े में से निकालने को कहा जाता था जितने सदस्य चुने जाने थे। समितियों व उनके सदस्यों की संख्या प्रत्येक गांव में भिन्न-भिन्न थी तथा उन्हें किसी प्रकार के वेतन दिए जाने का उल्लेख भी नहीं मिलता। समितियों के सदस्यों को 'वारियाप्परुमक्कल'; महासभा को पेरून्गुरी तथा उसके सदस्यों को पेरुमक्कल कहा जाता था।

साधारणतः सभा की बैठक गांव के मंदिर में होती थी। कभी-कभी बैठक एक व क्ष के नीचे अथवा तालाब के किनारे होने के भी उल्लेख मिलते हैं। कोरम व मतदान के संकेत शिलालेखों में प्राप्त विवरण में उपलब्ध नहीं है। सभाओं में सामान्य विषयों पर चर्चा होती थी तथा प्रस्ताव पास किए जाते व अंकित किए जाते थे।

इन सभाओं द्वारा किए जाने वाले कार्यों से ग्रामीण स्वायत्तता की सीमा का अनुमान लगाया जा सकता है। महासभा सामुदायिक भूमि पर स्वामित्व तो रखती ही थी, अपने क्षेत्र की निजी भूमि पर भी उसका नियंत्रण था। वन्य तथा अनुपयोगी भूमि को कृषि-योग्य बनाने का कार्य भी महासभा का था। गांव की भूमि पर देय शुल्क तथा कृषि-उत्पाद का भाग निश्चित करने में सभा राजकीय अधिकारियों के साथ सहयोग भी करती थी। यह राजस्व वसूल भी करती थी तथा राजस्व न मिलने की स्थिति में उस भूमि को सार्वजनिक नीलामी के माध्यम से बेचने का अधिकार भी रखती थी। भूमि तथा सिंचाई संबंधी विवादों पर निर्णय का अधिकार भी सभा रखती थी और विशेष मामलों में एक से अधिक सभाएं मिल कर निर्णय लेती थी। सामान्य सर्वेक्षण केंद्रीय सरकार द्वारा किए जाते थे परंतु महासभा के क्षेत्र में आने वाली भूमि के वर्गीकरण में कोई भी परिवर्तन करने से पहले सभा की सहमति आवश्यक थी।

महासभा को ग्राम से संबंधित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कराधान तथा विशिष्ट कारणों पर कराधान को छोड़ देने अथवा उसमें छूट देने की शक्ति प्राप्त थी। भू-राजस्व की शर्तों को आसान बनाना, किश्तों में राजस्व वसूली का निर्णय लेने का अधिकार भी सभा को था। महासभा के अन्य कार्यों में सड़कों व सिंचाई सुविधाओं का रख-रखाव, धार्मिक व चिकित्सा संबंधी विधियों का निरीक्षण, शिक्षा व ज्ञान प्रसार हेतु प्रबंध करना इत्यादि उल्लेखनीय है।

इस प्रकार चोलकालीन राजनीतिक संगठन का विश्लेषण करने के पश्चात सेथियान्थैयर (Sathianthaier) इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि केंद्रीय सरकार बाह्य सुरक्षा, आंतरिक शांति व व्यवस्था के रख-रखाव, तथा साम्राज्य की सामान्य संपन्नता व सांस्कृतिक प्रगति के मामलों पर नियंत्रण रखती थी तथा शेष मामले ग्राम सभाओं पर छोड़ देती थी। केंद्र सरकार ग्राम सभाओं पर सामान्य नियंत्रण रखती थी तथा केवल विवाद की स्थिति में अथवा अपवाद की परिस्थितियों में ही हस्तक्षेप करती थी। ग्रामीण प्रशासन जनप्रिय आधार पर कुशलतापूर्वक संगठित था तथा ग्रामवासियों की प्रगति व संपन्नता में सहायक था। गांवों का इस प्रकार का निगमित जीवन ही उन्हें 'लघु गणराज्य' की श्रेणी में खड़ा कर देता था जो 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में आए ब्रिटिश प्रशासकों की प्रशंसा का पात्र बने।

ग्रामीण प्रशासन के कुशलतापूर्वक संचालन हेतु समिति-व्यवस्था का जो उल्लेख चोल शिलालेखों में मिलता है उससे यह भी स्पष्ट होता है कि इन समितियों की सदस्यता के लिए आयु, संपत्ति, ज्ञान, कार्यकुशलता तथा नैतिक शुचिता संबंधी अति उच्च योग्यता अपेक्षित थी। वे अपेक्षाएं केवल स्व ही नहीं अपितु संबंधियों तक भी विस्त त थी। समिति की सदस्यता तब तक नहीं मिल सकती थी जब तक कि पिछली सदस्यता को समाप्त हुए तीन वर्ष न हो जाते। इस प्रकार के सदस्यों की उपलब्धता इस ओर भी संकेत करती है कि चोल राज्य के गांव संपन्न, ज्ञानयुक्त व स्वायत्त थे तथा स्थानीय शासन की कुशलतापूर्वक चलाने की योग्यता रखते थे। ये ग्रामीण सुमदाय ही 'ग्रामीण गणराज्यों' की संकल्पना को साकार करते थे तथा बाद में ब्रिटिश इतिहासकारों की अथक प्रशंसा और अनुशंसा का पात्र बने। परंतु दक्षिणी भारत में राज्य-निर्माण की प्रक्रिया जैसे-जैसे साम्राज्य-निर्माण में परिवर्तित हुई, इन गांवों की स्वायत्तता भी प्रभावित हुई। विजयनगर साम्राज्य के काल में शासकों ने प्रशासनिक व सैनिक केंद्रीकरण की जो नीति अपनाई, उसके फलस्वरूप ग्रामीण स्वायत्तता व स्वशासन तो प्रभावित हुए ही, चयन का स्थान वंशानुगत सदस्यता और कुशलता का स्थान राजकीय चाटुकारिता और संरक्षण ने ले लिया जिसके परिणामस्वरूप धीरे-धीरे ग्रामीण सामुदायिक जीवन की स्वायत्तता लुप्त हो गई।

Unit-2

अध्याय–10

दिल्ली सल्तनत : राज्य का स्वरूप एवं प्रशासन

(Delhi Sultanate : Nature and Administration of the State)

सल्तनत काल में राज्य का स्वरूप

सल्तनत काल में राज्य के स्वरूप के बारे में इतिहासकारों में बहुत वाद-विवाद है। ये विवाद राज्य के सैनिक एवं धर्म प्रधान स्वरूपों के बारे में है। जहाँ सल्तनत को कुछ इतिहासकार जैसे आर. पी. त्रिपाठी, ए. एल. श्री वास्तव, ईश्वरी प्रसाद, के. एस. लाल आदि धर्म प्रधान राज्य मानते हैं तो दूसरी तरफ मोहम्मद हबीब, जैसे इतिहासकार इसे एक धर्म निरपेक्ष राज्य सिद्ध करने की कोशिश करते हैं।

आई. एच. कुरैशी राज्य को न तो धर्म प्रधान और न ही धर्म निरपेक्ष मानते हैं। उनका मानना है कि राज्य की धर्म की प्रधानता की भूल में पड़कर कुछ लोग ये सोचने लगे की सल्तनत एक धर्म प्रधान था। एक धर्म प्रधान राज्य की मुख्य विशेषताएँ दीक्षित पुरोहित वर्ग का शासन मुस्लिम राज्य के संगठन में नहीं था। धर्माधिकारी सामान्य मनुष्य थे जो गलती न करने का कोई दावा नहीं करते। वे इस्लामी राज्य को धर्म केन्द्रित राज्य मानते हैं न कि धर्मप्रधान राज्य।

इसलिए राज्य के सही स्वरूप को समझने के लिए सभी इतिहासकारों के तर्कों का सूक्ष्म अध्ययन आवश्यक है।

ऑक्सफोर्ड कोश के अनुसार थियोक्रेसी शब्द ग्रीक भाषा के थियोस से निकला है। जिसका अर्थ है ईश्वर चैम्बर कोष ने एक ऐसे राज्य कि जिसमें ईश्वर सर्वोच्च शासक स्वीकार किया जाए और राज्य के नियम मनुष्य मात्र के आदेश न होकर ईश्वरीय आज्ञाएँ हो, उसे धर्म तन्त्र की संज्ञा दी है। इन परिभाषाओं से धर्मतन्त्र राज्य के तीन तत्व उभर कर सामने आते हैं।

1. जहाँ ईश्वर प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से पुरोहित वर्ग के द्वारा शासन करता हो।
2. ईश्वरीय कानून का होना।
3. ईश्वरीय कानून को लागू करने के लिए शासक वर्ग का होना।

इन तीनों विशेषताओं का अध्ययन करने से एक निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राज्य का स्वरूप धर्म प्रधान था अथवा नहीं।

दिल्ली सुल्तानों का खलीफा के साथ सम्बन्ध था, वह सैद्धान्तिक रूप से ही सही पर सल्तनत खिलाफत का ही एक अंग थी। और तत्कालीन सिक्कों पर खलीफा का नाम अंकित होता था। इसके अतिरिक्त खुतबे में भी खलीफा का नाम पढ़ा जाता था। इस प्रकार धर्म प्रधान राज्य मानने वालों का मत है कि अल्लाह द्वारा इस तरह अप्रत्यक्ष रूप से शासन चलाया जाता था।

पुरोहित वर्ग के रूप में इस्लाम में कोई विशिष्ट पुरोहित वर्ग विकसित नहीं हुआ। परन्तु दिल्ली सल्तनत में उलेमा वर्ग को उस विशिष्ट रूप में पाते हैं। इसके अतिरिक्त ये इतिहासकार मानते हैं कि कुरान के सिद्धान्त सभी मुसलमानों के लिए दैवीय थे। और इन दैवीय सिद्धान्तों को लागू करने के लिए हम सुल्तानों को पाते हैं।

इस प्रकर ऊपरी तौर पर देखने से लगता है कि सल्तनत में धर्म प्रधान राज्य की सभी विशेषताएँ मौजूद थ । परन्तु इसका गहन अध्ययन करने पर इसका विरोधात्मक रूप उभर कर आता है।

धार्मिक वर्ग का अप्रत्यक्ष शासन

दिल्ली सल्तनत को एक धर्म प्रधान राज्य दर्शाते हुए ए. एल. श्रीवास्तव मानते हैं कि विभिन्न सुल्तानों ने खलीफा से मान्यता हासिल की, उनके नाम का खुतबा पढ़वाया और स्वयं को खलीफा का नायक कहा। आर्नोल्ड लिखते हैं कि जिस प्रकार खुदा का प्रतिनिधि पैगम्बर है उसी प्रकार खलीफा पैगम्बर का प्रतिनिधि है। और सुल्तान खलीफा का प्रतिनिधि है। इस सन्दर्भ से प्रश्न ये है कि दिल्ली सुल्तानों ने अपनी वैधानिक सम्प्रभुता के लिए अब्बासी खिलाफत सत्ता को कहां तक स्वीकारा और किस सीमा तक खलीफा के प्रतिनिधि के रूप में व्यवहारिक रूप से कार्य किया। सल्तनत काल में इल्तुतमिश पहला सुल्तान था जिसने बगदाद के खलीफा से आज्ञा पत्र हासिल किया। 1229 में इल्तुतमिश को खलीफा से अनुमति प्राप्त हुई। आर. पी. त्रिपाठी लिखते हैं कि इस स्वीकृति ने कानूनी रूप से खलीफा द्वारा सल्तनत को स्वीकृति दे मान्य ठहराया। इल्तुतमिश ने "नासिर अमीर उल मोमनिन" की उपाधि धारण की परन्तु व्यावहारिक रूप से सुल्तानों ने कभी भी खलीफाओं से कोई आज्ञा नहीं ली। अगर खलीफा को सुल्तान सम्प्रभुता सम्पन्न मानते तो इल्तुतमिश ने बंगाल के ग्यासुद्दीन को जिसने उसके ही समान खलीफा से खिलाफत हासिल की थी अपने अधीन न करता। इसका अर्थ है कि सुल्तानों का खलीफा से अनुमति हासिल करना एक औपचारिक मात्र था। जिससे वे अपने राज्य के गैर कानूनी रूप को कानूनी रूप दे सके।

अन्य शासकों के व्यवहार से भी इसकी पुष्टि होती है। अगर ऐसा न होता तो हलाकू द्वारा अन्तिम खलीफा की हत्या किए जाने पर दिल्ली सल्तनत उसका भव्य स्वागत न करती। यदि खलीफा को मुस्लिम जगत् का वास्तविक अधिराज स्वीकार किया गया होता तो उसके विनाशक को निश्चित ही दिल्ली सुल्तान अपना शत्रु मानते और उसका भव्य स्वागत नहीं करते। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने व्यवहार में खलीफा की म त्यु को कोई महत्ता नहीं दी और भावनाओं की अपेक्षा राजनैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति को अधिक उपयोगी समझा।

बाद के सुल्तानों ने भी इस तरह की उपाधियाँ धारण की और खलीफा का नाम इज्जत के रूप में खुत्बे और सिक्कों में चलता रहा। पर वास्तविकता ये थी कि उपाधियाँ धारण करना एक सामान्य सी बात हो गई थी। कुतुबुद्दीन मुबारक शाह खिलजी ने तो स्वयं को खलीफा घोषित कर दिया। मोहम्मद तुगलक ने खलीफा के नाम की अर्थहीनता को भली-भाँति जाना और अपने राज्य के प्रारम्भिक वर्षों में सिक्कों पर खलीफा का नाम अंकित नहीं करवाया। उलेमा वर्ग ने मुहम्मद तुगलक के विरूद्ध प्रचार किया और जिससे विभिन्न क्षेत्रों में विद्रोह होने लगे। उलेमा द्वारा इसका विरोध होने पर उसने भी खुत्बे व सिक्कों पर खलीफा का नाम धारण किया। लेकिन इसके बाद भी विरोध कम न हुआ और इस नीति से सुल्तान की राजनैतिक स्वतंत्रता में कोई अन्तर न आया। खलीफा के नाम का प्रयोग करने पर भी विद्रोह में कोई कमी न आई और इससे स्पष्ट है कि अब्बासी खिलाफत को इज्जत प्रदान करना केवल एक औपचारिक मात्र था। फिरोजशाह तुगलक ने कुतुबुद्दीन मुबारक शाह का नाम खुत्बे में पढ़वाया। अगर खिलाफत का प्रभाव वास्तविक रूप से होता तो वह ऐसा कभी न करता।

इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि दिल्ली सुल्तानों ने केवल औपचारिक रूप से अब्बासी खलीफाओं का नाम अपने नामों के साथ जोड़ा। यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से तो उनको मान्यता प्रदान करते रहे लेकिन व्यावहारिक रूप से कभी खलीफाओं को महत्ता प्रदान न की। इस प्रकार स्पष्ट है कि दिल्ली सल्तनत में धार्मिक वर्ग द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से शासन किया जाता रहा, की विशेषता विद्यमान नहीं थी। यद्यपि उलेमाओं ने अपनी स्थिति बनाए रखने के लिए सुल्तानों को प्रभावित करने की कोशिश की लेकिन उनकी अपनी स्थिति सुल्तानों के व्यक्तित्व पर निर्भर करती थी। अलाऊद्दीन खिलजी ने तो उलेमाओं को स्पष्ट कह दिया था कि "मैं नहीं जानता की तुम्हारी कुरान क्या कहती है। शासना चलाना मेरा काम है और मैं वहीं करूँगा जो मेरी प्रजा के हित में होगा। मेरा काम राजनीति है तुम्हारा काम धर्म है। जब मुझे आवश्यकता होती मैं तुम्हारी सलाह ले लुंगा।"

ईश्वरीय कानून

इस्लाम में कुरान ही ईश्वरीय कानून है। तथा सभी मुस्लिम जनता एवं सुल्तानों को उन्हें अपने निजी जीवन व राज्य धर्म के रूप में अपनाना चाहिए। एक इस्लामी राज्य वह है जिसमें इस्लामी शासन को मूर्ति पूजकों को या तो इस्लाम स्वीकार करा लेना चाहिए या मौत के घाट उतार देना चाहिए। सिन्ध के विजेता मुहम्मद बिन कासिम ने अनुमान किया था कि कुरान के सिद्धान्त का कठोरता से पालन करना और हिन्दुओं को जबरदस्ती इस्लाम स्वीकार करवाना या मौत के घाट उतार देना असम्भव है या इसलिए उसने सिन्ध में हिन्दुओं को जिम्मी (रक्षित लोग) बनाने का निर्णय किया। यह बहुत ही महत्वपूर्ण निर्णय सिद्ध हुआ क्योंकि बाद के मुस्लिम शासकों ने भी उसे अपनाया। दिल्ली सुल्तानों ने भी अनुभव कर लिया था कि राज्य को शरा ँ(मुस्लिम कानून) के आधार पर नहीं चलाया जा सकता। पैगम्बर ने दिल्ली सल्तनत की कभी कल्पना नहीं की थी अतः यह महसूस किया गया कि इस्लाम के प्रसार के साथ हजरत मुहम्मद की शिक्षाओं पर राज्य नहीं चलाया जा सकता है।

कुरान में कहा गया है कि काफिरों से कहो कि अगर वे कूफ्र छोड़ दें तों उन्हें माफ कर दिया जाएगा। यदि वे कूफ्र न छोड़े तो उनके खिलाफ तब तक लड़ो जब तक वे मुसलमान न बन जाएँ। इसका अर्थ ये हुआ कि तुर्क पराजित जनता के सामने इस्लाम या म त्यु का विकल्प रखें। परन्तु मुस्लिम शासकों ने ये महसूस किया कि हिन्दुस्तान में हिन्दुओं की संख्या अधिक बहुमत में है इसलिए उन पर इस्लाम के ईश्वरीय कानून नहीं लागू किये जा सकते। इसलिए मुहम्मद बिन कासिम के हिन्दुओं को जिम्मी बनाने के निर्णय को बाद के शासकों ने भी अपनाया। हिन्दुओं के प्रति इस्लाम या म त्यु सम्बन्धी विचारधारा के दुष्प्रभाव को इल्तुतमिश व बलबन ने भली-भाँति समझा। **बरनी** लिखता है कि बलबन ने बार-बार सैय्यद नुरूद्दीन मुबारक गजनवी द्वारा प्रतिपादित शिक्षाओं को दोहराया। **बरनी** बताता है कि बलबन कहता था कि "मैं मजहब की रक्षा करने में अपने दायित्वों का निर्वाह नहीं कर सकता और इस प्रकार की महत्वकांक्षा को अपने मन में भी कैसे संजोकर रख सकता हूँ जबकि मैं जानता हूं कि मेरे पूर्वज भी मजहब की रक्षा नहीं कर पाए। **बरनी** 14वीं शताब्दी में लिखता है कि यदि ईश्वरीय कानून से शासन न चल पाए तो शासकों को चाहिए कि वे जवाबित बना ले (मनुष्य द्वारा तर्क के आधार पर बनाए गए कानून)। इस्लामी कानूनों में समय-समय पर उन कानूनों का समावेश परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार हुआ चाहे ये कम ही क्यों न हो। अलाऊद्दीन का विचार है कि धर्म और शासन दोनों बिल्कुल अलग हैं। मोहम्मद तुगलक ने भी अलाऊद्दीन की तरह राजनीति और धर्म को अलग रखने की कोशिश की। इस तरह इस्लामी नियमों का अपने ढंग से प्रयोग किया गया। जैसे रजिया मुस्लिम वैध कानूनी मान्यताओं (जो किसी स्त्री के गद्दी पर बैठने के विरोधी थे) के बावजूद गद्दी पर बैठी। **बरनी** स्वयं अपने मत में धर्म व राजनीति को साथ जोड़ने को गलत मानता है और **फतवाहे जहाँदारी** में उसने स्वीकार किया है कि धर्म के द्वारा शासन को नहीं चलाया जा सकता।

हिन्दुओं के मन्दिरों का विनाश होना भी कुरानी आज्ञाओं का पालन करना था। ऐसा इतिहासकारों का मत है परन्तु ये घटनाएँ आर्थिक व राजनैतिक द ष्टि से की गईं। कुछ धर्म प्रधान राज्य के समर्थक हिन्दुओं से जजिया वसूल किए जाने के आधार पर कहते हैं कि मध्यकाल में गैर मुसलमानों को द्वितीय श्रेणी का माना जाता था। परन्तु यह कर हिन्दुओं को सैनिक सेवा से मुक्ति प्रदान करने व उनके जान माल की रक्षा के बदले लगाया जाता था।

गैर मुसलमानों को शासन में भी स्थान मिलता था चाहे वह कम ही क्यों न हो। महमुद तुगलक द्वारा इब्नबतूता को काजी के पद पर नियुक्त करना ये दर्शाता है कि धार्मिक पदों पर भी गैर मुसलमानों को नियुक्त कर दिया जाता था।

इरफान हबीब ने अपने लेखों में सल्तनत युग में हुए विभिन्न सामाजिक आर्थिक परिवर्तनों की ओर ध्यान दिलाया है। धार्मिक तनाव व संघर्षों से भी ये परिवर्तन समाज में सम्भव हुए। **के.एम. अशरफ** ने भी उन सूत्रों का परीक्षण किया है, जिनके माध्यम से दोनों धर्मो के लोग एक दूसरे के नजदीक आए व एक दूसरे के जीवन व रीति रिवाजों को प्रभावित किया। इस प्रकार ये बात स्पष्ट हो जाती है कि दिल्ली सुल्तानों ने ये समझ लिया था कि धर्म और राजनीति बिल्कुल अलग चीज है। इस तरह धर्म प्रधान राज्य की दूसरी विशेषता कि ईश्वरीय कानून के आधार पर शासन हो, तर्क के आधार पर खरी नहीं उतरती।

यदि तीसरी विशेषता पर विचार करे तो यह अपने आप ही रद्द हो जाती है। क्योंकि सुल्तान व सल्तनत का अपना आधार ही कुरान नहीं था। उनकी स्थिति अवैध की थी और उसे अपनी अवैध स्थिति को वैध बनाने के लिए खलिफा से मान्यता हासिल करनी पड़ी और अपनी प्रभुसत्ता कानूनी रूप से खलीफाओं को सौंपनी पड़ी। दूसरे शब्दों में जिस दिल्ली सल्तनत की प्रकृति के बारे में विचार कर रहे हैं वह सल्तनत कानूनी रूप से खुद ही अवैध थी। इसलिए एक सुल्तान जो ईश्वरीय कानूनों को लागू कर सके को मान्यता प्राप्त नहीं हो सकती।

इसके अतिरिक्त **मोहम्मद हबीब** भी यह घोषणा करते हैं कि किसी भी अर्थ में मुस्लिम राज्य धर्म प्रधान राज्य नहीं था। **के.ए. निजामी** का विचार है कि सल्तनत में धार्मिक राज्य के आवश्यक तत्व मौजूद नहीं थे। "शरीयत" में सल्तनत की कोई आज्ञा नहीं थी। इस द ष्टि से एक गैर कानूनी संस्था थी। उच्च श्रेणी के अधिकारी व अमीर सल्तनत की नीतियों को प्रभावित करते थे। धार्मिक नेताओं का स्थान उनके बाद आता था। सल्तनत ने किसी धार्मिक उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयास नहीं किया।

सैनिक राज्य

ए. एल. श्रीवास्तव सल्तनत को एक धर्म प्रधान राज्य के साथ-साथ एक सैनिक राज्य के रूप में मानते हैं। उनका मानना है कि मध्य युग में शासन का स्वरूप सैनिक था जब तक सम्भव होता था तब तक सुल्तान देश के महत्वपूर्ण भागों में छावनियाँ बनाए रखते थे। राज्य के कार्यों का क्षेत्र सीमित था। और साधारणतया उनके दो ही मुख्य कार्य होते थे। एक तो देश में शान्ति बनाए रखना अर्थात बाहरी आक्रमणों व आन्तरिक उपद्रवों से देश की रक्षा करना व दूसरा मालगुजारी वसूल करना। गैर मुस्लिम प्रजा की सार्वजनिक शिक्षा और सामाजिक एवम् आध्यात्मिक उन्नति के कार्यों को उन पर ही छोड़ दिया जाता था। लेकिन मुस्लिम प्रजा के लिए अवश्य ही शासन ये सब कुछ करता था। इसलिए **ए. एल. श्रीवास्तव** के अनुसार मध्ययुगीन राज्य को लोकहितकारी राज्य नहीं कहा जा सकता।

इसके विपरीत **के. ए. निजामी** का विचार है कि इस काल में सैनिक अभियानों व सैनिक छावनियों की अधिकता के आधार पर राज्य को सैनिक स्वरूप का नहीं माना जा सकता। उनका मानना है कि जनता की स्वीकृति के बिना कोई राजनैतिक ढाँचा नहीं बन सकता और कोई सरकार देश में सदियों तक नहीं चलाई जा सकती। राजपूत जिन्हें सामाजिक व राजनीतिक अधिकारों से तुर्कों ने वंचित कर दिया था, वे कभी भी विद्रोह कर सकते थे लेकिन तुर्कों को इस भारतीय विद्रोह का सामना नहीं करना पड़ा । इससे ये समझना ठीक है कि हिन्दुओं ने तुर्की शासन को स्वीकार कर लिया था। इस संदर्भ में **मोहम्मद हबीब** का भी मानना है कि "किसी मुसलमान की हिम्मत नहीं थी कि हिन्दुस्तान की एक इंच भूमि पर भी कब्जा करते यदि उसमें हिन्दुओं की स्वीकृति शामिल न होती।"

मोहम्मद हबीब ने मुस्लिम राज्य को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य के रूप में प्रस्तुत किया है लेकिन इसे धर्म निरपेक्ष राज्य भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि समस्त वर्गों के लोगों की स्थिति अलग-अलग थी। हिन्दुओं को जिम्मी माना जाता था जो राज्य को जजिया कर देते थे। उन पर कई प्रतिबन्ध थे। उन्हें खुले व सार्वजनिक रूप से अपने धार्मिक रीति रिवाजों का पालन करने, धर्म प्रचार करने व नए मंदिर आदि बनाने की अनुमति नहीं थी। नागरिक अधिकारों के उपयोग व राजकीय पदों की नियुक्ति में भी कई मतभेद थे। हिन्दुओं को द्वित्तीय श्रेणी का नागरिक माना जाता था। इसे धर्म निरपेक्ष राज्य भी नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकाल में राज्य न तो धर्म प्रधान था न धर्म निरपेक्ष व न सैनिक तन्त्र था। शासकों ने जिस परिस्थिति में जो ठीक समझा वैसा ही रूप इस्तेमाल किया। अन्त में यह कहा जा सकता है कि एक ऐसे राज्य में जहाँ प्रजा गैर मुस्लिम थी और बहुत अधिक बहुमत में थी और शासक वर्ग जो मुसलमान थे व बहुत अल्पमत में थे, धर्म प्रधान राज्य न आवश्यक था और न सम्भव था।

सल्तनत कालीन प्रशासन

1000 ई. में राजपूतों के सामाजिक और राजनीतिक ढाँचे के कारण सम्पूर्ण उत्तरी भारत में जो शून्यता व्याप्त हो गई थी उसे तुर्की राजनीतिक ढाँचे के द्वारा बहुत हद तक भरने का प्रयत्न किया गया। तुर्की आक्रमणकारी निजी सिद्धान्तों के प्रति अपनी निष्ठा और पवित्रता को बनाए रखकर ही अपना प्रभाव स्थापित करना चाहते थे। भारत में उनके बस जाने के बावजूद शासकों और सामंतों ने उन्हें तब तक मान्यता प्रदान नहीं की जबकि उन्होंने शक्ति का प्रदर्शन करते हुए अपनी सैनिक कुशलता को सिद्ध नहीं किया। इन परिस्थितियों में सम्पूर्ण प्रशासकीय उत्तरदायित्वों को अपने ऊपर लेना और उन्हें अपने ढंग से लागू करना उनके लिए संभव नहीं था। ऐसी स्थिति में उनके लिए केवल यही सम्भव था कि वे कुछ स्थानीय व्यक्तियों को अपने पक्ष में कर लें व स्थापित ढाँचे को ज्यों का त्यों बना रहने दें। तुर्कों द्वारा स्थापित सरकार एक ऐसी सरकार थी जिसमें एक ओर तो राजनीतिक सिद्धान्तों एवं अनुभवों को स्थान मिला और दूसरी ओर राजपूतों द्वारा स्थापित भारतीय प्रशासनिक संस्था के बीच एक समझौता भी हुआ।

भारतीय शासन परम्परा के अनुरूप मुस्लिम राज्य का आधार भी धर्मशास्त्र है। मुसलमानों का विश्वास है कि कुरान में अल्लाह की जो शिक्षाएँ और आदेश संचित हैं, उनमें सर्वकाल एवं सर्व देशों के लिए उपयुक्त निर्देश हैं। उन्हीं के आधार पर इस्लामी समाज एवं शासन का संगठन हुआ है अथवा होना चाहिए था। परन्तु समय बीतने पर जब केवल कुरान की शिक्षाओं के अनुसार सभी जटिलताओं का सुलझना संभव नहीं हुआ तब पैगम्बर हज़रत मुहम्मद के प्रमाणिक कार्यों एवं कथनों का सहारा लिया गया। इन्हें **हदीस** कहा जाता है। कुरान और हदीस के आधार पर विभिन्न अवस्थाओं एवं देशों में उपस्थित समस्याओं का समाधान करने के लिए तत्कालीन धार्मिक वर्ग-उलेमा वर्ग ने व्यवस्थाएँ दी हैं। वे व्यवस्थाएं भी इस्लामी कानून में मान्यता पा गई हैं। उनके अतिरिक्त मुसलमानों में अबू हनीफा, शफी, मलिक हनबल, अबू यूसुफ, मावर्दी आदि प्रकाण्ड विद्वान हुए, जिन्होंने मुस्लिम धर्मशास्त्र तथा उस समय तक के मुस्लिम इतिहास एवं साहित्य के आधार पर शासन संबंधी अपने विचार प्रकट किये हैं। इन सब को मिलाकर ही मुस्लिम राजनीतिक सिद्धान्तों की व्याख्या की जा सकती है।

कुरान के अनुसर अखिल विश्व का वास्तविक मालिक और सम्राट अल्लाह है। इसलिए सभी का कर्त्तव्य है कि अल्लाह की आज्ञा का पालन करें। अल्लाह ने अपनी आज्ञाएँ व्यक्त करने के लिए सभी देशों में और सभी कालों में अपने दूत भेजे। हज़रत मुहम्मद उनके भेजे हुए अंतिम दूत है। इस्लाम में आज्ञापालन का बहुत महत्व दर्शाया गया है। पैगम्बर की आज्ञा मानना अल्लाह की आज्ञा मानने के तुल्य है परन्तु पैगम्बर के लिए अल्लाह की आज्ञा मानना अनिवार्य बताया गया। पैगम्बर के बाद इस्लामी समाज के शासक खलीफा हुए। उनके लिए भी यह आवश्यक था कि वह लोकहित का ध्यान रखते हुए धार्मिक निर्देशों के अनुसार शासन करें। मुस्लिम विचारकों ने यह मत व्यक्त किया कि यदि इमाम (राजनैतिक नेता) अपने दायित्व का पालन न करे तो जनता का कर्त्तव्य है कि उसे पदच्युत कर दे। इस्लाम मानता है कि जिस प्रकार ईश्वर एक है, उनका पैगम्बर एक है, उनकी शिक्षा का संकलन एक पुस्तक में है, उसी भाँति समस्त समाज का शासक भी एक होना चाहिए। इस्लाम में पहले चार खलीफाओं- अबू बक्र, उमर, उस्मान व अली का शासनकाल पवित्र खिलाफत का काल कहलाता है, जबकि अल्लाह व पैगम्बर के आदेशों, निर्देशों के साथ विधिवत्त शासन चलाया गया पर परवर्ती खलीफाओं- उमैय्यद व अब्बासी के समय शासन के स्वरूप में परिवर्तन प्रारम्भ हो गए व राज्य का स्वरूप खिलाफत से राजतंत्र में परिवर्तित हो गया। बाद के तुर्क सुल्तानों ने अब्बासी खलीफाओं के समय की संस्थाओं का अनुकरण करते हुए राज्य का संगठन किया।

हिन्दुस्तान में मुस्लिम साम्राज्य की नींव तुर्की शासकों द्वारा सुल्तान की उपाधि धारण करने के साथ शुरू होती है। इस उपाधि का चलन तब तक रहा जब तक बाबर द्वारा **पादशाह** की उपाधि को धारण नहीं किया गया था। कुरान में इसका उल्लेख शक्ति, प्रभुत्व आदि के संदर्भ में किया गया हैं किन्तु परवर्ती कालों में इस शब्द का अर्थ रूढ़िवादी होता गया और धीरे-धीरे सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त किसी एक व्यक्ति को ही सुल्तान कहा जाने लगा। यह भी सत्य है कि जब खिलाफत का विघटन शुरू हुआ तब विभिन्न प्रदेशों के स्वतन्त्र मुस्लिम शासकों ने सुल्तान उपाधि को धारण किया यह तथ्य है कि महमूद गजनवी पहला स्वतंत्र शासक था जिसने अपने आपको सुल्तान उपाधि से विभूषित किया था। किन्तु जब मुसलमानों ने हिन्दुस्तान में विजय प्राप्त की तब सुल्तान शब्द हर स्वन्तत्र शासक की एक मान्य उपाधि बन गया।

खलीफा व दिल्ली सल्तनतः सुल्तान व खलीफा के सम्बन्धों को लेकर विद्वानों में प्रश्न उठते रहे हैं। वे यह स्वीकार करते हैं कि सैद्धान्तिक आधार पर सल्तनत खिलाफत का एक अंग थी। यह मत इस तथ्य पर आधारित है कि तत्कालीन सिक्कों में सुल्तान का खलीफा के प्रतिनिधि के रूप में स्पष्ट उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं जो यह सिद्ध करते है कि सुल्तानों ने खलीफा से मान्यता प्राप्त की। इतना ही नहीं, प्रायः सभी सुल्तान खलीफा के नाम के खुतबे में स्थान देते थे। **आरनाल्ड** लिखते है, जिस प्रकार पैगम्बर खुदा का प्रतिनिधि, उसी प्रकार खलीफा पैगम्बर का प्रतिनिधि, और सुल्तान खलीफा का प्रतिनिधि था। बिना खलीफा के आज्ञापत्र के मुस्लिम जगत का कोई शासक सुल्तान की उपाधि धारण नहीं कर सकता था।

दसवीं शताब्दी में अबासी खिलाफत इस्लाम की केवल मूलभूत इकाई के प्रतीक के रूप में जीवित थी और प्रत्येक मुस्लिम शासक पर खलीफा की प्रतीकात्मक राजभक्ति का आभार था। 1258 ई० में मंगोल नेता हलाकू खाँ ने अंतिम अब्बासी खलीफा अल-मुस्तसिम का वध कर दिया और इस प्रकार खिलाफत का अंत हो गया। अल मुस्तसिम वंश के बचे हुए व्यक्तियों ने मिस्त्र के ममलूक सुल्तान के दरबार में आश्रय ले लिया और ममलूक सुल्तान ने उन्हें आध्यात्मिक अधिकारी के रूप में स्वीकार भी कर लिया। मिस्त्र के खलीफाओं का वंश क्रम 1517 ई० तक चला और सोलहवीं शताब्दी से कुस्तुनतुनिया के ऑटोमन सुल्तानों ने खलीफा की उपाधि को धारण किया। बगदाद के पतन के बाद खलीफा राजनीतिक क्षमता तो खो बैठे थे किन्तु उन्होंने अपने सम्मानित राजनीतिक अधिकारों को नहीं त्यागा था।

सामान्य मुस्लिम जनता यह समझती थी कि खलीफा के प्रति आदर दिखाना सुल्तान का कर्त्तव्य है और जिस सुल्तान को खलीफा की स्वीकृति प्राप्त हो अथवा जो खलीफा का सहायक अथवा नायक हो, उसका विरोध करना धर्म विरूद्ध है। इस भ्रम से लाभ उठाने के लिए ही अधीनता का दिखावा किया जाता था किन्तु सच यही है कि उसे आंतरिक शासन में कोई हस्तक्षेव करने का अवसर नहीं मिलता था।

सल्तनत काल में इल्तुतमिश प्रथम सुल्तान था जिसने बगदाद के खलीफा द्वारा मान्यता प्राप्त की। खलीफा ने इल्तुतमिश को उन सारे क्षेत्रों के शासक के रूप में मान्यता दे दी थी जिन्हें उसने जीता था। **त्रिपाठी** लिखते है कि इस स्वीकृति ने न केवल सल्तनत को खिलाफत की कल्पना से बांध दिया अपितु कानूनी रूप में खलीफा द्वारा स्वीकृति को मान्य ठहराया। इसका यह अर्थ लगाना उचित न होगा कि उसने अपने राज्य को खिलाफत का एक अंग अथवा खलीफा को अधिराज स्वीकार कर लिया। इसका प्रमाण यह है कि बंगाल के शासक ग्यासुद्दीन, जिसे इल्तुतमिश की तरह ही खलीफा से मान्यता प्राप्त थी, के ऊपर उसने आक्रमण करने में हिचकिचाहट नहीं की व बंगाल को दिल्ली सल्तनत के अंतर्गत ले लिया। कानूनी रूप से ये दोनों ही खलीफा के नायब रहे हैं और दोनो की स्थिति भी एक ही है।

खलीफा के पद का मान सदा बना रहा। अधिकांश सुल्तान खलीफा को ही वैधानिक शासक मानने का दिखावा करते रहे व स्वयं को उसका नायक अथवा प्रतिनिधि स्वीकार करते रहे। प्रायः सभी सुल्तान खलीफा के नाम को खुतबे व सिक्के में स्थान देते थे इल्तुतमिश, अलाउद्दीन और ग्यासुद्दीन तुगलक अपने को नासिर-ए-अमीर-उल-मोमनीन' (खलीफा का सहायक) कहते थे। अलाऊदीन खिलजी की दूसरी उपाधि थी-'यामीन उल-खिलाफत' (खलीफा का दाहिना हाथ) बल्बन ने यद्यपि स्वंय को 'जिल्ले अल्लाह' (ईश्वर की छाया) व 'नियाबते खुदाई' (ईश्वर का प्रतिनिधि) माना पर वह भी खलीफा की राजनीतिक सत्ता को मान्यता देता था। अपनी राजनीतिक शक्ति के प्रयोग के लिए वह खलीफा की अनुमति प्राप्त करने की चर्चा करता था। मंगोलों ने खिलाफत को नष्ट कर दिया था तथा खलीफा की हत्या की जा चुकी थी। फिर भी खलीफा के स्मरण के लिए अपने सिक्कों पर उसने खलीफा का नाम अंकित किया व खुतबे में उसका नाम पढ़ा जाता था। मुहम्मद तुगलक ने प्रारम्भ में खलीफा के नाम की कहीं चर्चा तक नहीं कि परन्तु अपने शासनकाल के अंतिम दिनों में उसने खिलाफत से अपने पद के लिए मान्यता प्राप्त करने की प्रार्थना की थी। सिर्फ यही नहीं, उसने सिक्कों से अपना नाम हटाकर उसके स्थान पर खलीफा का नाम खुदवाया परन्तु इस संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता कि सुल्तान ने एक वर्ग को सन्तुष्ट करने के लिए यह चेष्टा की हो। जब मुहम्मद तुगतक ने देखा कि उसकी दमन नीति के बावजूद राज्य में अशांति है तो उसने अशंति के समाप्त करने के लिए खलीफा का नाम सिक्के पर खुदवाया और खुतबे में खलीफा का नाम भी पढ़ा जाने लगा। परन्तु इससे भी मुहम्मद तुगलक अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुआ। फिरोज तुगलक ने मिस्त्रके नाममात्र के खलीफा के प्रति श्रद्धा प्रकट की। ऐसा प्रतीत होता है कि खलीफा के नाम को सिक्कों में अंकित करना अथवा उनके बारे में गुणसूचक शब्द को व्यवहार में लाना एक परम्परा

बन गई थी। अलाउद्दीन का पुत्र मुबारक खिलजी पहला सुल्तान था जिसने खिलाफत की कल्पना को तोड़ा और साथ की साथ यह घोषणा भी की थी कि दिल्ली सल्तनम स्वंय प्रभु है। इसके साथ ही उसने स्वंय को खलीफा घोषित किया। सैयद वंश (1414-1451 ई०) व लोदी वंश (1451-1526 ई०) के दौरान सिक्कों पर खलीफा सम्बन्धी लेखन एक परम्परा के रूप में जारी रहा। परन्तु यह निष्ठा केवल नाममात्र थी।

सुल्तानः प्रारम्भिक इस्लामी व्यवस्था में सुल्तान के पद का कोई अस्तित्व नहीं था। खिलाफत की शक्ति के क्षीण होने के साथ सुल्तान एक शक्तिशाली शासक के रूप में अस्तित्व में आया। वह एक स्वतंत्र राज्य के सार्वभौमिक शासक के रूप में था। शासन की कोई व्यापक व्यवस्था इस काल में विकसित नहीं हुई। कानून, परम्पराओं और समयानुकूल आवश्यकताओं ने सुल्तानों के राजनीतिक द ष्टिकोण को प्रभावित किया। इन्हीं तीनों तत्वों ने सुल्तानों के राजत्व संबंधी सिद्धान्त को निर्धारित किया। जहाँ तक वे अपने को **खलीफा** का प्रतिनिधि समझते थे, उनका द ष्टिकोण कानूनी आवश्यकता पर आधारित था। परम्परा का तत्व उनके राजत्व मे फारस से लिया गया था। राजनीतिक परिस्थितियों ने उनकी राजनायिक संस्थाओं की निरकुंशता की अधिकता या कमी पर प्रभाव डाला।

प्रारम्भिक तुर्क सुल्तानों ने स्वयं को खलीफा का नायब घोषित किया। कुरान में **सुल्तान** या **सल्तनत** का कोई उल्लेख नहीं था। इस पद को न्यायसंगत बनाने के लिए विभिन्न कदम उठाए गए थे। सुल्तान के पद की प्रतिष्ठा स्वीकार की जाए, इसीलिए खलीफा की अधीनता की घोषणा की गई। समकालीन इतिहासकारों ने राज्य को शरीर के समान बताते हुए सुल्तान को उसका सबसे महत्वपूर्ण या आवश्यक अंग बताया है।

सर्व सत्ताधिकारी होने पर भी अनेक सुल्तानों ने स्वयं को खलीफा का नायब घोषित किया। दसवीं शताब्दी के बाद खलीफा केवल इस्लाम की एकता का प्रतीक बनकर रह गया था, जिसको प्रत्येक मुस्लिम शासक नाममात्र के लिए अपना अधिपति मानता था। दिल्ली सुल्तान जनहित के लिए नागरिक और राजनीतिक नियम बनाते थे। खुतबा व सिक्के प्रभुसत्ता के प्रतीक समझे जाते थे। वे खुतबों व सिक्कों में खलीफाओं के नाम अंकित कराते थे। परन्तु इससे उनकी व्यवहारिक स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। खुतबा एक औपचारिक धर्मोपदेश है जो शुक्रवार के समय पढ़ा जाता हैं। इसमें सुल्तान का नाम समुदाय के प्रमुख के रूप में लिया जाता था। सिक्कों को जारी करना भी राजसत्ता का अधिकार था। सिक्कों पर सुल्तान का नाम खुदा रहता था। ऐसा करके वे अपनी सुन्नी प्रजा और उलेमा वर्ग की वफादारी प्राप्त करते थे परन्तु वास्तव में वे स्वतंत्र शासक थे।

आदि तुर्क शासकों के राजत्व में परम्परा का तत्व फारस से आया। उन्होंने फारसी राजत्व की परम्पराओं व विचारों को अपनाते हुए अपने पद की उच्चता पर बल दिया। उन्हीं के समान राजा को धरती पर ईश्वर की छाया घोषित किया गया। सुल्तान के प्रति वफादारी को ईश्वर के प्रति वफादारी बताया गया और सुल्तान के विरूद्ध विद्रोह को पाप की संज्ञा दी गई। जनता द्वारा सुल्तान की आज्ञा पालन करवाने के लिए कुरान के इस पद पर बल दिया गया कि 'ईश्वर की आज्ञा का पालन करो, खलीफा की आज्ञा का पालन करो और जिनके हाथ में शक्ति है, उनकी आज्ञा का पालन करो।' फारसी परम्पराओं के अनुसार इस बात पर बल दिया गया कि सुल्तान के समान अन्य कोई नहीं है और कोई उसका संबंधी भी नहीं है। जनसाधरण के साथ निकटता का संबंध रखना सुल्तान के पद की प्रतिष्ठा के विरूद्ध माना गया।

सुल्तान के अधिकार एवं कर्त्तव्यः सुल्तान की स्थिति की विवेचना के पश्चात् उसके अधिकार और उत्तरदायित्वों की विवेचना करना आवश्यक है। शासन के क्षेत्र में सुल्तान कार्यपालिका का अध्यक्ष, सर्वोच्च सेनाध्यक्ष, विधि निर्माता व मुख्य न्यायाधीश था। राज्य की समस्त शक्तियाँ उसके हाथों में केन्द्रित थी और वह सम्पूर्ण प्रजा व शासक ही नहीं अपितु मुस्लिम वर्ग का धार्मिक नेता भी था। मुस्लिम विधिशास्त्रियों के अनुसार सुल्तान के निम्न कार्य थे।

1. इस्लाम की सुरक्षा करना।
2. प्रजाजनों के विवादों और मतभेदों को निपटाना
3. इस्लाम के भू-प्रदेशों की रचना करना तथा यात्रियों के लिए यातायात के साधनों को सुरक्षित रखना।
4. फौजदारी कानूनों को लागू करना और उन्हें बनाए रखना

5. मुस्लिम राज्य की सीमाओं को आक्रमणकारियों को विरूद्ध द ढ़ बनाना,
6. काफिरों के विरूद्ध जिहाद छेड़ना
7. राज्यकरों को एकत्रित करना।
8. सार्वजनिक कोष से सुपात्रों को भत्ता आदि देना
9. ऐसे अधिकारियों की नियुक्ति करना जो उसे न्यायिक व सार्वजनिक कार्यों को पूरा करने में सहयोग दें।
10. सार्वजनिक मामलों पर कड़ी निगरानी रखना और व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा लोगों की दशा की जानकारी रखना।
11. व्यक्तिगत रूप से प्रशासन का निरीक्षण व देखभाल करना
12. प्रांतों में प्रशासन व राजस्व व्यवस्था के लिए विश्वसनीय व्यक्तियों और सलाहकारों को नियुक्त करना।

इस प्रकार सुल्तान के अधिकार अत्यधिक विस्त त थे। सुल्तानों ने अपनी शक्ति के अनुसार स्वेच्छाचारी व निरकुंश सत्ता की स्थापना की। **कुरैशी** लिखते है कि "सुल्तान सार्वजनिक मामलों का नियन्त्रण करता है, अधिकारों की रक्षा करता है, दण्डविधान को लागू करता है। वह एक ऐसा धुव्रतारा है जिसके चारों ओर शासन चक्कर काटता है। अपने राज्य में वह ईश्वरीय संरक्षक है, उसकी छाया उसके सेवकों पर व्याप्त है, क्योंकि वह निषिद्ध बातों पर रोक लगाता है। वह अत्याचारियों का उन्मूलन करता है और कायरों अथवा भयग्रस्त लोगों को सुरक्षा प्रदान करता है"। यद्यपि सुल्तान के कानूनी अधिकार असीमित थे, तथापि व्यावहारिक रूप में उस पर अनेक प्रतिबंध थे। तुर्कों की संख्या भारत में कम थी, भारतीय परम्पराओं और रीति-रिवाजों को नजर अन्दाज करना उनके लिए कठिन था। उन्हें हिन्दुओं के विशेषज्ञों पर कुछ हद तक निर्भर रहना पड़ता था व साथ ही जनसंख्या के बदलते स्वरूप को ध्यान में रखना पड़ता था। उसे अपने अधिकारों के प्रयोग में अपनी सैनिक शक्ति पर निर्भर रहना पड़ता था। इसके अतिरिक्त सुल्तान को उलेमा वर्ग व अमीर वर्ग की शक्ति पर बराबर निगरानी रखनी पड़ती थी। इन वर्गों की आकांक्षाओं व संघर्ष की स्थिति पर सुल्तान को अत्यन्त सावधानी बरतनी पड़ती थी। इल्तुतमिश के दुर्बल उत्तराधिकारियों के समय उलेमा वर्ग का विकास राजनीतिक शक्ति के रूप में हो गया और वे विभिन्न राजनीतिक दलों के साथ मिल गए व राजनीति में सक्रिय रूप से हस्तक्षेप किया। सुल्तान व अमीरों के बीच चलने वाले लम्बे संघर्ष में दोनों पक्षों ने मुस्लिम जनता पर उलेमा के प्रभाव का लाभ उठाने का प्रयत्न किया।

मूलतः इस्लामी राज्य का रूप लोकतांत्रिक था, तथापि परिस्थितियों के कारण दिल्ली सल्तनत की सरकार को एक केन्द्रीकृत संगठन का रूप धारण करना पड़ा। हिन्दू सामंतों के विरोधी मनोभाव व उत्तर-पश्चिमी सीमान्त पर मंगोलों के प्रसार के कारण शासन के केन्द्रीयकरण की आवश्यकता प्रतीत हुई। सुल्तान राज्य में प्रत्येक वस्तु की चालन शक्ति था। खलीफा की भांति वह शरा का सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता व कार्यान्वयनकारी था। परन्तु सुल्तानों से अपेक्षा की जाती थी कि वे अपने पथ-प्रदर्शन के लिए उलेमा वर्ग का निर्देश प्राप्त करें। किन्तु अधिकांश उलेमा प्रलोभन का त्याग नहीं कर पाते थे व सुल्तान की हाँ में हाँ मिलाकर उसको और निरकुंश बना देते थे। **बरनी** बताता है कि अलाउद्दीन खिलजी जैसे सुल्तानों ने उलेमा वर्ग की गतिविधियों को सीमित किया क्योंकि गद्दी पर बैठने के बाद उसके हृदय में यह बात बैठ गई कि राज्य व्यवस्था तथा शासन-प्रबन्ध के शरीयत के आदेशों के अनुरूप संचालित नहीं किया जा सकता है। वह मानता था कि राज्य संबंधी बातें सुल्तान से संबंधित हैं व शरीयत के आदेश काजियों व मुफ्तियों के साथ। इससें प्रतीत होता है कि व्यवहार में सुल्तान अपनी मर्जी का मालिक था। अगर वह उनकी राय लेता था या राय को महत्व देता था तो यह तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों की माँग थी। अलाऊद्दीन खिलजी व मुहम्मद तुगलक जैसे शक्तिशाली सुल्तानों ने कई अवसरों पर कुरान के नियमों की खुली अवहेलना की।

परन्तु इतना होते हुए भी सुल्तानों को इस्लाम धर्म का अंकुश मानना पड़ता था। सभी शासक अलाउद्दीन अथवा मुहम्मद तुगलक की भांति उलेमाओं के परामर्श की उपेक्षा करके शासन नहीं चला सकते थे क्योंकि मुस्लिम जनता पर मुल्ला मौलवियों का प्रभाव था।

इसके अतिरिक्त सुल्तान को लोकमत और विद्रोह का भय लगा रहता था। इसलिए वह कुछ सर्व स्वीकृत नियमों के अनुसार आचरण करने को बाध्य था। खलीफा की भांति उसकी भी विधायक शक्तियाँ बहुत सीमित थी और प्रशासन जैसे नितांत धर्म निरपेक्ष विषयों में भी शरा के नियमों का कम से कम औपचारिक रूप से पालन अनिवार्य था।

सुल्तान की शक्ति पर अमीर वर्ग का प्रभाव भी कुछ हद तक प्रतिबंधों के रूप में काम करता था। अयोग्य सुल्तानों के समय इन अमीरों का प्रभाव बहुत अधिक होता था जैसे इल्तुतमिश के निर्बल उत्तराधिकारी अमीरों के हाथ की कठपुतली थे परन्तु बल्बन जैसे शक्तिशाली सुल्तानों के समय में अमीर वर्ग आज्ञाकारी से अधिक कुछ नहीं होते थे। बहुधा नवीन राजवंश के आने के साथ-साथ अधिकांश पुराने अमीर मार डाले जाते थे या फिर छोटे पदों पर कर दिए जाते थे। इस प्रकार अमीर वर्ग को सल्तनत काल में गौरवशाली पद प्राप्त न हो सका। इस काल में अमीरों में प्रायः गुटबन्दी व पारस्परिक ईर्ष्या रहती थी। इस कारण उनका प्रभाव घटता-बढता रहता था। सुल्तानों व अमीरों के पारस्परिक शक्ति संबंधों की जो स्थिति तुर्क सुल्तानों के समय रही, वह लोदी कालीन अफगान शासन व्यवस्था के समय तक न बनी रह सकी। लोदियों ने अमीरों का सम्मान इतना बढ़ा दिया कि उनकी अपनी स्थिति 'सम्मानों में प्रधान' की हो गई। परन्तु इसकी असुविधाओं को अंतिम लोदी सुल्तानों ने अनुभव किया कि सुल्तान व अमीरों के बीच संबंधों की रूपरेखा वही होनी चाहिए जो तुर्ककाल में थी। इस प्रकार तत्कालीन सुल्तान पर असन्तुष्ट अमीरों के विद्रोह के डर का अंकुश हमेशा बना रहता था।

केन्द्रीय शासन पर सबसे अधिक प्रभाव सुल्तान के व्यक्तित्व का पड़ता था। सुल्तान की सहायता के लिए मंत्री होते थे, जिनको सुल्तान इच्छानुसार नियुक्त करते थे। शक्तिशाली सुल्तान के समक्ष ये मंत्री आज्ञापालक के रूप में कार्य करते थे परन्तु निर्बल सुल्तानों के समय मंत्री सारी शक्ति को अपने हाथ में लेकर सुल्तान को कठपुतली बना सकते थे। सैद्धान्तिक रूप से दिल्ली सल्तनत में सुल्तान की सहायता के लिए एक मंत्रिपरिषद् होती थी जिसे मजलिस-ए-खलवत कहते थे।

विज़ारतः विज़ारत ऐसी संस्था थी जिसे इस्लामी संविधान में मान्यता दी गई थी। मुस्लिम शासकों के अधीन मंत्रीपरिषद् अथवा मंत्री-गोष्ठी के लिए जो नाम व्यवहार में लाए गए थे उन्हें विज़ारत की संज्ञा दी गई थी। किन्तु उन शासकों के समय विजारत का अर्थ एक ही मंत्री था जो सम्राट का परामर्शदाता बन सकता था। वजीर उन लोगों को कहा जाता है जो राजा तथा प्रजा के बीच की कड़ी बन जाते थे। अतः उनके लिए आवश्यक था कि वे राजा की प्रकृति के बारे में जानकारी रखें एवं जनता की प्रकृति के बारे मे जाने ताकि वे दोनों पक्षों को भली-भांति संभाल सकें। **अल-मावर्दी** ने वजीरों को दो श्रेणियों में विभक्त किया-(i) वजीर तफ़बीद और (ii) वजीर-तनफीज़। प्रथम वजीर तफवीद (असीमित अधिकारों वाले) वजीर खलीफा द्वारा अपना उत्तराधिकारी मनोनीत करने की शक्ति को छोड़कर, उसकी समस्त शक्तियों का उपभोग करते थे। उनसे केवल यह अपेक्षा की जाती थी वह जो कुछ भी करें, उसकी सूचना खलीफा को दें। वह केवल खलीफा द्वारा नियुक्त पदाधिकारी को पदच्युत नहीं कर सकता था। दूसरी ओर उसे खलीफा के नाम पर किसी पदाधिकारी को नियुक्त करने की शक्ति थी।

वजीर तनफीज़ अर्थात् सीमित अधिकारों वाले वजीर की शक्तियाँ उतनी व्यापक व विस्त त न थी। वह केवल खलीफा के आदेशों के पालन एवं उनके अनुदेशो के अनुसार काम का अधिकार रखता था। वजीरों से यह अपेक्षा भी की जाती थी कि उन्हें प्रशासन और कराधान तथा प्रान्तों की स्थानीय स्थितियों की पूरी जानकारी हो।

विज़ारत को एक संस्था के रूप में अपनाने की प्रेरणा अब्बासी खलीफाओं ने फारस से ली और उनके अधीन-विलास का जीवन व्यतीत करना शुरू किया और उनके पास प्रशासन को देखने का समय न रहा तब वजीर ने सम्पूर्ण दायित्व अपने ऊपर लेकर खलीफा को परेशान किए बिना शासन-व्यवस्था की देखभाल अपने हाथ में ले ली। जब गज़नी ने फारस के राजवंश से अपने आपकों स्वतंत्र कर लिया तब महमूद ने स्वतंत्र व शक्तिशाली सुल्तान की नींव डाली। उसके काल में अब्बास फजल बिन अहमद प्रथम वजीर हुए जो शासन-व्यवस्था चलाने में निपुण थे। महमूद ने इनके ऊपर राज्य शासन तथा सैनिक विभाग का शासन-भार सौंपा था। गजनवी के प्रारम्भिक काल में वजीर का पद सबसे ऊँचा व सम्मानित पद था। महमूद के उत्तराधिकारी के काल में वजीर केन्द्रीय सरकार में राजस्व तथा आर्थिक विभाग की देखभाल करता था एवं साथ-साथ प्रादेशिक शासन-व्यवस्था की भी देखभाल करता था।

शासनतंत्र को सुव्यवस्थित करना, राज्य के वैभव को बढ़ाना, धन संग्रह करना, अधिकारियों की नियुक्त करना, हिसाब-किताब की जानकारी प्राप्त करना, कारखानों में वस्तुओं का प्रबंध करना, शाही जानवरों के पंजीकरण का निरीक्षण, शाही सेवकों के लिए वेतन का प्रबंध, विद्वान व असहाय व्यक्तियों की देख-रेख आदि वजीर के प्रमुख कार्य थे। सल्तनतकाल में वजीरों के अधिकार एवं प्रतिष्ठा में व द्धि होती रही तथापि प्रशासन व वित्त प्रमुख के रूप में वजीर का पद कायम रहा। यद्यपि वजीर

पर सैनिक नेत त्व का भार सौंपने का उल्लेख भी मिलता है तथापि सैनिक नेत त्व का कार्य वजीर के निर्धारित कार्यों में नहीं था। आधारभूत रूप में उसका कार्य नागरिक प्रशासन था। **बरनी** कहता है "इमामत (नेत त्त्व) बादशाहों का कार्य है, विजारत वजीरों का कार्य है।" वजीर की शक्ति का आधार युद्धरत सैनिकों में नहीं अपितु सुल्तान की विश्वसनीयता तथा स्वयं की प्रतिष्ठा व चातुर्य में निहित था।

प्रारम्भिक मुस्लिम सुल्तान सामान्य शासन व्यवस्था तथा सैनिक व्यवस्था के बीच कोई स्पष्ट अन्तर नहीं रख सके। फखरूल मुल्क इसामी जो तीस साल तक बगदाद के दरबार में ऊँचे पद पर रह चुका था उसे इल्तुतमिश ने कुछ समय के लिए वजीर के रूप में नियुक्त किया था। इससे ज्ञात होता है कि इल्तुतमिश की चेष्टा थी कि अच्छे योद्धा की अपेक्षा योग्य व्यक्ति को वजीर के पद पर नियुक्त किया जाए जबकि उसका प्रथम वजीर जैसा कि **मिनहाज** बताते हैं निजामुल्मुल्क की संज्ञा से सम्बोधित किया जाता था और वह सैनिक अभिमानों में विशेष रूप से सक्रिय था। इस आधार पर आर० पी० त्रिपाठी का मत है कि इल्तुतमिश के समय में वजीर का स्वरूप स्पष्टतः प्रमाणित नहीं हो पाया था।

इल्तुतमिश के दुर्बल उत्तराधिकारियों के समय वजीर ने अधिक शक्ति ग्रहण की। वजीर ख्वाजा मुहज्जब शक्ति के इस केन्द्रीयकरण का प्रमाण है। बहरामशाह (1240-42) व अलाउद्दीन मसूदशाह (1242-46) के राज्यकाल मे उसने अत्याधिक शक्ति प्राप्त की। **मिनहाज** कहता है कि "सुल्तान की इच्छा के विरूद्ध भी अपने पद पर बने रहना उसकी कूटनीति की पराकाष्ठा थी।" फिर बल्बन के समय वजीर की शक्तियाँ निम्नतम् बिन्दु पर जा पहुँची। इसका कारण यह था कि सुल्तान नासिरूद्दीन महमूद के नायब के रूप में उसने इतनी अधिक शक्तियों का उपभोग किया कि वह सुल्तान व वजीर दोनों पर छा गया। यू0 **एनडे** कहते है कि उसकी स्थिति अब्बासी खलीफाओं के वजीर तफवीद के समान हो गई थी। ऐसी स्थिति मे जैसा कि **बरनी** बताता है कि सुल्तान के रूप में बल्बन ने यह विचार पसन्द नहीं किया कि वजीर अधिक शक्तियों का उपभोग करे। इसीलिए ख्वाजा हसन बसरी वजीर के रूप मे नियुक्ति होने पर भी उभर न सका। **त्रिपाठी** का मत है कि वजीरों की बढ़ती आकांक्षाओं को देखते हुए ही बल्बन ने ख्वाजा हसन जैसे औसत श्रेणी के व्यक्ति को वजीर नियुक्त करना अधिक उपयोगी समझा।

जलालुद्दीन खिलजी वजीर पद को पुनः प्रतिष्ठित बनाने की चेष्ठा की। जैसा कि बरनी बताता है ख्वाजा खातिर को वजीर के रूप में नियुक्त किया। वह बल्बन के समय में नायब (सहायक वजीर) था। वह अलाऊद्दीन के राज्यारोहण के बाद भी वजीर के पद पर रहा। अलाउद्दीन ने इसके बाद नुसरत खाँ को वजीर के पद पर नियुक्त किया। उसकी म त्यु के बाद मलिफ काफूर को यह पद दिया गया किन्तु थोड़े ही समय के बाद मलिक काफूर को नायब क पद पर आमंत्रित किया गया। ऐसी स्थिति में वजीर पद की विशिष्टता नहीं रही। एक शक्तिशाली सेनानायक ताजुलमुल्क काफूरी को सुल्तान के वजीर के रूप में जाना जाता रहा। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वजीर पद के लिए सैनिक सफलता का होना अति आवश्यक समझा गया।

तुगलक काल मे ग्यासुद्दीन तुगलक ने एक नया प्रयोग किया। उसने राज्यारोहण के पश्चात् मलिक शादी को वजीर बनाया पर **त्रिपाठी** के अनुसार वह दिन-प्रतिदिन के कार्यों को देखता था जबकि नए प्रयोग के अन्तर्गत परामर्श के लिए भूतपूर्व वजीरों ख्वाजा खातिर, ख्वाजा मुहज्जब व निजामुल्मुल्क जुनैदी-को सम्मानपूर्वक आंमत्रित किया गया। वह न केवल इनसे महत्वपूर्ण मामलों पर सलाह लेता बल्कि उनके विचारों को महत्व भी देता था।

ग्यासुद्दीन की नीति का कुछ भी अनुभव रहा हो, परन्तु इतना स्पष्ट है कि मुहम्मद तुगलक ने व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को लागू किया। उसने एक कुशल व्यक्ति ख्वाजा जहाँ को वजीर बनाया जो उसके सम्पूर्ण शासनकाल में वजीर बना रहा। **अफीफ** बताते है कि तुगलक काल में वजीर पद का न केवल महत्त्व बढ़ा, बल्कि फिरोज़ तुगलक के समय चरम शिखर पर जा पहुँचा। **बरनी** बताता है कि सुल्तान उसके कार्य से इतना प्रसन्न था कि वह अक्सर कहा करता था कि खान-ए-जहाँ मकबूल ही वास्तविक रूप से शासक है। **यू० एन० डे** की मान्यता है कि खान-ए- जहाँ मकबूल की बिज़ारत सम्पूर्ण सल्तनत काल में वजीर की शक्ति की पराकाष्ठा बिन्दु है। परवर्ती तुगलक काल में सुल्तानों की निर्बलता के कारण वजीर और भी शक्तिशाली होने लगे, यहाँ तक कि वे सामान्यतः शासन विभाग व सैनिक विभाग दोनों के ही प्रधान बन बैठे। अंतिम तुगलक सुल्तान नासिरूद्दीन महमूद के शासनकाल में वकीन-ए-सल्तनत नामक नए पद की उत्पत्ति हुई। इस पद के अधिकरी को सामान्य शासन-व्यवस्था तथा सैनिक व्यवस्था की देखभाल करनी पड़ती थी। इस पद की उत्पत्ति के समय उससे यह आशा

की जाती थी कि वह वजीर की सहायता करेगा लेकिन धीरे-धीरे उसने वजीर की समस्त शक्तियाँ अपने हाथों मे केन्द्रित कर ली। यद्यपि यह नया कार्यालय कुछ दिन के लिए ही टिका था।

सैयदों के समय वजीर मुख्य रूप से एक सैनिक अधिकारी के रूप में उभरा परन्तु इसके बाद भी वह वित्तीय उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हुआ। इस समय वजीर सेनाध्यक्ष के साथ ही वित्त मंत्री व आडिटर जनरल भी था। **फरिश्ता** बताता है कि शक्ति के एक ही हाथ में केन्द्रीयकरण होने के कारण वित्त व्यवस्था को नुकसान पहुँचा होगा और इसीलिए मुबारक शाह ने अलग से ही आडिटर-जनरल की नियुक्ति कर वजीर को एकमात्र वित्त-व्यवस्था व उत्तरदायित्व सौंपा।

सैयदों के उत्तराधिकारी लोदी सुल्तान कबीले तथा प्रजातन्त्रीय परम्पराओं में पाले गए थे। वे वजीर की अपेक्षा विभिन्न कबीलों के प्रमुखों से मिलकर शासन चलाने में विश्वास करते थे। इसीलिए लोदियों ने तुर्की राज्य के आडम्बरों को पसन्द नहीं किया। सम्भवतः प्रथम लोदी शासक बहलोता लोदी ने किसी वजीर की नियुक्ति नहीं की। **त्रिपाठी** के अनुसार बहलोल का ये विचार समकालीन भारतीय परिस्थितियों के लिए उतना ही प्रतिकूल था जितना कि साम्राज्य को शासित करने के लिए अपर्याप्त शासन-मशीनरी थी। इसलिए उसके पुत्र सिकन्दर लोदी ने अपने पिता से भिन्न नीति अपनाई व मिया मुआ को अपना वजीर बनाया जो इब्राहिम लोदी के राज्यारोहण के बाद तक इस पद पर बना रहा लेकिन अपने अंहकारी रूख के कारण वह पतन का शिकार बना। इधर अफगानों के अधीन वजीर का कार्यालय विशिष्टता प्राप्त करने में असफल रहा।

दीवान-ए-वजारतः मुस्लिम राजनीतिक विचारकों ने वजीर के पद को अत्याधिक महत्व दिया है। उनकी ये मान्यता है कि वजीर के बिना कोई भी राज्य स्थायी और सम द्ध नहीं हो सकता। मुख्यतया वजीर चार प्रशासनिक विभागों के अध्यक्ष में से एक था परन्तु वजीर होने के नाते दूसरों की अपेक्षा उसका पद अधिक सम्मानित था। उसका विभाग दीवान-ए-वजारत की संज्ञा से सम्बोधित किया जाता था। सुल्तान का प्रमुख सलाहकार होने के नाते सुल्तान उसके लिए सुलभ था। सम्भवतः उसे एक निश्चित वेतन दिया जाता था क्योंकि आय अथवा राजस्व के रूप में आवंटन का कोई प्रमाण हमें नहीं मिल पाया है। मुहाजुबुद्दीन के द्वारा कोल के इक्ता पर अधिकार करना अनुचित स्वीकार किया गया है। मुहम्मद तुगलक के समय वजीर के लिए राजदेय भूमि का विवरण मिलता हैं जो ईराक के समान विस्त त थी। उसके अधीनस्थ कर्मचारियों को भी वेतन के अतिरिक्त कुछ कस्बे अथवा गाँव प्राप्त थे जिनमें से निम्नतम को लगभग 10,000 टंक प्रतिवर्ष प्राप्त होते थे। **प्रो० हबीलुल्ला** का मत है कि इसमें असम्भाव्यता के अतिरिक्त अतिरंजिता भी विद्यमान है, क्योंकि 13 वीं शताब्दी में इसकी कल्पना करना भी भ्रमात्मक होगा।

वजीर के कार्यों से यह स्पष्ट है कि वह शासन का कर्णधार था, परन्तु इन सामान्य उत्तरदायित्वों के अतिरिक्त उसका निकट का सम्बन्ध वित्त मन्त्रालय से ही था। इस आधार पर लगान लगाने, कर व्यवस्था को उचित रूप में बनाये रखने के लिए ही वह अधिक सक्रिय था। क्योंकि उसका कार्य-क्षेत्र अधिक व्यापक था। इसलिए उसकी सहायता हेतु एक नाइब वजीर होता था। लेखा-परीक्षा के लिए मुशरिफ-ए-मुमालिक (महालेखाकार), मुस्तफी-ए-मुमालिक (महालेखा-परीक्षक) नामक अधिकारी होते थे। मजूमदार लोगों को दिये गए तकाबी ऋण का लेखा-जोखा रखता था और खजीन नकद रूपया रखता था। जलालुद्दीन खिलजी के समय में 'दीवान-ए-वफ्फ' नामक विभाग खोला गया था जो खर्च सम्बन्धी पत्रों को देखता था। इस नये विभाग के कारण आय सम्बन्धी विभाग खर्च सम्बन्धी विभाग से पूर्णतया अलग हो गया तथा खर्चे पर अब अपेक्षाकृत अधिक निरीक्षण सम्भव हो सका था। तत्पश्चात् यह एक अलग ही विभाग बना दिया गया। इसके अतिरिक्त अलाउद्दीन खिलजी ने दीवान-ए-मुस्तकहराज नामक विभाग की वित्त विभाग के अन्तर्गत स्थापना की जिससे कि अधिक भू-राजस्व प्राप्त किया जा सके। मुस्तकहराज का कार्य था कि वह कर उगाहने वालों के नाम निकलने वाले बकाया की जानकारी करे तथा उन्हें वसूल करे। उसे दाण्डिक अधिकार प्राप्त थे और ऐसा अनुभव होता है कि वह उनका प्रयोग करता था। तत्पश्चात् मुहम्मद तुगलक ने दीवान-ए-अमीर-कोही नामक विभाग की स्थापना की। यह विभाग बगैर जोती हुई भूमि को प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता व राजकीय व्यवस्था देकर उपज के योग्य बनाता था।

राजस्व विभाग सम्बन्धी कार्यों के अतिरिक्त वजीर साधारण रूप में समस्त शासन व्यवस्था पर नजर रखता था। सार्वजनिक प्रशासन का कोई विभाग उसके कार्यक्षेत्र से बाहर नहीं था और सर्वाधिक शक्तिशाली इक्तादार से लेकर निम्नस्तरीय कृषक तक उससे और उसके सहायकों से सम्पर्क रखते थे। स्वाभाविक रूप में यह माना जाता था कि उसके अपनी प्रत्येक नीति के लिए सुल्तान की पूर्व स्वीकृति प्राप्त कर ली है। उसके कोई न्यायिक अधिकार न थे परन्तु वजीर होने के नाते सेना का

संगठन और व्यवस्था उसके प्रभाव क्षेत्र में थी। वित्त मंत्री होने के कारण वह वेतन वितरित करता था और कार्यों को आवंटन करता था। कभी-कभी वह युद्ध में सेना का नेत त्व भी करता था।

वह प्रशासनिक सेवकों की नियुक्ति व निरीक्षण करता था तथा व्यय के सम्पूर्ण मदों पर पूरा नियन्त्रण रखता था। वह अपने सहायकों के द्वारा हिसाब आदि की जाँच करता था तथा स्थानीय अधिकारियों द्वारा अवैधानिक रूप में खर्च किये गये धन को वसूल करने का प्रबन्ध करता था।

इस प्रकार से वह सुल्तान के बाद राज्य की शासन व्यवस्था के लिए उत्तरदायी था और यदि **अफीफ** के विचार को स्वीकार किया जाये तो, यदि कोई दीवान-ए-वजारत के कार्यों का विवरण प्रस्तुत करे तो उसे एक पुस्तक लिखनी पड़ेगी। परन्तु इसके बाद भी **मावर्दी** ने जिस वजीरूल तफबीज की श्रेणियों को जन्म दिया था उसकी तुलना में सल्तनत काल के शक्तिशाली वजीर की शक्ति भी अत्याधिक न्यूनतम थी।

दीवान-ए-आरिजः राज्य के सेना-विभाग का अधीक्षक दीवान-ए-आरिज या दीवान-ए-अर्ज कहलाता था। दिल्ली सल्तनत मुख्यतः एक सैनिक राज्य था जो केवल शक्ति के आधार पर ही सुरक्षित रखा जा सकता था। इससे हम इस विभाग की महत्ता का अनुमान लगा सकते है। आरिज ही अधिकांशतः सेना के अनुशासन और उसकी कार्यक्षमता के प्रति उत्तरदायी था। उसका मुख्य कार्य सैनिकों की भर्ती करना, उनकी साज-सज्जा तथा युद्ध-कुशलता को देखना था। वह घोड़ों का स्वयं निरीक्षण करता था तथा सैनिकों को भर्ती करने के पहले उसका परीक्षण करता था। घोड़ों को दागने का उत्तरदायित्व भी उसी का था। युद्ध के समय वह अथवा उसका नारब सैनिकों की रसद अथवा उनके आवागमन का प्रबन्ध करता था। युद्ध में प्राप्त हाथी अथवा लूट के माल की व्यवस्था करना भी उसी का कार्य था। सैनिकों की कार्य -कुशलता को देखने के लिए वह कभी-कभी मौन युद्ध की भी व्यवस्था करता था, जिससे की वह प्रान्तीय इक्तादारों द्वारा भेजी गई सैनिक टुकड़ियों की कार्य-क्षमता को आँक सके।

आरिज को अधिकार था कि वह किसी सैनिक के वेतन में बढ़ोतरी कर दे, और इसीलिए उसे वजीर के आर्थिक अंकुश से मुक्त कर रखा था। बलबन का आरिज इमादुलमुल्क स्वयं अपने साधनों से सैनिकों को पुरस्कृत करता था और अपनी इस कर्त्तव्यनिष्ठा के लिए वह सुल्तान की सराहना का पात्र था। **बरनी** के विवरण के अनुसार आरिज यदाकदा अपने सहायक अधिकारियों को आमंत्रित कर उनसे सैनिकों के वेतन का दुरूपयोग न करने अथवा मुक्तियों के प्रतिनिधियों से घूस न लेने की प्रार्थना करता था। इससे यह अनुमान लगता है कि उस समय घूस लेने-देने की प्रथा अधिक प्रचलित थी और यदि बरनी के विवरण को स्वीकर किया जाये तो स्वयं फिरोज तुगलक ने एक सैनिक को घोड़ा पास करवाने हेतु अधिकारी को एक टंक रिश्वत देने के लिए अपने पास से यह धन दिया था। सम्भवतः भूमि के आवंटन के रूप में वेतन प्राप्त होता था क्योंकि **बरनी** के अनुसार बलबन के आरिज इमादुलमुल्क ने स्वयं के इक्ता में से सार्वजनिक कामों के लिए गाँव दिये थे।

आरिज पदेन-यप प्रधान सेनापति नहीं था। अलाउद्दीन के समय काफूर द्वारा वारंगत के अभियान में आरिज उसका सहायक बनाकर भेजा गया था। इसी प्रकर गियासुद्दीन तुगलक के समय में मुहम्मद तुगलक के साथ आरिज सहायक के रूप में ही भेजा गया था। इसके अतिरिक्त सेना का महासेनापति स्वयं सुल्तान होता था, इसलिए समान्यतया आरिज को शाही सेना का सेनापतित्व नहीं सौंपा जाता था। उसे सेना के किसी भाग का नेत त्व दे दिया जाता था। दीवान-ए-आरिज मन्त्रालय इतना महत्त्वपूर्ण था कि कई बार सुल्तान स्वयं इस विभाग से सम्बन्धित अनेक कार्य किया करता था। अलाउद्दीन खिलजी इस मन्त्रालय पर निजी तौर से ध्यान देता था।

दीवान-ए-इंशाः हबीबुल्ला के अनुसार तीसरा मन्त्रालय शाही पत्र व्यवहार का था। **मिनहाज** ने इसको दीवान-ए-अशरफ की संज्ञा दी है जो साधारण रूप में 'दीवान-ए-इंशा' पुकारा जाने लगा। इसके अध्यक्ष को दबीर-ए-मुमालिक कहा जाता था। शाही घोषणाओं और पत्रों के मसविदे तैयार करना इसी विभाग का काम था। उसी के द्वारा सुल्तान के फरमान जारी होते थे। वह केन्द्रीय तथा प्रान्तीय शासन के बीच कड़ी था इसलिए उसे बड़ी ही सतर्कता से काम करना पड़ता था और विशेषकर उस समय जबकि सल्तनत के विभिन्न भागों में षंडयन्त्र करना एक साधारण सी घटना थी। इन कार्यों को करने के लिए उसके पास अनेक सचिव होते थे जिनको दबीर कहते थे। इनके अध्यक्ष को सदरूल मुहक कहते थे। सुल्तान के व्यक्तिगत दबीर को दबीर-ए-खास कहा जाता था। उसका काम सुल्तान के साथ रहने के अतिरिक्त उसके पत्र-व्यवहार को व्यवस्थित

करना था। फतहनामा लिखने का कार्य भी उसी का था। साहिब-ए-दीवान-ए-इंशा सुल्तान के घनिष्ठ सम्पर्क में था तथा वही समस्त राजकीय रिकार्ड रखता था। क्योंकि दीवान-ए-संज्ञा का कार्य अत्याधिक गुप्त प्रकृति का था इसलिए इसका अध्यक्ष बहुत ही विश्वसनीय पदाधिकारी होता था।

दीवान-ए-रसालत: चौथा मन्त्रालय दीवान-ए-रसालत कहलाता था। इतिहासकार इस मन्त्रालय के कार्यों के सम्बन्ध में एकमत नहीं है। **हबीबुल्ला** की मान्यता है कि वह विदेशी मामलों से सम्बन्धित था। अतः उसका कार्य-क्षेत्र कूटनीतिक पत्र-व्यवहार और विदेशों से आने वाले अथवा विदेशों को भेजे जाने वाले राजदूतों से सम्बन्धित था। **कुरेशी** का मत है कि इस मन्त्रालय का सम्बन्ध धार्मिक विषयों से था और धार्मिक व्यक्तियों तथा विद्वानों को जो व ति प्रदान की जाती थी वह इसी विभाग द्वारा दी जाती थी। हबीबुल्ला का मत सही प्रतीत होता है क्योंकि सल्तनत काल में एक ही काम के लिए दो विभिन्न पदाधिकारियों को रखना उचित नहीं दिखता है। धार्मिक आदि कार्यों के लिए सदर-उस-सुदूर हुआ करता था इसलिए इस मन्त्रालय का यह काम करना कठिन प्रतीत होता है। **यू० एन० डे०** के अनुसार फीरोज तुगलक के शासन काल में इस विभाग की महत्ता बढ़ गयी थी।

राज्य के छोटे विभाग: इन चार मन्त्रालयों के अतिरिक्त सल्तनत काल में अनेकों छोटे-छोटे विभाग थे जो मन्त्रालयों से मुक्त थे। प्रत्यक्ष रूप से सुल्तान के निरीक्षण में थे। इन विभागों में से घरेलू-प्रबन्ध व गुप्तचर विभाग अधिक महत्वपूर्ण थे और इस कारण सुल्तान इनके पदों पर नियुक्ति करते समय अधिक सतर्क रहता था। घरेलू प्रबन्ध अधिकतर अमीरों द्वारा व्यवस्थित किया जाता था। अमीर सुल्तान की सेवा करना स्वयं के लिए सौभाग्यशाली मानते थे।

वकील-ए-दर: इनमें सबसे प्रमुख वकील-ए-दर था जो शाही महल और सुल्तान के व्यक्तिगत सेवकों का प्रबन्ध करता था। सुल्तान के निजी सेवकों का वेतन चुकाना,शाही रसोईघर की व्यवस्था करना तथा शाही परिवार की समस्त सुख-सुविधा की देखरेख करना उसी का काम था। वकील-ए-दर ही घरेलू-आवश्यकताओं की समस्त बातों को शाही स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करता था और उसी के माध्यम से शाही आदेश दिये जाते थे। इसके लिए उसका एक प थक सचिवालय होता था। यहाँ ही प्रत्येक आदेश पहले पंजीकृत किया जाता था तथा उस पर उसकी मोहर लगाई जाती थी। शाही परिवार का प्रत्येक अथवा घरेलू प्रबन्ध से सम्बन्धित प्रत्येक व्यक्ति उसके सम्पर्क में आता था। उसका प्रभाव अत्याधिक था इसलिए वह सुल्तान का नाइब समझा जाता था। उसका क्योंकि सदैव ही महत्वपूर्ण व्यक्तियों से सम्बन्ध रहता था इसलिए एक असाधारण चतुर और व्यावहारिक व्यक्ति ही इस पद का निर्वाह कर सकता था। उसे सुल्तान को अपने अन्तर्गत समस्त बातों से पूरी तरह सूचित रखना होता था। उसे अत्यन्त सतर्क रहना पड़ता था, क्योंकि अनेक महत्वपूर्ण व्यक्ति जिनसे उसका काम पड़ता था वे स्वयं सुल्तान के सम्पर्क में आते थे। सुल्तान की तनिक-सी नाराज़गी अथवा सन्देह के कारण उसे न केवल अपने पद से अपितु प्राणों तक से भी हाथ धोना पड़ सकता था। उसकी सहायता के लिए एक अन्य उच्चाधिकारी होता था जिसे नाइब वकील-ए-दर कहा जाता था। नाइब वकील-ए-दल, हमीदुद्दीन की सूचना पर ही अलाउद्दीन खिलजी अकत खां के षंडयन्त्र से बच सकने मे सफल हो पाया था।

विभिन्न कारखाने: घरेलू प्रबन्ध जैसे एक व्यापक संस्थान के लिए एक विशिष्ट आयोजन की आवश्यकता थी। इसके प्रबन्ध के लिए विभिन्न विभाग बनाये गये थे जिनको कारखानों की संज्ञा दी गई है। भिन्न-भिन्न सुल्तानों के समय मे कारखानों की संख्या आवश्यकता के अनुसाार भिन्न-भिन्न थी। अफीफ के अनुसार फीरोज तुगलक के समय मे उनकी संख्या 36 थी जिनको रातिबी (निश्चित वेतन वाले) व गैर रातिबी (अनिश्चित वेतन वाले) भागों में वर्गीकृत किया गया था। ऐसे कारखाने जो बिगड़ने वाली अथवा विकारी (Perishable) वस्तुओं से सम्बन्धित थे रातिबी कहलाते थे तथा वे कारखाने जो कपड़ा, ड्रेस, खेमें, फर्नीचर आदि से सम्बन्धित थे गैर-रातिबी कहलाते थे।

अफीफ ने फिरोज तुगलक के कारखानों का वर्णन करते हुए लिखा है कि प्रत्येक वर्ष प्रत्येक कारखाने में अपार धन व्यय किया जाता था। 36 कारखानों में कुछ रातिबी थे और कुछ गैर-रातिबी। पीलखाना (गजशाला), पायगाह (अश्वशाला), शुतरखाना (ऊंटखाना), संगखाना (कुत्ताखाना), आबदारखाना (जल के प्रबन्ध करने वाला) तथा इस प्रकार के अन्य कारखाने रातिबी थे। सुल्तान फीरोजशाह के राज्यकाल में प्रतिदिन इन रातिबी कारखानों पर अपार धन व्यय होता था। रातिबी कारखानों का व्यय (माल अस्बाब), हाशिए (निम्न वर्ग के कर्मचारी) तथा अन्य लोगों के अतिरिक्त 1,6,000 चाँदी के टंक मासिक

था। गैर-रातिबी कारखानों में जैसे जामदार खाना (वस्त्रों से सम्बन्धित विभाग), अलमखाना (पताकाओं का विभाग), फर्राशखाना (फर्श आदि का विभाग), रकाबखाना (घोड़ों के जीवन आदि से सम्बन्धित विभाग) तथा इसी प्रकार के अन्य कारखानों में प्रत्येक वर्ष नये सामान की तैयारी का आदेश रहता था।

"ठण्ड के दिनों में पोशाकखाने में 6 लाख टंक खर्च होते थे। गर्मी और बसन्त ऋत का खर्च अलग था। अल्मखाने पर 80 हजार टंक खर्च किये जाते थे। इसके अतिरिक्त इस विभाग में काम करने वाले तथा कारकूनों का वेतन अलग से था। फर्राशखाने पर दो लाख टंक खर्च किये जाते थे। .....पोशाक के अफसर मलिक अली और मलिक ईशाक थे।..... जिन विविध कारखानों को मासिक वेतन मिलता था, उनमें बहुत से कारकून थे जिन्हें प्रति मास नियमानुसार वेतन मिलता था। शाही तबेले 5 अलग-अलग स्थानों पर थे। इनके अतिरिक्त हजारों घोड़े दिल्ली के समीप चरा करते थे और वे 'सीह पंज' कहलाते थे। ऊंटखाना इससे प थक था और दबलाहन जिले में स्थित था। वहाँ ऊंटों के रेवाड़ियों के लिए गाँव दिये हुए थे। इनकी संख्या प्रतिवर्ष बढ़ती जाती थी, क्योंकि जब बड़े-बड़े सरदार दरबार में जाते थे तो वे अपने साथ विविध प्रकार के ऊंट, भेंट-स्वरूप लाया करते थे।"

प्रत्येक कारखाने को एक विशिष्ट अमीर के अधीन रखा गया था जो मलिक अथवा खान की श्रेणी का हुआ करता था। प्रत्येक कारखाने का एक मुतसरिफ (अकाउन्टेन्ट) हुआ करता था, जो वरिष्ठ अधिकारियों को हिसाब आदि भेजता था। अन्तिम रूप में समस्त करखानों का हिसाब, दीवन-ए-वजारत में लिपिबद्ध किया जाता था। फीरोज के समय में ख्वाजा अबुल हसन खां कारखानों का अधीक्षक था। उसके द्वारा ही विभिन्न कारखानों को आदेश दिये जाते थे।

फीरोज के शासन में जागीर के हिसाब की जाँच की जाती थी। जब कोई जागीरदार अपनी जागीर से दरबार में आता था तो उसका हिसाब लेखा-विभाग में उपस्थित किया जाता था। वहाँ उसकी जाँच की जाती थी और जाँच के परिणाम से सुल्तान को सूचित किया जाता था। जो भी बाकी निकलता उससे उसके विषय में पूछताछ की जाती थी। इसके पश्चात् उसे तुरन्त अपनी जागीर में लौटने का आदेश दे दिया जाता था। कारखानों के प्रबन्धक (मोहर्रिर) प्रतिवर्ष के अन्त में लेखा विभाग से उपस्थिति होते थे और अपने-अपने विभाग का गोशेवार विवरण देते थे जिनमें बकाया रोशन और माल बताया जाता था।

अमीर-ए-हाजिब: वकील-ए-दर क बाद परन्तु उसी श्रेणी का दूसरा अधिकारी अमीर-ए-हाजिब होता था जिसे अमीर-ए-हाजिब-ए-बारबक भी कहा जाता था। बारबक विधि-नायक अथवा दरबारी औपचारिकता को लागू करता था। वह अमीरों और अधिकारियों को उनकी श्रेणी के अनुसार क्रमबद्ध अथवा व्यवस्थित रखता तथा दरबारी उत्सवों की प्रतिष्ठा को अक्षुण रखता था। वह सुल्तान और निम्न श्रेणी के पदाधिकारियों तथा जनता के मध्य मध्यस्थ का काम भी करता था। उसके सहायक, हाजिब, सुल्तान तथा जनसाधारण के बीच खड़े रहते थे तथा प्रत्येक व्यक्ति हाजिब के माध्यम से ही सुल्तान से भेंट कर सकता था। जब तक वे सुल्तान से उसका परिचय न करा दें तब तक कोई भी सुल्तान से मिलने में असमर्थ था। सुल्तान की आज्ञाओं को प्रार्थियों अथवा अधिकारियों तक पहुँचाने का काम भी इसी विभाग के अन्तर्गत था। सुल्तान के सम्मुख समस्त प्रार्थना-पत्र इसी विभाग के माध्यय से प्रस्तुत किये जाते थे, क्योंकि अमीर-ए-हाजिब का पद अत्याधिक सम्मानित था, इसलिए यह केवल किसी शहजादे अथवा सुल्तान के अनन्य विश्वासपात्र अमीर के लिये सुरक्षित रखा जाता था, यहाँ तक कि नायब बारबक के पद पर भी सुल्तान के किसी सम्बन्धी अथवा मित्र को ही नियुक्त किया जाता था। उसका ये प्रमुख उत्तरदायित्व था कि प्रमुख दरबारी समारोहों अथवा उत्सवों की व्यवस्था करें। कभी-कभी सुल्तान की अनुपस्थिति में नाइब बारबक किसी अमीर के साथ राजधानी में सुल्तान के नायब के रूप में कार्य करता था। सदैव ही एक अथवा दो हाजिब सुल्तान की उपस्थिति में रहते थे। यहाँ तक कि जब वह अकेला हो अथवा अमीरों से विचार-विनिमय कर रहा होता तब भी एक या दो हाजिब उसकी सेवा में प्रस्तुत रहते थे। **कुरेशी** के अनुसार सम्भवतः इनको खास हाजिब की संज्ञा से सम्बोधित किया जाता था। कुछ प्रमुख हाजिबों को सैयद-उल-हुज्जाब आदि की उपाधि से विभूषित किया जाता था। हाजिब मुख्य रूप से प्रशिक्षित सैनिक होते थे और अक्सर उनको सैनिक अभियानों के नेत त्व के लिये नियुक्त किया जाता था। जब सुल्तान स्वयं किसी अभियान का नेत त्व करता था तो हाजिब उसके सेक्रेटरी के रूप में कार्य करता था। प्रमुख हाजिबों को सुल्तान युद्ध-समितियों में निमन्त्रित करता तथा, उनकी सलाह को महत्व देता था। किसी एक हाजिब को सुल्तान को प्राप्त भेंटों की सूची बनाने का कार्य सौंपा जाता था।

नकीब: दरबारी समारोहों में नकीब नामक एक निम्न अधिकारी भी हुआ करता था। वे राजकीय शोभायात्रा (जुलूस) के आगे-आगे चलते थे और जोर-जोर से सुल्तान की उपस्थिति की घोषणा किया करते थे। इनका प्रमुख 'नकीब-उल-नकबा' कहलाता था। वह दरबार के मुख्य-द्वार पर एक ऊँचे चबूतरे पर बैठता था, और प्रत्येक नव-आगन्तुक की छान-बीन करता था।

सरजांदार: सरजांदार भी एक महत्वपूर्ण अधिकारी था जो सुल्तान के अंगरक्षकों का प्रमुख था। उसके सहायक के रूप में अनेकों जांदार हुआ करते थे। ये अपने पौरूष पराक्रम, बल तथा प्रभावपूर्ण डील-डौल के आधार पर चुने जाते थे। वे निश्चित ही कुशल सैनिक हुआ करते थे और जब कभी भी सुल्तान जनसाधारण के सम्मुख आता था तो वे उसके साथ उपस्थित रहते थे। सुल्तान साधारणतया दो सरजांदार रखते थे, एक दायें तथा दूसरा बायें पक्ष के लिये और इन्हें क्रमशः 'सरजांदार-ए-मेमन' व 'सरजांदार-ए-मेसर' कहा करते थे। बलबन ने सिस्तानी सैनिकों को सरजांदार के पद पर नियुक्त किया था और उन्हें 61 से 70 हजार जीतल प्रतिवर्ष वेतन के रूप में देता था। वे सुल्तान के साथ नंगी, चमचमाती तलवारों को लिये उपस्थित रहते थे जो न केवल सुल्तान के वैभव को बढ़ाते थे। अपितु उस पर अचानक आक्रमणों से उसकी रक्षा भी करते थे। जांदार साधारणतया परिक्षित स्वामीभक्त दास हुआ करते थे।

बरीद-ए-मुमालिक: बरीद-ए-मुमालिक नामक अधिकारी सुल्तान के गुप्तचर विभाग का प्रधान अधिकारी होता था। उसके अधीन वाकीया-नवीस, खबर नवीस व वाकिया निगार नामक सहायक अधिकारी हुआ करते थे। ये बरीद के माध्यम से सुल्तान को सभी सूचनाओं और घटनाओं की जानकारी देते थे। राज्य के प्रत्येक केन्द्र में एक स्थानीय बरीद की नियुक्ति की जाती थी जो केन्द्र को हर घटना की जानकारी पहुँचाता था। क्योंकि उन दिनों में केन्द्रीय सत्ता के विरूद्ध दूरस्थ इलाकों के अधिकारियों द्वारा षड़यंत्र करने की सम्भावना अधिक बनी रहती थी और आवागमन के साधन अत्यन्त सीमित और धीमी-गति के थे, ऐसी स्थिति मे बरीदों की भूमिका को सहज ही में आंका जा सकता है। यदि बरीद किसी अधिकारी की अप्रिय घटना की सूचना देने में असफल रहता तो दण्ड के रूप में उसे अपने जीवन से इसका मूल्य चुकाना पड़ता था। सुल्तान बलबन इन बरीदों द्वारा भेजी गई सूचनाओं का आदर करता था और दोषी अधिकारियों के विरूद्ध सतर्क रहता था। बलबन ने अपने पुत्रों तक के लिये बरीदों की नियुक्ति की थी। यदि **बरनी** के कथन की स्वीकार किया जावे तो अमीर लोग इस विभाग से इतने अधिक आतंकित थे कि वे केवल इशारों में ही बात करते थे। यह यद्यपि अजिरंजित भी हो परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि यह विभाग अत्याधिक सक्रिय था और सल्तनत युग में इसका महत्व अधिक था। ईमानदार तथा चरित्रवान व्यक्तियों को ही एक विभाग में नियुक्त किया जाता था। कभी-कभी विद्वानों को भी राजहित में उनकी इच्छा के विरूद्ध इस पद को स्वीकार करना पड़ता था।

ये समस्त पद यद्यपि मन्त्रियों की तुलना में गौण थे, परन्तु इनमें से प्रत्येक सुल्तान की व्यक्तिगत सुरक्षा, सम्मान अथवा उसके शासन से सम्बन्धित था। इसलिये ये सुल्तान के निकट सम्पर्क में आते थे। उसके विश्वासपात्र होने के कारण ये कभी-कभी मन्त्रियों से भी अधिक महत्त्व प्राप्त कर लिया करते थे।

दीवान-ए-बन्दगान: फीरोज तुगलक के समय में क्योंकि दासों की संख्या अत्याधिक थी, इसलिए उनकी व्यवस्था करने हेतु एक प थक विभाग खोला गया था। इसका अध्यक्ष अशहब-ए-दीवान-ए-बन्दगान कहलाता था। (अ) दास आरम्भ से ही घरेलू प्रबन्ध के एक अभिन्न अंग थे और शासन चलाने में इनका महत्वपूर्ण योगदान था। प्रत्येक दास को निम्नतम श्रेणी से उठकर अपनी बुद्धि और योग्यता के आधार पर संघर्ष कर अपने लिये उचित स्थान बनाना पड़ता था। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत उन्हें अनेक अनुभव प्राप्त होते थे। दासों के साथ क्योंकि उचित व सम्मानपूर्ण व्यवहार किया जाता था, इसलिये प्रत्येक व्यक्ति किसी सम्मानित अमीर का दास होने में गर्व अनुभव करता था। इसके अतिरिक्त दास तथा स्वामी के मध्य एक व्यक्तिगत बाण्ड था जिसको परिपाटियों ने पवित्रता प्रदान की थी, इसलिये दासों को रखना मुस्लिम इतिहास में अब्बासिद खलीफाओं के समय से ही न्यायोचित माना जाता रहा है।

अलाउद्दीन खिलजी की सफलता का एक कारण उसके पास लगभग 50 हजार दासों का होना था जिनको उसने शासन के प्रत्येक भाग में नियुक्त कर तथा सैनिक प्रशिक्षण देकर एक संगठन का रूप दे दिया था फीरोज के समय में दासों की संख्या 1,80,000 तक पहुँच गई थी। फीरोज ने अपने सेनाधिकारियों को आदेश दे रखा था कि वे युद्ध-बन्दियों के रूप में अधिक से अधिक बन्दी बना कर तथा उनको प्रशिक्षित कर उसे प्रस्तुत करें।

फीरोज ने इनको विभिन्न कार्यों में लगा रखा था। व्यक्तिगत संरक्षक के रूप में इनकी काफी संख्या में खपत हो जाती थी। घरेलू प्रबन्ध अथवा प्रशासन का कोई ऐसा विभाग नहीं था, जिसमें दास न हो। (ब) इक्ताओं तथा राजधानी में भी इनकी संख्या कम न थी। अफीफ लिखता है, "जब सुल्तान फीरोजशाह किसी ओर जाता था तो धनुधोरी दास प थक समूह बनाकर आगे-आगे चलते थे। हजार-हजार तलवार चलाने वाले, दास, बन्देगान आवर्द (युद्ध करने वाले दास) बाहुली (शिकार खेलने वाले दास) भैसों पर सवार होकर कुछ बन्दगाने हजारा तुर्की तथा अरबी घोड़ों पर सवार परिजनों सहित हजारों की संख्या में प थक-प थक बादशाह के पीछे चलते थे। (स) परन्तु इसके बाद भी शासन इनको खपाने में असमर्थ रहा और इसलिये फीरोज ने इनको विभिन्न संस्थाओं में साधारण व धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने के लिये भेज दिया। अफीफ ने फिर लिखा है, 'कुछ दास कुरान आदि धार्मिक पुस्तकों को कण्ठस्थ करने, अथवा धार्मिक अध्ययन करने अथवा पुस्तकों की प्रतिलिपि बनाने में लगे रहते थे। लगभग 12,000 दासों को विभिन्न शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी। कुछ दासों को मक्का भेज दिया गया था। जिससे वे वहाँ मनन, प्रार्थना आदि में अपना जीवन व्यतीत करें।

दासों को खाना और कपड़े के अतिरिक्त वेतन रूप में 20 से 125 टंक नकद दिया जाता था। **प्रो० कुरेशी** का मत है कि मुहम्मद तुगलक के निष्ठुर और अप्रिय व्यवहार के कारण सल्तनत में जो चारों और विद्रोहों ने अपना सर उठा रखा था, फिरोज इन्हीं दासों की सहायता से उनको शान्त करने में सफल हुआ। परन्तु **कुरेशी** का यह मत अधिक तर्क संगत नहीं है। फिरोज की दास-प्रथा ने उसके दुर्बल उत्तराधिकारियों के विनाश को निकट ला दिया।

प्रान्तीय शासनः दिल्ली सल्तनत अपने स्थापना काल के आरम्भिक वर्षों में मुख्य रूप से विस्तार और सुरक्षा की जटिल समस्याओं मे उलझी रही। साम्राज्य के विस्तार के साथ ही ब हद साम्राज्य पर केन्द्र द्वारा सीधा नियन्त्रण अव्यवहारिक था विशेषकर मध्यकाल में जबकि शक्ति ही शासन का आधार था तथा द्रुतगाति के आवागमन के साधनों का अभाव था इसके अतिरिक्त नवस्थापित तुर्की राज्य की मानव शक्ति अत्यधिक सीमित थी और इसलिए समस्त साम्राज्य के विभिन्न भागों में एकरूप प्रशासन को लागू करना सम्भव ही नहीं था। समस्या के निराकरण हेतु केवल यही विकल्प सुल्तानों के सम्मुख था कि राज्य को छोटी-छोटी इकाइयों में विभाजित कर दिया जाए।

इन परिस्थितियों में तुर्कों ने अब्बासी खलीफाओं की संस्थाओं को अपनाकर राज्य को विभिन्न भागों में बाँट दिया। साम्राज्य के अन्तर्गत विभिन्न प्रान्तों के प्रमुख को **अमीर** अथवा **वली** कहा जाता था। वे योग्यता तथा शासकों की शक्ति के अनुपात में अधिकारों का उपयोग करते थे। स्वाभाविक है कि दूरस्थ प्रान्त के अधिकारी अधिक अधिकारों का उपयोग करते थे और साधारण रूप से उनका व्यवहार अर्ध-स्वतन्त्र शासक के समान होता था। अधिकारों के उपयोग की इस विभिन्नता को ध्यान में रखकर ही विधि शास्त्रियों ने गवर्नरों को दो भागों में विभाजित किया है। प्रथम इमारत-ए-खास अर्थात् असीमित अधिकार वाले व द्वित्तीय इमारत-ए-आम अर्थात् सीमित अधिकार वाले गवर्नर।

असीमित अधिकार वाले गवर्नरों का कार्यक्षेत्र इस प्रकार थाः

1. प्रान्त के सैनिक काम-काज के प्रति उत्तरदायी थे।
2. काजियों को मनोनीत करना।
3. हाजियों के लिए मक्का की यात्रा के लिए व्यवस्था करना।
4. शुक्रवार की व ईद की सार्वजनिक नमाजों का नेत त्व करना।
5. काफिरों के विरूद्ध जिहाद करना।
6. लूट की सम्पत्ति में से सरकारी भाग निकाल कर शेष सैनिकों में वितरित करना।
7. सार्वजनिक सुरक्षा का प्रबन्ध करना।
8. करों व चुर्गी को लगाना व वसूलने की व्यवस्था करना।
9. शान्ति व्यवस्था तथा सार्वजनिक सदाचार को बनाए रखने के लिए पुलिस की व्यवस्था करना।

इस प्रकार इन गवर्नरों के अधिकारों की विवेचना से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे सर्वशक्तिशाली थे। सीमित अधि ाकार वाले गवर्नर इतने विस्त त अधिकारों का उपभोग नहीं करते थे। उन्हें केवल सैनिकों की देखरेख करना, विद्रोहियों तथा

अपराधियों को दण्डित करना तथा ग ह सुरक्षा के अधिकार प्राप्त थे। उन्हें न्याय प्रबन्ध में हस्तक्षेप करने अथवा करों की उगाही का अधिकार न था। फौजदारी मामलों में भी उनके अधिकार अति सीमित थे। अपील सम्बन्धी मामलों में वह केवल उसी समय हस्तक्षेप कर सकते थे जब किसी प्रकार की घोषणा कर दी गई हो।

इन दो श्रेणियों के गवर्नरों के अतिरिक्त विधि शास्त्रियों न एक तीसरे प्रकार के गवर्नर **इमारत-ए-इस्तिला** अर्थात् वे गवर्नर जिन्होंने यह पद अनाधिकार रूप में प्राप्त कर लिया है, की भी विवेचना की है। अपने अनाधिकार को वैध स्वीकार करने हेतु उन्हें निम्न शर्तों को पूर्ण करने की प्रतिज्ञा लेनी पड़ती थीः

1. समस्त मुस्लिम सम्प्रदाय के धार्मिक नेता के रूप में खलीफा के सम्मान और वैभव को सुरक्षित रखना।
2. सार्वजनिक रूप में खलीफा के प्रति समर्पण प्रदर्शित करना।
3. इस्लाम के मामलों में सहायता करना।
4. धार्मिक पदों पर नियुक्त काजी व इमाम का सम्मान करना।
5. धार्मिक कानूनों के अन्तर्गत लगाए गए करों की न्यायोचित व निष्पक्षता की जाँच करना।
6. सर्वसाधारण को सच्चे धर्म के प्रति निष्ठा तथा वर्जित चीजों से दूर रखना।

इस प्रकार विधिशास्त्रियों ने गवर्नर की समस्त कार्यवाहियों के लिए कुछ कानूनी प्रतिबन्ध लगा रखे थे। परन्तु वास्तविक रूप में ये वर्गीकरण केवल सैद्धान्तिक था क्योंकि गवर्नरों के अधिकार उनकी व्यक्तिगत योग्यता, खलीफा की शक्तिहीनता अथवा प्रान्तों की केन्द्र से दूरी के आधार पर घट-बढ़ जाते थे।

सल्तनत काल में तीनों ही प्रकार के गवर्नर विद्यमान थे। लखनौती अपनी दूरी के कारण अधिक समय तक एक स्वतंत्र गर्वनर के समरूप अधिकारी के हाथ में ही रहा। बलबन ने तुगरिल खाँ के विद्रोह को दबाने के बाद भी बंगाल को प्रत्यक्ष रूप से अपने अधिकार क्षेत्र में नहीं लिया और अपने पुत्र बुगरा खां को एक अर्ध स्वतंत्र गवर्नर के रूप में नियुक्त कर ही संतुष्ट रहा। अलादद्दीन ने दक्षिण राज्यों से वार्षिक कर प्राप्त करके ही संतोष किया और उन्हें आन्तरिक शासन में स्वतंत्र छोड़ दिया। उसने बंगाल के कैकाउस द्वारा उसके अधिराज्य की स्वीकृति पर सन्तोष कर तीसरे वर्ग के गवर्नरों के पद को मान्यता दी।

इस प्रकार सल्तनत काल में प्रशासकीय प्रयोजन के लिए विभिन्न तीन प्रकार के प्रदेश थे-

1. पूर्वी पंजाब तथा दोआब,
2. गुजरात, मालवा, बिहार व बंगाल,
3. करद राज्य जो नाम-मात्र के लिए सुल्तान के आधिपत्य को मानते थे।

तीन प्रकार के प्रदेशों ने निम्न तीन ही प्रकार के प्रान्तों को जन्म दिया।

1. प्रान्त जो छोटे थे तथा जिन पर सुल्तानों का निरीक्षण व नियंत्रण अधिक था। इन तथाकथित प्रान्तों के गवर्नरों को **वली** अथवा मुक्ति कहते थे तथा वे **इमारत-ए-आम** के अधिकारों का उपभोग करते थे।
2. दूसरी क्षेणी में वे प्रान्त थे जो केन्द्र से दूर स्थित थे और इसलिए सुल्तानों के व्यक्तिगत निरीक्षण से मुक्त थे। इनके गवर्नरों को **वली** व **नायब** कहते थे। ये **इमारत-ए-खास** के अधिकारों का उपयोग करते थे। कभी-कभी दूरस्थ प्रदेशों में कोई शक्ति सम्पन्न अमीर अथवा विद्रोही कभी गवर्नर के पद को हथिया लेते थे। ऐसे गवर्नर अपहरणकर्ता की श्रेणी में आते थे और क्योंकि सुल्तान के पास इनको गवर्नर स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था, इसलिए वह इन्हें अपनी स्वीकृति दे देता था।
3. तीसरी श्रेणी में स्वायत्त राज्य थे जो सुल्तान को वार्षिक कर चुकाते थे।

दूसरी श्रेणी के प्रदेश वास्तविक रूप में राज्य के अन्तर्गत राज्य थे। बंगाल, दक्षिण व गुजरात इसी में थे। अलाउद्दीन के राज्यकाल में बंगाल एक ऐसा दण्डात्मक प्रदेश माना जाता था जहाँ ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति की जाती थी जिनको उनकी लोकप्रियता के आधार पर केन्द्र के निकट रखना खतरनाक था। अलाउद्दीन ने जफरखाँ को इसी आधार पर बंगाल भेजा था। कभी-कभी बंगाल के गवर्नर सुल्तान की उपाधि भी धारण कर लिया करते थे अथवा वे अर्ध-स्वतंत्र शासक के रूप में रहते थे जैसा कि

बलबन के समय में बुगरा खाँ के उदाहरण से स्पष्ट है। बंगाल के शासन को व्यवस्थित करने के लिए इसे मुहम्मद तुगलक ने निम्न तीन भागों में बाँटा था।

1. सतगाँव 2. सोनारगाँव 3. लखनौती

लखनौती में वायसराय समान अधिकारी था जो तीनों में श्रेष्ठ माना जाता था। दक्षिण के राज्य अलाउद्दीन खिल्जी के समय में स्वायत्त राज्य थे परन्तु मुहम्मद तुगलक के समय में दक्षिण के प्रदेशों को चार भागों में विभाजित कर दिया था और इन चारों भागों- देवगिरी, माबार, तेलगांना व द्वारसमुद्र- के लिए सुरूर-उल-मुल्क, मरबलिस-उल-मुल्क, युसूफ धारा बहर व अजीज कंवर को नियुक्त किया गया था, देवगिरी को मुख्यालय बनाकर इसे एक वजीर के अन्तर्गत रखा गया, जिसकी सहायता के लिए एक नायब-वजीर नियुक्त किया था। इमादुल मुल्क सुल्तानी को वजीर व घराबहर को नायब वजीर बनाया गया। देगगिरी का वजीर चारों प्रदेशों के गवर्नरों में श्रेष्ठ था तथा लखनौती के समान ही वह वायसराय के समरूप था।

सल्तनत काल में छोटे प्रदेशों की ही संख्या अधिक थी जिस पर सुल्तान का पूर्ण प्रभुत्व था। 13वीं शताब्दी में दोआब के प्रदेश को मेरठ, बारां व केरल नामक प्रान्तों में विभाजित किया गया था परन्तु अलाउद्दीन ने इनको दिल्ली के समरूप ही मानकर केन्द्र के राजस्व-विभाग के अन्तर्गत रख लिया। इनके पश्चात कन्नौज और कडा थे। गंगा के पार अमरोहा तथा सम्भल थे। बदायूँ के पूर्व में अवध और अवध के दक्षिण-पूर्व में जोनपुर था। इनके अतिरिक्त गोरखपुर, तिरहुत थे जिनमें अन्तिम प्रदेश बंगाल था। दिल्ली के पश्चिम में सरहिन्द, समाना, हाँसी, और लाहौर, दीपालपुर व मुल्तान के प्रदेश थे। ये तीन अन्तिम प्रदेश सीमाओं पर थे और इनको केवल अनुभवी और सैनिक प्रतिभा वाले मालिकों के अधीन ही रखा जाता था। गुजरात और मालवा के प्रदेशों को अधिकतर इमारत-ए-खास के अधीन रखा जाता था। इन प्रान्तों की सीमाओं का कोई निश्चित विवरण नहीं था इसलिए दो प्रान्तों से लगी सीमाओं के गाँव की उचित व्यवस्था नहीं हो पाती थी।

समकालीन इतिहासकारों ने कहीं पर भी प्रान्त शब्द का प्रयोग नहीं किया है। उन्होंने "इक्ता" व "विलायत" शब्दों के द्वारा ही राज्य के विभाजन को दर्शाया है। **हबीबुल्ला का मत है** कि इक्ता का शाब्दिक अर्थ एक भाग अथवा अंश है जिसमें कोई प्रतीयमानतः (Seemingly) तकनीकी अर्थ निहित है और उसी के स्पष्टीकरण के आधार पर स्थानीय शासन का स्वरूप निश्चित करना सम्भव हो सकेगा।

राज्य के विभाजन के रूप में इक्ता शब्द का प्रयोग सम्भवतः मध्य एशिया में प्रचलित था जिसको कि तुर्कों ने अपना लिया था। **रेवर्टी** ने "जागीर" के रूप में इस शब्द का प्रयोग किया है। यह उचित नहीं हैं क्योंकि जागीरदार अपनी जागीर का अप्रत्यक्ष रूप से शासक होता था जबकि इक्ता में सुल्तान का प्रभावपूर्ण अधिकार रहता था। **कुरेशी** का कथन है कि, "मुक्ति" (इक्ता का अधिकारी) शब्द का प्रयोग किसी भी गवर्नर के लिए किया जाता था परन्तु वली शब्द केवल असाधारण शक्ति-युक्त गवर्नरों के लिए सुरक्षित था। ऐसे गवर्नरों की संख्या अत्याधिक सीमित थी क्योंकि सल्तनत काल में अधिकतर इक्ताओं का प्रबन्ध सीमित अधिकार वाले गवर्नरों के द्वारा ही किया जाता था।

प्रान्तीय अधिकारियों के कर्त्तव्य

सल्तनत काल में गवर्नर (मुक्ति) मौलिक रूप में परिक्षित सैनिक पटुता वाला व्यक्ति ही होता था तथा वह अपने प्रान्त के प्रशासन के लिए केन्द्रीय सरकार के प्रति उत्तरदायी था। प्रान्त के लोग गवर्नर के अत्याचारी व्यवहार के विरुद्ध सुल्तान से अपील कर सकते थे जो कि उसकी दुष्टता पर सबसे प्रभावशाली अंकुश था। सुल्तान गवर्नर को वापिस बुला सकता था। इस प्रकार से बुलाया जाना असम्मानजनक समझा जाता था और सुल्तान को शक्ति के आधार पर ही अपने इन आदेशों का पालन करवाना पड़ता था।

गवर्नर (मुक्ति) साधारणतया अपने इक्ता में ही रहता था परन्तु राजधानी के निकट के इक्ताओं में अनुपस्थित-मुक्तियों के अनेकों उदाहरण हैं। ऐसे इक्ताओं में नाइबों के द्वारा प्रशासन चलाया जाता था जो कि कभी-कभी केन्द्रीय सरकार के द्वारा नियुक्त किये जाते थे। जैसे इल्तुतमिश ने कन्नौज के नाइब को नियुक्त किया था। हिन्दू खाँ अपने नाइब के द्वारा ही उच्छ के शासन की व्यवस्था करता था। बलबन जब अमीर-ए-हाजिब अथवा बाद में नाइब-ए-ममालिकत बन गया तो उसकी उपस्थित केन्द्र में स्वाभाविक थी और ऐसी स्थिति में उसके हाँसी और सिवालिक के इक्ताओं का प्रबन्ध नाइब के द्वारा ही किया जाता था।

1253 ई. में उसकी बरखास्तगी पर महमूद के अल्पायु पुत्र को हाँसी का मुक्ति नियुक्त किया गया। ऐसी स्थिति में प्रशासन को चलाने के लिए किसी नाइब की अवश्य ही नियुक्ति की गई होगी।

बड़े क्षेत्रफल के इक्ताओं में स्वयं मुक्ति महत्वपूर्ण नगरों व सीमा-चौकियों पर नाइबों की नियुक्ति करता था। हिसामुद्दीन एवाज द्वारा बंगाल में गनगूरी की व्यवस्था करना इसकी पुष्टि करता है। मुक्ति को अपने अधीन अधिकारियों को भूमि देने का अधिकार था जैसा कि अवध के मुक्ति ने बख्तियार को एक सैनिक इक्ता प्रदान किया था। सुल्तान की तरह ही मुक्ति माफी की भूमि भी दे सकता था। मिनहाज-उस-सिराज को बलबन द्वारा इतने गाँव प्रदान किये गये थे जिनसे 30,000 जीतल की आय थी।

यद्यपि मुक्ति के वेतन अथवा पारिश्रमिक का कोई विवरण नहीं मिलता है। परन्तु इतना अवश्य निश्चित है कि उसे राजस्व का कोई भाग मिलता रहा होगा। सल्तनत काल में अनेकों उदाहरण मिलते हैं जब मुक्ति ने निकट के हिन्दू प्रदेशों को जीत कर अपने इक्ता को बढ़ाने का प्रयास किया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने निकट-स्थित इक्ताओं को विजित कर अथवा उनकी भूमि को अपने में मिला कर अपनी आमदनी को बढ़ाने का प्रयास किया था। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि मुक्ति का वेतन कुल राजस्व पर ही निर्भर था। गयासुद्दीन तुगलक ने ये आदेश दिये थे कि कोई मलिक अथवा अमीर अपने पद के अनुलाभ के अतिरिक्त इक्ता अथवा विलायत के 1/10 या 1/15 आदि भाग को हथिया लेता है तो उसे इस आधार पर दण्डित नहीं किया जाये। इसी प्रकार मुहम्मद तुगलक के गवर्नर भी राजस्व का 1/20 भाग कमीशन के रूप में प्राप्त करते थे। इनसे यह स्पष्ट है कि मुक्ति का वेतन प्राप्त राजस्व के प्रतिशत के रूप में ही दिया जाता था।

मुक्ति के उत्तरदायित्वों के सम्बन्ध में हमें कुतुबुद्दीन ऐबक के द्वारा दिये गये निर्देश उपलब्ध हैं जो सूक्ष्म रूप में इस प्रकार हैं-

1. कानूनों, परिपाटियों, नियमों तथा कानूनों को प्रवर्तित तथा सुरक्षित करे,
2. उलेमाओं, योद्धाओं तथा प्रशासनिक अधिकारियों की देखभाल करे,
3. जनता के करों में कमी करे तथा सम्पन्नता के साधनों को प्रोत्साहित कर सर्वसाधारण में सामंजस्य की भावना बढ़ाए,
4. कृषि-क्षेत्र में व द्धि कर उपज को बढ़ाए,
5. न्याय को स्थापित करे तथा कमजोरों को बलवानों की दुष्टता तथा लोभ से बचाये,
6. न्यायालयों के निर्णयों को लागू करवाये,
7. म त्यु-दण्ड देने से दूर रहे तथा
8. जनपथों की सुरक्षा करे, व्यापार को प्रोत्साहन दे तथा व्यापारियों को सुरक्षा प्रदान करे।

सल्तनत काल के आरम्भ में भी मुक्ति केवल सैनिक और राजस्व का विभाग ही उसके अधीन थे। धार्मिक अथवा न्यायिक मामलों में उसको किसी प्रकार के अधिकार प्राप्त न थे। ये विभाग केन्द्र के निरीक्षण में ही कार्य करते थे। मोटे रूप से उत्तरकालीन सुल्तानों के समय में भी यही अधिकार बने रहे और आवागमन की बढ़ती हुई सुविधाओं से केन्द्र का उन पर प्रभाव और अधिक प्रभावशाली हो गया। इस सन्दर्भ में फतल खाँ का सिन्ध को गवर्नर नियुक्त करते समय फीरोज तुगलक ने निम्न निर्देश दिये थे जो इसकी पुष्टि करते हैं-

1. वह प्रमुख कार्यकारी के रूप में कार्य करे;
2. सर्वसाधारण तथा उनके स्वार्थों की रक्षा करे;
3. विद्वान व धार्मिक जनों की सहायता करे;
4. सैनिकों को प्रफुल्ल तथा सन्तुष्ट रखे;
5. सार्वजनिक अधिकारियों के काम की देखभाल करे; तथा
6. किसानों को अनुचित माँग से मुक्त रखे तथा क्रूरता से उनकी रक्षा करे।

मुक्तियों की इस अधिकार सूची अथवा उत्तरदायित्वों से ऐसा अनुभव होता है कि उनके अधिकार असीमित थे परन्तु यह केवल सैद्धान्तिक था। उनके अधिकारों पर अनेक प्रकार के अंकुश लगे हुए थे। सैनिक अधिकारों के क्षेत्र में प्रान्तीय आरिद, जो कि सेना की भर्ती और निरीक्षण के लिए उत्तरदायी था, की उपस्थिति प्रभावपूर्ण थी। वे आरिद-ए-मुमालिक के अधीन थे तथा उन्हें नियमित रूप से मुख्यालय को रिपोर्ट भेजनी पड़ती थी। अलाउद्दीन ने दाग और हुलिया की प्रथा लागू कर तथा माफी की जमीन देने की व्यवस्था को हतोत्साहित कर मुक्तियों के अधिकारों को और अधिक सीमित कर दिया था। सैनिकों के वेतन नकद में भुगतान के कारण भी राज्य का सेना पर नियंत्रण बढ़ गया था। जैसे-जैसे विद्रोही तत्वों में कमी आने लगी वैसे ही वैसे सैनिक गवर्नरों की अपेक्षा प्रशासनिक गवर्नरों का महत्व बढ़ने लगा। अलाउद्दीन के समय तक प्रशासनिक अधिकारी इतने शक्तिशाली थे कि वे उसके उग्र सुधारों को भी लागू करने में समर्थ थे। इसी प्रकार राजस्व अधिकारी यद्यपि मुक्ति के अधीन थे परन्तु दीवान-ए-वजारत उनके कार्यों का निरीक्षण करता था जिसको वे नियमित रूप से आय और व्यय का हिसाब भेजते थे। यदि मुक्ति वजीर के दफ्तर को सन्तुष्ट करने में असमर्थ रहता तो उसके साथ भद्र व्यवहार किया जाता था जब तक की वह गबन की हुई राशि का भुगतान न कर दे। मुहम्मद तुगलक ने इसके लिए दीवान-ए-मुस्तखरिज नामक अधिकारी की नियुक्ति की थी।

समकालीन लेखकों के विवरण से यह स्पष्ट नहीं है कि मुक्ति, इक्ता की आय से शासन तथा सैनिक व्यय निकाल कर अतिरिक्त धन केन्द्रीय कोष में जमा करता था अथवा नहीं। परन्तु सल्तनत काल में कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे यह आभास होता है कि वह अतिरिक्त धन को केन्द्रीय कोष में भेजता था। लाहौर और मुल्तान के मुक्ति को मुइजुद्दीन ने 1204 ई. में आदेश भेजे थे कि वे अपने राजस्व का बकाया जमा करे। इसी प्रकार से बलबन का शाहजादा मुहम्मद (जो सिन्ध का वायसराय था) प्रति वर्ष अपने पिता के पास स्वयं राजस्व लाता था। अलाउद्दीन खिल्जी ने भी जलालुद्दीन से अवध और कडा की अतिरिक्त आय से चन्देरी पर आक्रमण करने हेतु घोड़ों और नये सैनिकों को भर्ती करने की आज्ञा माँगी थी।

प्रान्तीय मुख्यालय के अधिकारी

प्रान्तों की वित्तीय-व्यवस्था का उत्तरदायित्व साहिब-ए-दीवान नामक अधिकारी के हाथ में था। उसे सुल्तान, वजीर की सिफारिश पर नियुक्त करता था। यद्यपि मुगल कालीन प्रान्तीय दीवान से उसकी तुलना नहीं की जा सकती है परन्तु उसके कर्त्तव्य उससे अधिक मेल खाते थे। उसका उत्तरदायित्व था कि वह लेखा बही (अकाउन्ट बुक) को तैयार करे तथा केन्द्र को इसका विस्त त विवरण प्रस्तुत करे। उसकी सहायता के लिए अनेकों अधिकारी थे जिनमें ''मुस्तरिफ'' वह ''कारकून'' प्रमुख थे। ख्वाजा नामक अधिकारी का विवरण भी हमें मिलता है परन्तु ख्वाजा को प्रान्त के वित्त-प्रमुख के बराबर मानना अनुचित होगा। ख्वाजा की नियुक्ति इक्ताओं में की जाती थी जिनको किसी प्रकार से प्रान्त नहीं कहा जा सकता है। ख्वाजा इनकी आय का हिसाब रखता था जिससे कि सुल्तान अधिशेष (बढ़त) अनुमान लगाकर उसको केन्द्रीय कोष में जमा कराने का आदेश दे सके।

ख्वाजा की नियुक्ति वजीर की सिफारिश पर सुल्तान द्वारा की जाती थी। यद्यपि सैद्धान्तिक आधार पर वह मुक्ति के आधीन था परन्तु व्यावहारिक रूप में सुल्तान के द्वारा नियुक्त किये जाने से तथा वजीर से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध होने के कारण वह अधिक स्वतंत्र था। इक्ता में उसकी उपस्थिति मुक्ति के अधिकारों पर एक प्रकार से अंकुश थी।

प्रान्तों की सैनिक व्यवस्था का उत्तरदायित्व प्रान्तीय आरिज के हाथों में था। वह आरिज-ए-मुमालिक के अधीन था तथा प्रान्तीय गवर्नर का सहायक अधिकारी था। मुख्यालय का काजी प्रान्त के मुख्य काजी के रूप में कार्य करता था। वह राज्य के काजी के अधीन था। न्याय की व्यवस्था को देखने के अतिरिक्त वह प्रान्त मस्जिदों और मदरसों की देखभाल करता था।

प्रान्तीय वित्त

प्रान्त में वित्त सम्बन्धी व्यवस्था के मूल में दो महत्वपूर्ण प्रश्न हैं जिनके आधार पर ही इस व्यवस्था का अध्ययन सम्भव है। प्रथम प्रान्त तथा केन्द्र के बीच के सम्बन्ध, तथा दूसरा, कृषकों के साथ सम्बन्ध। **बरनी** के विवरण से स्पष्ट है कि प्रान्त केन्द्र को एक निश्चित धन-राशि प्रेषित करता था। ग्यासुद्दीन तुगलक ने यह स्पष्ट आदेश दिये थे कि वित्त मंत्रालय अधिशेष राजस्व (बढ़ोत्तरी) में 1/10 अथवा 1/11 से अधिक बढ़ोत्तरी नहीं करे। इस आदेश से स्पष्ट है कि बढ़ोत्तरी की राशि निश्चित थी और इसलिए उसमें व द्धि की जा सकती थी। उस समय की परिस्थितियों में यही उचित व्यवस्था थी। यदि गवर्नरों से एक निश्चित

धन-राशि की माँग नहीं की जाती तो वे सम्भवतः समस्त वसूल धन को खर्च कर देते और ऐसे में अधिशेष (बढ़ा हुआ राजस्व) या तो नाम-मात्र का अथवा बिल्कुल ही नहीं होता।

अलाउद्दीन के समय भी यही व्यवस्था प्रचलित थी। मुहम्मद तुगलक के शासन के आरम्भिक वर्षों में प्रान्तों की आय तथा व्यय का विस्त त लेखा जोखा लिया जाता था परन्तु बाद में प्रान्तों के राजस्व को निश्चित कर दिया गया था। फीरोज तुगलक के समय में भी यही व्यवस्था बनी रही।

कृषकों तथा प्रान्त के बीच सम्बन्धों के बारे में हमें गयासुद्दीन तुगलक के आदेश से कुछ जानकारी मिलती है। सुल्तान ने आदेश दिया था कि गवर्नर राजस्व अधिकारियों तथा मुखियाओं को सचेत कर दे कि वे सुल्तान द्वारा निर्धारित राजस्व से अधिक वसूल न करें। इसका अर्थ था कि कृषकों से लिया जाने वाला राजस्व एक निश्चित धन-राशि थी और इससे अधिक वसूल न करने पर बल दिया जाता था। अलाउद्दीन के राज्यकाल को छोड़कर जबकि ऐसे समस्त प्रान्तों के कृषकों को जहां उसके अधिनियम प्रचलित थे केन्द्रीय राजस्व अधिकारियों के अन्तर्गत कर लिया गया था, सम्भवतः शेष सल्तनत युग में कृषकों से निश्चित राजस्व ही वसूल किया जाता रहा था।

प्रान्तीय सेना

गवर्नर तथा इक्ता के स्वामी अपने पास एक सैनिक टुकड़ी रखते थे। केन्द्र के द्वारा इसकी माँग किये जाने पर उनसे ये आशा की जाती थी कि वे इसे प्रस्तुत करेंगे। इसकी पूर्ति न किये जाने पर यह विद्रोह समस्या समझा जाता था और सुल्तान इसके विरुद्ध उचित कार्यवाही के लिए बाध्य हो जाता था। यद्यपि यह ठीक है कि प्रत्येक गवर्नर अथवा मुक्ति के लिए सैनिक सेवा करना अनिवार्य था परन्तु वास्तविकता यह है कि ऐसी सेवा के लिए केन्द्र के निकट के प्रदेशों से ही सैनिक टुकड़ियां आमन्त्रित की जाती थीं।

इसके अतिरिक्त प्रान्त में शान्ति व व्यवस्था बनाये रखने के लिये तथा विद्रोही हिन्दुओं पर अंकुश रखने के लिए सैनिक टुकड़ी की आवश्यकता थी। प्रान्तों के क्षेत्रफल व केन्द्र से उनकी दूरी के अनुपात में ही सैनिकों की संख्या निश्चित करना स्वाभाविक था। परन्तु एक मात्र इसी कसौटी के आधार पर प्रान्तीय सैनिक व्यवस्था करना आवश्यक नहीं था क्योंकि सीमा के प्रान्तों की रक्षा के लिये बड़ी सैनिक टुकड़ियाँ रखना आवश्यक था। सुल्तानों ने ये आदेश दे रखे थे कि न तो सैनिक के वेतन में से किसी प्रकार की कटौती की जाये और न ही उनको कम वेतन दिया जाये।

बरीद

एक व हद राज्य को सुव्यवस्थित रूप में चलाने के लिये तथा सुल्तान को इक्ताओं और स्थानीय अधिकारियों की गतिविधियों से अवगत रखने के लिए बारीदों का होना आवश्यक था। बारीद अथवा खबर-नबीसों को मोटे रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है- एक वे जो वर्तमान पत्रिकाओं के रिपोर्टर के अनुरूप थे जो राज्य को नियमित पत्र प्रेषित करते रहते थे तथा दूसरे वे जिनको विशेष रूप से किसी मिशन के लिये नियुक्त किया जाता था।

सूचनाओं के संचारण हेतु उचित व्यवस्था थी जिसकी कि विदेशी यात्रियों ने भूरी-भूरी प्रशंसा की है। इब्नबतूता ने लिखा है कि सिन्ध से दिल्ली तक सरकारी कागज पहुँचने में केवल पाँच दिन का समय लगता था जिसको पार करने में साधारण यात्री लगभग पन्द्रह दिन लिया करते थे। संरचना की व्यवस्था दो प्रकार की थी-

1. प्रसारण (रिले) केन्द्र प्रत्येक चार कुरूह पर स्थापित थे।
2. प्रत्येक कुरूह की एक चौथाई दूरी पर चौकियाँ स्थित थीं। प्रत्येक चौकी पर आदमी तैनात रहते थे। वे पत्र पाते ही दूसरी चौकी पर उसे शीघ्रताशीघ्र पहुँचा देते थे। प्रत्येक डाक ले जाने वाले के पहुँचने की घोषणा उसके डन्डे पर बंधी हुई घण्टियों से मिल जाती थी। इस प्रकार के दस व्यक्तियों के समूह को जो प्रत्येक चौकी पर तैनात थे 'घावाह' कहते थे, घुड़सवारों के माध्यम से भी डाक पहुँचने की व्यवस्था थी, जिसे 'उलाघ' कहते थे। दोनों में से घावाह अधिक द्रुत गति से डाक पहुँचाते थे और सुल्तान इसी माध्यम को वरीयता देते थे।

सुल्तान के बरीद जो समस्त राज्य में फैले हुए थे। उसे प्रत्येक प्रकार की सूचना से अवगत कराते रहते थे। विदेशियों के आगमन से लेकर बाजार में प्रचलित गप्प की सूचना वे सुल्तान तक पहुँचाते थे। राज्य के सैनिक अभियानों के संचारण के लिए विशेष व्यवस्था की जाती थी। मुहम्मद तुगलक ने इसके अतिरिक्त संकेतों के संचरण की व्यवस्था कर रखी थी, जिसके अन्तर्गत बड़े-बड़े ढोल बजाकर सुल्तान को संकट की सूचना दूरस्थ प्रदेशों में शीघ्रताशीघ्र पहुंच सके। इसके साथ ही एजेंटों और गुप्तचरों की व्यवस्था थी जो केन्द्रीय सरकार को प्रत्येक प्रकार की सूचना पहुंचाते थे। हम यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि इस संचारण व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्तिगत पत्रों को ले जाने की व्यवस्था थी अथवा नहीं। इस सम्पूर्ण व्यवसाय से एक परिणाम स्पष्ट है कि समस्त अधिकारी, मुक्ति से लेकर कारकून, तक इन बरीदों की उपस्थिति से आतंकित रहते थे तथा उनके अधिकारों पर ये एक सक्रिय अंकुश था। सुल्तान मुक्तियों की नियुक्ति करते समय साधारणतया बरीदों की भी नियुक्ति करते थे। बलबन ने बुगरा खां को समाना के इक्ता में नियुक्त करते समय बरीदों की नुियक्ति भी की थी जिससे कि वे वहाँ की स्थिति के बारे में उसे जानकारी भेज सकें।

प्रान्तीय न्याय प्रशासन

प्रान्तों की न्यायपालिका में चार प्रकार के न्यायालय सम्मिलित थे-

1. वली या गवर्नर का न्यायालय,
2. काजी-ए-सूबा का न्यायालय,
3. दीवान-ए-सूबा का न्यायालय,
4. सद्रे-ए-सूबा का न्यायालय।

प्रांत का वली या गवर्नर सुल्तान का प्रतिनिधि होता था। अतः प्रान्त में सर्वोच्च अधिकारी होने के नाते उसका प्रमुख कार्य न्याय करना था। स्वयं प्रान्तीय गवर्नर प्रान्त का सर्वोच्च न्यायालय होता था। लेकिन अपील के मुकदमों में वह सदैव काज़ी-ए-सूबा की सहायता लेता था। प्रान्त और उसके उपविभागों की सभी न्यायालयों की अपीलें (जिसमें काज़ी-ए-सूबा के न्यायालय की अपीलें भी शामिल थीं)। प्रान्तीय गवर्नर के न्यायालय में पेश की जा सकती थी और गवर्नर के निर्णयों के विरूद्ध अपीलें सीधे केन्द्र से की जा सकती थी। प्रान्तीय वली के न्यायालय का प्रान्त में सबसे अधिक क्षेत्राधिकार था क्योंकि वह सब प्रकार के मुकद्मों की सुनवाई कर सकता था। प्रान्त में न्याय के मामले में गवर्नर के बाद काज़ी-ए-सूबा आता था। गवर्नर विभिन्न प्रशासकीय और सैनिक मामलों में व्यस्त रहता था। अतः उसे नियमित न्याय प्रशासन के लिए बहुत कम समय मिल पाता था और काज़ी-ए-सूबा ही न्याय का अधिकांश भार वहन करता था। काज़ी-ए-सूबा की नियुक्ति सुल्तान द्वारा मुख्य न्यायाधीश की सिफारिश पर की जाती थी। वह दीवानी और फौजदारी दोनों मुकदमों की सुनवाई करता था किन्तु काज़ी-ए-सूबा का क्षेत्राधिकार राजस्व सम्बन्धी मामलों पर निर्भर नहीं था। ये मामले सीधे प्रान्तीय दीवान के पास जाते थे। काजी-ए-सूबा प्रान्त के सभी काज़ियों के कार्यों की देख-रेख करता था और परगना काज़ियों की नियुक्ति के लिए प्रत्याशियों की सिफारिश करता था। दीवान-ए-सूबा के न्यायालय का यह क्षेत्राधिकार बहुत सीमित था और वह केवल भूमि-राजस्व सम्बन्धी मामले का निर्णय करता था। इसके निर्णयों के विरूद्ध अपीलें गवर्नर को सीधे सुल्तान के द्वारा दी जाती थीं। सदर-ए-सूबा के न्यायालय का भी क्षेत्राधिकार बहुत सीमित था। प्रान्तीय न्यायालयों में भी केन्द्र की तरह मुफ्ती, मुहतसिब और दादबक होते थे। प्रांत के न्यायिक उपभागों में काज़ी फौजदार, आमिल, कोतवाल और गाँव पंचायत शामिल थी।

भारत पर मुस्लिम सत्ता के नियंत्रण के सुद ढ़ होने के साथ ही सल्तनतकालीन सुलतानों ने प्रशासन को कार्यशील व सुद ढ़ बनाने के उद्देश्य से नवीन प्रयोग प्रारम्भ कर दिये थे। इस सम्बन्ध में इक्ता जैसी प्रशासनिक इकाइयों के अतिरिक्त चौंदहवीं शताब्दी में सल्तनत के विस्तार के कारण प्रान्तों को ज़िलों में बांट दिया गया था। इन्हें **शिक** कहा जाता था। शिक का अध्यक्ष **शिकदार** कहलाता था। शिक का शब्दिक अर्थ इकाई से है बरनी द्वारा दिए गए अवतरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शिक एक प्रशासनिक इकाई थी जिसकी सीमाएँ इक्ता की तरह निश्चित होती थी। शिकदार के अधीन अनेक शासकीय कर्मचारी होते थे। ज़िलों को परगने में बाँटा गया था। प्रशासन की सबसे छोटी इकाई गाँव थी और गाँव में शासन कार्य चलाने

के लिए मुकद्दम, खूत और चौधरी होते थे। परगने कई गाँवों से मिलकर बनते थे। इब्नबतूता 'सादी' अथवा सौ गाँव के समूह का शासन की इकाई के रूप में उल्लेख करता है।

सल्तनत के शासनकाल की एक विशेषता यह थी कि उन्होंने जनता के व्यक्तिगत रीति-रिवाजों अथवा स्थानीय शासन-प्रणाली में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया। गाँव की स्थानीय स्वतंत्र सत्ता सुरक्षित रही। राज्य के कर्मचारी लोगों के आम जीवन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करते थे। गाँव-पंचायत अपना शासन करने में पूर्ण रूप से स्वतंत्र थी। वह भूमि-वितरण सम्बन्धी कार्य स्वयं करती थी और स्थानीय झगड़ों पर भी निर्णय देती थी। इसके साथ ही पंचायत गाँव के लोगों से कर वसूल करके सरकारी खजानों में जमा कराती थी।

सल्तनत कालीन शासन प्रबन्ध तथा शासकों के प्रशासकीय द ष्टिकोण में निरन्तर प्रगति होती रही। तुर्कों के दिल्ली में राज्य स्थापित करने व हिन्दुस्तान में रहना प्रारम्भ करने पर उनके द ष्टिकोण में भी परिवर्तन आना प्रारम्भ हो गया। यद्यपि हिन्दुओं से **जज़िया** भी वसूल किया जाता था तथापि हिन्दुस्तान के मुसलमान शासक समझने लग गए थे कि प्रशासन के कार्यों में हिन्दुओं को भी स्थान देना होगा और उनकी योग्यता से लाभ उठाने में वस्तुतः अपना ही लाभ होगा।

वित्त व्यवस्था

मुस्लिम विधि-वेत्ताओं ने वित्त व्यवस्था के सम्बन्ध में भी विस्त त व्याख्या की है। यद्यपि सभी मुस्लिम विधि वेताओं ने अपने सिद्धान्तों के लिए यद्यपि एक ही स्रोत का आधार बनाया है। तथापि उन्होंने जिन सिद्धान्तों का निरूपण किया है, उनमें से कुछ महत्वपूर्ण विषय काफी मतभेद पूर्ण द ष्टिगत होते है। दिल्ली के सुल्तान मुख्यतः युद्ध में ही रत रहते थे, फलस्वरूप वे वित्त संबंधी सिद्धान्तों की जटिलताओं को अच्छी तरह नहीं समझ सके। सल्तनत युग की वित्त नीति सुन्नी विधिवेताओं की हनीफी शाखा के वित्त सिद्धान्तों पर आधारित थी।

मुस्लिम विधिवेत्ताओं ने मुस्लिम राज्य के वित्त को दो वगोर् में विभाजित किया था-

(क) धार्मिक

(ख) धर्मनिरपेक्ष।

प्रथम वर्ग में जकात कर आता था जो केवल मुसलमानों को ही देना पड़ता था तथा द्वितीय वर्ग में जजिया, खराज व खम्स गैर मुसलमानों को देना पड़ता था। ऐसा स्वीकार किया जाता था कि एक मुस्लिम निर्धन तथा दरिद्र के साथ अपनी सम्पत्ति के बंटवारे से स्वयं को लालच के अभिशाप से मुक्त कर सकने में समर्थ हो सकेगा। हनीफी विचारधारा के विधि-वेत्ताओं ने जकात की परिभाषा करते हुए लिखा है कि कानूनी रूप में निश्चित की हुई अपनी सम्पत्ति के भाग को निर्धन मुसलमानों में बाँटना जिससे की दाता स्वयं को किसी लाभ का आकांक्षी न माने, जकात है जकात का अर्थ है - शुद्धिकरण। जकात की वसूली के लिए बल प्रयोग करना धर्म-विरुद्ध था।

जकात व सदका दोनों ही धार्मिक कर थे, अतः इन दोनों के एक सा होने के कारण प्रायः गड़बड़ी हो जाती है। परन्तु शफी व मावर्दी इन दोनों में किसी प्रकार का मतभेद स्वीकार नहीं किया। जकात में सम्पत्ति को पुनः प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दो भागों में बाँटा जा सकता है। प्रत्यक्ष करों के अन्तर्गत पशु व कृषि से प्राप्त उपज और अप्रत्यक्ष में व्यापार की वस्तुएँ, सोना, चाँदी इत्यादि आते हैं।

संपत्ति के विषय में दो शर्तें पूरी होने पर ही कर देना पड़ता था-

1. संबंधित व्यक्ति ने उस सम्पत्ति का उपयोग पूरे एक वर्ष के लिए कर लिया हो।
2. यह सम्पत्ति एक निर्धारित परिमाण (निसाब) से अधिक हो। विभिन्न वस्तुओं के लिए विद्वानों ने प थक-प थक निसाब निर्धारित किए हैं। अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुओं पर जकात नहीं देना पड़ता था। इस श्रेणी में निवास-ग ह, व्यवहार के वस्त्र, पठन-पाठन में उपयोग की जाने वाली पुस्तकें, परिवार के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त अन्न, सेवाकार्य के लिए रखे गये दास आदि आते थे। इस्लाम मानता है कि जकात देने का पुण्य उसी को मिलेगा जो इसका महत्व समझता है और जिसकी सम्पत्ति पर अन्य किसी का अधिकार नहीं है।

कुरैशी लिखते हैं कि कुछ मुसलमान इस कर से स्वयं को बचाने के लिए वर्ष का अन्त होने से पूर्व ही अपनी समस्त सम्पत्ति को अपनी पत्नी अथवा परिवार के किसी सदस्य के नाम कर दिया करते थे और अगले वर्ष के आरम्भ में पुनः उसे अपने पक्ष में कर लिया करते थे। परन्तु यह कार्य निन्दनीय था क्योंकि जकात का फल केवल उन्हीं दाताओं को प्राप्त होता था जो इसके महत्व को स्वीकार करते हों। यह कर सम्पत्ति का $2\frac{1}{2}\%$ होता था। आयात-निर्यात कर के विषय में यह नियम था कि सभी वस्तुओं के मूल्य का $2\frac{1}{2}\%$ कर दिया जाए। घोड़ों के ऊपर 4% कर लिया जाता था। मुस्लिम विधिवेत्ताओं के अनुसार धार्मिक कृत्यों, सम्पत्ति हीन मुस्लिमों, फकीर, ज़िहाद (धर्मयुद्ध) और कर्ज़दार आदि मदों पर इसे व्यय किया जा सकता था। हनीफी विचारधारा के अनुसार इस कर को एकत्रित करने का उत्तरदायित्व राज्य को सौंपा गया है क्योंकि राज्य ही सम्पत्ति को सुरक्षा प्रदान करता है। **त्रिपाठी** लिखते हैं कि प्रत्यक्ष सम्पत्ति पर जकात निश्चित दर के हिसाब से राज्य द्वारा उगाहा जाता था। पर परोक्ष सम्पत्ति पर स्वयं सम्पत्ति धारक द्वारा अपने विवेक व निर्णय के अनुसार दान कर दिया जाता था।

धर्मनिरेपेक्ष करों के अन्तर्गत जजिया, खराज एवं खम्स आते हैं।

जजिया

जजिया का सिद्धान्त कुरान की एक आयत पर आधारित है जिसमें कहा गया है 'जो लोग खुदा में विश्वास नहीं करते, खुदा एवं पैगम्बर द्वारा वर्णित बातों को नहीं मानते, सत्य धर्म (इस्लाम) स्वीकार नहीं करते, उसने अन्तिम दिन तक जब तक कि वे अधीन होकर खुद जजिया न दें, लड़ो।' इसी आधार पर इस्लामी धर्मशास्त्र में जजिया की विवेचना ज़िहाद (धर्मयुद्ध) के सन्दर्भ में की गई है। इसके अनुसार ऐसे धर्म के अनुयायी जिसमें मूर्तिपूजा स्वीकृत है, उन्हें धर्म युद्ध द्वारा या तो इस्लाम स्वीकार करना चाहिए अथवा उन्हें मार डाला जाएगा क्योंकि यह असम्भव था कि समस्त जनता से या तो इस्लाम स्वीकार करवाया जाए अथवा उन्हें म त्यु के घाट उतार दिया जाए इसलिए उनके समाधान में ईश्वरीय आज्ञाओं की सहायता ली गई। इनके अनुसार गैर मुस्लमान, जो कि मुस्लिम राज्य के नागरिक हो, राज्य की सुरक्षा में अपने जीवन के अधिकार को सुरक्षित रखने के लिए कुछ मूल्य चुकाएँ अथवा जिम्मी की स्थिति को स्वीकार कर लें जिसमें उनका जीवन एक अनुबन्ध (ठेका) के आधार पर राज्य द्वारा मान्य होगा। इस आधार पर जजिया केवल उन्हीं व्यक्तियों पर लागू किया गया जिनको जिम्मी स्वीकार कर लिया गया। दूसरे शब्दों में प्रत्येक मुस्लिम के लिए सैनिक सेवा अनिवार्य है और गैरमुसलमानों को इसके एवज में अपनी जान-माल की राज्य द्वारा रक्षा हेतु राज्य को जजिया देना पड़ता था। जो लोग सैनिक सेवा देते थे उन्हें जजिया नहीं देना पड़ता था। जजिया वसूल करना चाहिए, किससे वसूल करना चाहिए, इत्यादि पर धर्मशास्त्रियों ने विस्त त विवेचना की है। **डिक्शनरी ऑफ ईस्लाम** के अनुसार (14 वर्ष से कम आयु के) बूढ़े, स्त्रियों, अन्धे, अपंग, भिखारी और साधु-सन्यासी इससे मुक्त थे, लेकिन धनी महन्तों को यह कर देना पड़ता था। यह कर सम्पत्ति के आधार लोगों को तीन श्रेणियों में विभाजित कर अलग-अलग लिया जाता था। पहला वर्ग अर्थात धनी वर्ग को 40 टका, मध्य वर्ग को 20 टका तथा सामान्य लोगों को 10 टका प्रतिवर्ष व्यक्ति के हिसाब से जजिया देना पड़ता था। सम्भवतः सल्तनतकाल में यह कर लोकप्रिय नहीं जान पड़ता क्योंकि समकालीन इतिहासकारों ने इस विषय में समुचित जानकारी नहीं दी कि इस कर के अन्तर्गत राज्य को वार्षिक कितना धन प्राप्त होता था व विभिन्न सुल्तानों ने किस दर से इसको लागू किया परन्तु **अफ़ीफ** लिखता कि फिरोज तुगलक ने उपरोक्त वर्णित दरों के आधार पर प्रति व्यक्ति यह कर वसूल किया। पता चलता है कि फिरोज़ ने ब्राह्मणों पर जजिया लगाया इससे राज्य में अव्यवस्था फैल गई व तब दिल्ली निवासी धनी हिन्दुओं ने उनकी ओर से इस कर का भुगतान करने का भार वहन किया। समकालीन इतिहासकारों ने जज़िया बन्द किए जाने का भी कोई उल्लेख नहीं किया। निश्चित आँकड़े प्राप्त न होने की वजह से यह ठीक-ठीक अनुमान लगाना असम्भव है कि वास्तव में कितना व किन क्षेत्रों से जजिया वसूल किया जाता था।

खराज

गैर मुस्लिम किसानों से जो भूमिकर लिया जाता था उसे खराज कहते थे। बाद में यह परिपाटी चल गई कि खराज देने वाली भूमि को यदि मुसलमान जोते तो उससे भी खराज लेना चाहिए। यह सम्भवतः इसलिए किया गया था जिससे बहुसंख्यक ६

ार्म परिवर्तनों के कारण राज्य की आय घट न जाए। भूमिकर प्रायः उपज के 1/3 से कम और 1/2 से अधिक नहीं लिया जाता था। भूमिकर निश्चित करने का आधार क्षेत्रफल, उपज और सिंचाई तीनों साधनों पर निर्भर होता था। भूमिकर नकद देते समय जोती हुई भूमि से शहर के बाज़ार की दूरी के लिए परिवहन के खर्च आदि को ध्यान में रखकर निर्धारित किया जाता था।

खम्स

धर्मनिरपेक्ष करों में खम्स तीसरा व अंतिम कर था। युद्ध में प्राप्त लूट के माल को खम्स कहा जाता था। लूट का 4/5 भाग सैनिकों में बाँट दिया जाता था व 1/5 भाग राजकोष में जमा होता था। अलाउद्दीन ने इस नियम को उलट दिया वह 1/5 भाग सैनिकों में बाँटा व शेष 4/5 राजकोष के लिए सुरक्षित रख लिया। फिरोजशाह तुगलक के समय तक यह नियम इसी तरह बना रहा। **फतूहात-ए-फिरोजशाही** से पता चलता है कि उलेमाओं द्वारा इसे शरा-विरोधी घोषित करने पर उसने पुनः पुराने नियम को लागू कर दिया व लूट के माल के विभाजन के समय एक घुड़सवार को पैदल सैनिक की तुलना में दो अथवा तीन गुणा दिया जाता था।

न्याय व्यवस्था

मुस्लिम कानून के चार स्रोत माने जाते हैं- कुरान, हदीस, इज़मा तथा कयास। कुरान मुस्लिम कानून का प्रमुख स्रोत है। इसमें ईश्वर की आज्ञाएँ एवं इच्छाएँ हैं। इसलिए मुस्लिम वर्ग इसे शाश्वत व असंशोधनीय मानता है और कुरान क्योंकि ईश्वर प्रदत्त है इसलिए इस्लामी कानून का मुख्य व आधारभूत स्रोत हैं। कुरान के पश्चात, हदीस अथवा सुन्ना (पैगम्बर की रीतियाँ व परम्पराएँ) दूसरा प्रमुख आधार हैं। जब कुरान में किसी समस्या का हल न निकले तो हदीस का सहारा लिया जाता था। कानून क्योंकि मुस्लिम जाति के हित के लिए बनाये गए थे, अतः उक्त कानूनों की व्याख्या करने का अधिकार उन विधिवेत्ताओं को सौंप दिया गया जो मुजतहिद अथवा विधिशास्त्री कहलाते थे। इन विधिशास्त्रियों द्वारा व्याख्या किया गया कानून अल्लाह की इच्छा का ही रूप माना जाता था। कानून के इस स्रोत को इजमा कहते हैं। कयास अर्थात् तर्क अथवा विश्लेषण के आधार पर कानून की व्याख्या करना। यह व्यवस्था इस्लाम में बहुत पहले से ही प्रचलित थी। इस क्षेत्र में अबू हनीफा (688-766 ई.) द्वारा प्रतिपादित **हनीफी** विचारधारा के विचार है जिसने कयास को प्रथम बार प्राथमिकता दी। हनीफी के पश्चात् **मलिकी** विचारधारा की जिसकी स्थापना मलिक इब्न अन्स ने (715-775 ई.) में की थी। तीसरी व चौथी विचारधारा **शफी** व **हनबली** के संस्थापक अशं शफी (726-820 ई.) व अहमद बिन हनबल (780-855 ई.) की थी। इन समस्त न्यायशास्त्रियों ने केवल उन्हीं बातों का स्पष्टीकरण किया जो कुरान व हदीस पर आधारित थी। उन्होंने किसी नए सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया। इस्लाम विधि में परिवर्तन करने का न तो किसी को अधिकार था और न ही यह परिवर्तन किसी प्रकार से मान्य था।

(क) इस्लामी धर्मशास्त्र सम्बन्धी कानून केवल मुसलमानों पर ही लागू है और इस आधार पर जिम्मियों पर यह लागू नहीं किया जा सकता। किन्तु कानून के धर्म निरपेक्ष अंश जैसे- व्यापार, किसी चीज का सौदा करना आदि मामलों में मुस्लिम व गैर मुस्लिमों पर समान रूप से लागू होते थे।

(ख) गैर मुसलमानों के धार्मिक तथा व्यक्तिगत कानून जिसके अन्तर्गत हिन्दुओं और गैर मुस्लिमों के सामाजिक (मामलों में न्यूनतम हस्तक्षेप किया गया और जहाँ कहीं भी हिन्दूओं के मध्य कोई व्यक्तिगत कानून को लेकर विवाद खड़ा हो जाता तो वहाँ विद्वान, पण्डितों की सहायता से विवाद का निर्णय किया जाता था।

(ग) भूमि सम्बन्धी कानून जिसमें अरबों की कर-व्यवस्था को भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप संशोधन करके मुसलमानों व गैर मुसलमानों पर एक समान रूप से लागू था किया गया।

(घ) फौजदारी कानूनः यह कानून साधारणतया मुस्लिम व गैर मुस्लिम पर समान रूप से लागू था। जैसे-हत्या, चोरी, डकैती आदि अपराधों में दण्ड व्यवस्था दोनों वर्गों के लिए समान थी।

सुल्तान राजधानी में काजियों व मुफ्तियों की सहायता से न्याय करते थे और प्रान्तीय गवर्नर अपने अपने क्षेत्र में इस उत्तरदायित्व को निभाते थे। काजी व मुफ्ती शरा में निपुण थे, इसलिए सुल्तानों को उनकी सहायता पर निर्भर रहना पड़ता था।

सुल्तानों ने समुचित न्याय की ओर विशेष ध्यान दिया। **हसन निजामी** लिखता है कि "उसने ऐसी निष्पक्षता से न्याय-पद्धति अपनायी कि भेड़िया और बकरी एक ही घाट पर पानी पीते थे।" **बरनी** लिखता है कि बल्बन सुल्तान के चार प्रमुख कार्यों में एक कार्य न्याय मानता था। उसका मानना था कि जब तक सुल्तान पूरी तरह न्याय नहीं करता था तब तक अन्याय व अत्याचार से उसका देश मुक्त नहीं हो सकता।

अलाउद्दीन ने बलबन की तरह एक गुप्तचर विभाग की स्थापना की व गुप्तचर अमीरों के घरों, दफ्तरों, प्रान्तीय राजधानियों और बाजारों में नियुक्त किए गए जो सुल्तान को प्रत्येक बात व घटना का सूचना देते थे। **बरनी** बताता है कि अलाउद्दीन इन प्राप्त सूचनाओं के आधार पर इतनी कठोरता से न्याय करता था कि राज्य में चोरी, डकैती का नामोनिशान ही मिट गया।

सुल्तान स्वयं न्याय की मुख्य अदालत था उसके पश्चात् काज़ी-उल-कुजात था, जो साम्राज्य का मुख्य न्यायाधीश था। इसके अधीन नायब काज़ी होता था जो मुफ्ती की सहायता से न्याय किया करता था। मुफ्ती कानून का जानकार था और वही उसकी व्याख्या करता था। न्यायक्षेत्र में मुहतसिब का भी अपना विशिष्ट स्थान था वह सार्वजनिक रूप में लोगों के नैतिक आचरण को बढ़ावा देता था। दण्ड कठोर थे। म त्यु दण्ड, साधारण रूप से शिरच्छेद, अंग-भंग कोड़े लगाना, आँखों में सिलाई फेरना आदि प्रचलित थे।

सैनिक संगठन

जिन राजनीतिक परिस्थितियों में तुर्क सुल्तानों को शासन करना पड़ा वे कठिनाईयों से परिपूर्ण थी। एक तरफ अपदस्थ शासक वर्ग राजपूत राजा व सरदार अपने खोए हुए राज्य एवं प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील थे, वहीं दूसरी तरफ मंगोलों के आक्रमण का आतंक सल्तनत पर निरन्तर बना रहता था। इन दो प्रमुख तथ्यों की अवहेलना कोई भी सल्तनतकालीन सुल्तान नहीं कर सकता था। समकालीन इतिहासकारों ने सशक्त एवं कुशल सेना पर बहुत अधिक जोर दिया। तुर्की विजेता स्वयं भी मुख्यतः सैनिक थे और समकालीन राजनीतिक व सैनिक आवश्यकताओं ने भी इस सैनिक संगठन को शक्तिशाली बनाने में अपना योगदान दिया। इसके अतिरिक्त दिल्ली सुल्तानों ने प्रायः विस्तारवादी नीति का अनुसरण किया, जिसका कुशल संचालन एक शक्तिशाली सेना के द्वारा ही हो सकता था।

सामान्यतः सुल्तान सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त कुशल सेनानायक होता था और वैध रूप में वह प्रमुख सेनापति भी था। सैनिक अधिकारियों की नियुक्ति, उनका स्थानान्तरण एवं पदोन्नति सुल्तान की इच्छा पर निर्भर करती थी। सल्तनत काल में सैनिकों की चार श्रेणियों का उल्लेख मिलता है। इनमें प्रथम सुल्तान के सीधे नियंत्रण में रहने वाले नियमित सैनिक थे, जिनकी नियुक्ति स्थायी होती थी। द्वितीय श्रेणी में मुक्ता द्वारा रखे जाने वाले नियमित सैनिक थे, जिनकी नियुक्ति सुल्तान के सैनिकों के समान होती थी। त तीय श्रेणी में वे सैनिक आते थे, जिन्हें युद्ध के समय अथवा सैनिक अभियानों के समय भर्ती किया जाता था। चौथी श्रेणी उन स्वयं सैनिकों की थी जो सैनिक साज-सामान से सुसज्जित होकर सेना में बिना वेतन के भर्ती होते थे तथा जिन्हें लूट में से हिस्सा प्राप्त होता था। प्रथम तीन श्रेणियों को सैनिकों का अस्तित्व आधारभूत रूप से सल्तनतकाल में बना रहा।

सल्तनतकालीन सैन्य व्यवस्था का प्रारम्भ इलतुतमिश के काल से होता है। उसके काल में सल्तनत की सेना को हश्म-ए-क्लब (केन्द्रीय सेना) कहा जाता था। इसी में अलग से एक नए वर्ग का नाम बंदगान-ए-खास था। सुल्तान की सेना का संगठन गुलाम के रूप में भरती किए गए गए सैनिकों की शक्ति पर आधारित था। सुल्तान सेना में दासों को महत्व देकर तुर्की अमीरों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिए इनका उपयोग करना चाहते थे। क्योंकि इन दास सैनिकों की भारतीय भूमि में जड़ें मजबूत नहीं थी। अतः सुल्तान के प्रति उनका विश्वासपात्र बने रहना स्वाभाविक था। सुल्तान के समय प्रांतों की सेना को हश्म-ए-अतरफ़ कहा जाता था। शाही घुड़सवार सेना को सवार-ए-कल्ब कहा जाता था। सेना को वेतन नकद न देकर उन्हें अक्ता प्रदान की जाती थी। इल्तुतमिश की धुड़सवार सेना दो या तीन हजार थी । यह सुल्तान की व्यक्तिगत सेना थी जिन्हें शम्सी घुड़सवार कहा जाता था। इन घुड़सवारों को दिल्ली के आस-पास के गाँवों और दोआब के प्रदेश में अक्ता प्रदान कर दी गई थी। बरनी बताता है कि दीवान-ए-अर्ज (सैनिक विभाग) शस्त्रधारी घुड़सवारों का निरीक्षण करता था। इस निरीक्षण से अश्व सैनिक किसी न किसी चालाकी से बचने का प्रयत्न करते थे। इस स्थिति से परेशान होकर ग्यासुद्दीन बल्बन से अपने सैनिक सुधारों को क्रियान्वित किया। बरनी बताता है कि उसने अक्तादारों को तीन भागों में विभाजित किया। प्रथम श्रेणी में उन अक्तादारों को रखा गया जो शारीरिक द ष्टि से असहाय हो गए थे या व द्ध थे। बल्बन ने उनके अधिकारों को यथावत्

बनाए रखा। द्वितीय श्रेणी में शारीरिक द ष्टि से समर्थ सैनिकों को रखा गया। उन्हें उनकी अक्ता से वंचित नहीं किया गया वरन् हासिल रकम को दीवान में जमा कराने के आदेश दिए गए। तीसरी श्रेणी में पेंशन या भत्ता सैनिकों व म त सैनिकों के अनाथ बच्चों व उनकी विधवाओ को शामिल किया गया। ऐसे परिवारों को पेंशन देने के संबंध में सरकारी फरमान जारी किए गए।

बरनी से पता चलता है कि राजनीतिक अनुभव से बल्बन से सीखा था कि सेना शासन का मूल स्तम्भ है, इसलिए किसी विभाग से पूर्ण उसका संगठन आवश्यक था। बल्बन से सवार-ए-कल्ब (केन्द्रीय सेना) में निष्ठावान और अनुभवी अधिकारी नियुक्त किए। उसका वेतन बढ़ा दिया गया व वेतन के बदले उनके लिए गाँव निश्चित किए गए। सैनिकों के वेतन में व द्धि कर उन्हें सुखी व सन्तुष्ट रखना बल्बन की सामरिक नीति का एक आवश्यक अंग था। **बरनी** कहता है कि उसने अपने पुत्र बुगरा खाँ को यह परामर्श दिया कि सेना के लिए कितना भी धन व्यय करना अधिक न समझो और अपने आरिज (सैनिक भर्ती करने वाले अधिकारी) को पुराने सैनिकों की व्यवस्था करने और नवीन सैनिकों की भर्ती करने में व्यस्त रहने दो।

विद्रोही तत्वों से निपटने के लिए बल्बन से दोआब में कपिल, पटियाली, भोजपुर एवं दिल्ली के आसपास के स्थानों पर सैनिक चौकियाँ स्थापित कीं। इन चौकियों में उसने अफगान सैनिकों को नियुक्त किया।

यथार्थ में सल्तनकाल में सैनिक व्यवस्था का निश्चित स्वरूप खिलजी काल में उभर कर आता है। 1291 में जलालुद्दीन खिलजी के काल में अलगू के नेत त्व में दिल्ली आए व यहीं बस गए। इन मंगोलों के दिल्ली में बस जाने का महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि ये मंगोल सल्तनत की सेना में शामिल हो गए। अब सल्तनत की सेना में मंगोलों में प्रचलित सैनिक वर्गीकरण के पद जैसे—अमीरान-ए-सदा, अमीरान-ए-हज़ारा एवं अमीरान-ए-तुमान मिलने लगे।

मंगोलों की सैन्य व्यवस्था का वर्गीकरण दशमलव प्रणाली पर आधारित था। दस सैनिक अमीर-ए-दह के अधीन, अमीर-दह का सेनानायक अमीर-ए-सदा, दस अमीर-ए-सदा का सेनापति अमीर-ए-हज़ारा व दस अमीर-ए-हज़ारा की इकाइयों का सेनापति अमीर-ए-तूमान होता था। अमीर-ए-तूमान के ऊपर खान या बादशाह होता था जो पद सोपानिक ढंग से हर इकाई के अधिकारी की जरूरतों को पूरा करता था।

बरनी ने इसे अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। सल्तनत कालीन सैनिक व्यवस्था का आधार तुर्की आदर्श था जो कि दशमलव प्रणाली पर आधारित था। बुगरा खाँ ने अपने पुत्र कैकुबाद को उदाहरण देते हुए अलग-अलग श्रेणियों का विवेचन किया हैं इसके अन्तर्गत एक सारखेल के अधीन दस घुड़सवार, दस सारखलेल एक सिपहसालार के अधीन दस सिपहसालार एक अमीर के अधीन व दस अमीर एक मलिक के अधीन व दस मलिक एक खान के अधीन हुआ करते थे। **बरनी** का यह वर्गीकरण मंगोलों की दाशमलविक सैनिक प्रणाली पर आधारित था पर प्रारम्भिक तुर्की काल में सल्तनत की सेना को हम वर्गीकृत नहीं पाते।

यू०एन०डे के अनुसार यह संख्या अधिकारों द्वारा सैनिक की संख्या की अपेक्षा अमीर वर्ग के श्रेणी विभाजन को बताती है। **आई०एच० कुरैशी** का मत है कि सैनिक अधिकारी के रूप में मलिक शब्द का प्रयोग बड़े ही स्वच्छन्द रूप में किया गया है खान एक आदरसूचक उपाधि होती थी। खान उपाधि का सैन्य वर्गीकरण से कोई सम्बन्ध नहीं था। इसी प्रकार सारखेल, सिपहसालार आदि शब्दों का भी स्वतन्त्र रूप से प्रयोग हुआ है। इस विषय में कुतुबद्दीन ऐबक का उदाहरण देते हुए कहा जा सकता है कि **मिनहाज** बताता है कि उसने सुल्तान की उपाधि हासिल करने से पहले मलिक व सिपहसालार की उपाधियाँ ग्रहण की।

यथार्थ में सल्तनत काल में सैनिक व्यवस्था का निश्चित स्वरूप खिलजी काल में उभर कर आता है। अलाउद्दीन सैनिकों की नियुक्ति स्वयं करता था तथा उन्हे उनका वेतन शाही खजाने से सीधा दिया जाता था। **बरनी** के विवरण से स्पष्ट है कि अलाउद्दीन के शासनकाल में आकर एक अस्पा, दो अस्पा सैनिकों में अन्तर स्पष्ट हो गया था तथा इसी आधार पर उनका वेतन निर्धारित था। बरनी ने घुड़सवार सैनिकों के सन्दर्भ में मुरतब, एक अस्पा व दो अस्पा शब्दों का प्रयोग किया है। वस्तुतः मुरतब एक सामान्य सैनिक था व इसके पास एक घोड़ा होता था। इसलिए इसे एक अस्पा कहा जाता था। **के०ए० लाल** के अनुसार एक घोड़ा रखने वाले अश्वारोही सैनिक का वार्षिक वेतन 234 टका निश्चित हुआ व दूसरा घोड़ा रखने के लिए दो अस्पा सैनिकों को 78 टका वार्षिक अतिरिक्त प्रदान किया जाता था। यह वेतन शाही सेना पर लागू होता था। समकालीन स्त्रोतों के विवरण

के आधार पर **आई०एच० कुरैशी** की यह मान्यता तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती कि अलाउद्दीन के शासनकाल में घुड़सवार सेना का विभाजन तीन श्रेणियों में हो गया था। अलाउद्दीन ने अपनी सेना को वेतन देने के साथ-साथ छह महीने के वेतन इनाम के रूप में नकद दिया और उन्हें अक्ता देने की प्रथा को समाप्त कर दिया गया। सेना में जब भर्ती होती थी तो दीवाने-अर्ज में उसे अपने घोड़े व साज-समान के साथ निरीक्षण के लिए उपस्थित होना पड़ता था। दीवाने अर्ज में सेना का एक विस्त त वर्णन रहता था। सैनिक का **हुलिया** दर्ज किया जाता था व सेना के लिए खरीदे गए हर घोड़े को **दागा** जाता था ताकि निरीक्षण के समय किसी भी घोड़े को दुबारा प्रस्तुत न किया जा सके या उसके स्थान पर निकृष्ट घोड़ा ना रखा जा सके। समय-समय पर घोड़ों व सैनिकों के शास्त्रों का निरीक्षण बारीकी से किया जाता था। अलाउद्दीन के बाजार नियंत्रण मूल्यों को लागू करने से **बरनी** बताता है कि घोड़े स्थायी रूप से सस्ते हो गए। इससे स्थायी सेना व दो अस्पा सैनिकों में बहुत बढ़ोतरी हुई। **कुरैशी** बताते हैं कि ''अलाउद्दीन के पास 70,000 घोड़े थे। घोड़ों की आवश्यकता को पूरा करने के लिए एक ओर तो स्वयं केन्द्र तथा प्रान्तों में अच्छी नस्ल के घोड़ों को पाला जाता था, दूसरी ओर अरब, तुर्कीस्तान आदि से प्राप्त किए जाते थे। मंगोलों के आक्रमण के समय विदेशी नस्ल के घोड़ों का व्यापार काफी मन्द पड़ गया और घोड़े केवल राजधानी में मिलते थे।

अलाउद्दीन द्वारा बनाए गए सेना सम्बन्धी नियम कुतुबद्दीन मुबारकशाह के समय तक चलते रहे पर 1320 में नसिरुद्दीन खुसरो के सत्ता में आने के बाद यह नियम एक-एक करके बिखर गया। इस प्रकार अलाउद्दीन की अत्यन्त सुसज्जित सेना उसके उत्तराधिकारियों के काल में नष्ट हो गई।

बरनी से पता चलता है कि तुगलकवंश का संस्थापक गयासुद्दीन तुगलक स्वयं एक सैनिक था और उसने सिंहासनरुढ़ होने पर अलाई सैनिक संगठन, वेतन, प्रशासन व्यवस्था वैसे ही वैसे रखी। सिराजुल-मुल्क ख्वाजा को आरिज-ए-मुमालिक नियुक्त किया व दीवाने अर्ज का प्रबन्ध, व्यवस्था एवं उत्तरदायित्त्व उस पर रखा। हुलिया व दाग प्रथा जिस पर सेना की द ढ़ता आधारित थी, के द ढ़ता से पालन के आदेश दिए। उसके आदेशों का पालन न करने वाले को कठोर दण्ड देने का हुक्म दिया। खुसरो खाँ के शासनकाल में सैनिकों को खुले हाथ से जो धन बाँटा गया था, उसको वापिस लेने की व्यवस्था की गई और इसके लिए वर्ष भर के वेतन को अतिरिक्त धनराशि के रूप में समायोजित किया गया। इसके बावजूद, जो रकम बच गई उसको तत्काल भुगतान नहीं किया गया। सैनिक आर्थिक मुश्किल में न पड़ें, इसलिए उसे किस्तों के रूप में काट लिया जाता था। नकद वेतन देने की प्रथा फिर से लागू की। **बरनी** बताता है कि ग्यासुद्दीन सैनिकों को दिए जाने वाले वेतन का बार-बार निरीक्षण करता था ताकि उन्हें निश्चित वेतन से कुछ कम न दिया जाए और मुक्ता उसमें से कुछ कमीशन न काट लें। **बरनी** लिखता है कि ''ग्यासुद्दीन अपने अमीरों, मालिकों व अक्तादारों को कहा करता था कि सेना के वेतन में से एक दाम का भी लोभ मत करो। यह तुम्हारे हाथ में है कि अपने पास से सेना को कुछ दो अथवा न दो किन्तु सेना के लिए जो निश्चित हो चुका है, यदि उसमें से तुम आशा करते हो तो फिर अमीरी और मलिकी का नाम न लेना।''

मुहम्मद तुगलक ने सेना को वेतन नकद व उक्ता दोनों प्रकार से दिया। **मसालिकुल-अबसार** के लेखक **शिहाबुद्दीन अल उमरी** ने मुहम्मद तुगलक के वेतन का जिक्र किया है। प्रत्येक मलिक को 60,000 से 50,000 टका, प्रत्येक अमीर को 40,000 से 30,000 टका, सिपहसालार को 20,000 टका व अन्य कर्मचारियों को 10,000 से 1000 टका तक प्राप्त होते थे। इसके अतिरिक्त उन्हें भोजन वस्त्र एवं जानवरों के लिए चारा मुफ्त मिलता था जो सैनिक सेनाध्यक्षों के अधीन होते थे, उन्हें सीधे शाही खजाने से वेतन का भुगतान किया जाता था। मुक्ता के अधीन सैनिकों का वेतन उनकी अक्ता से प्राप्त आय के एक भाग से दिया जाता था। मुहम्मद तुगलक ने प्रांतों में फौजदार को नियुक्त किया जो सेना संबंधी मामलों को देखभाल करता था। इस प्रकार मुहम्मद तुगलक ने नकद वेतन व अक्ता दोनों प्रकार से वेतन दिया। विभिन्न कारणों के कारण फिरोजशाह तुगलक के काल में राज्य की सेना की संख्या व संगठन में गिरावट आयी। फिरोज ने प्रचलित प्रथाओं-दाग, हुलिया, सैनिक निरीक्षण-आदि को बनाए रखने का प्रयास किया पर उसकी कमजोर नीति के कारण सैनिक अनुशासन डगमगा गया। फिरोज ने अक्ता के रूप में वेतन की प्रणाली को पुनः लागू किया। अब सैनिक नकद वेतन के स्थान पर भूमि या गाँव के लगान के रूप में वेतन पाने लगे। वे वजहदार कहलाते थे। **अफीफ** लिखता है कि इस तरह सारे प्रदेशों, नगरों व गाँवों को सैनिकों के बीच वेतन के रूप में बाँट दिया गया।

इसके अतिरिक्त फिरोज के समय सैनिक सेवा को भी वंशानुगत कर दिया गया। अयोग्य व व द्धों को भी सैनिक सेवा में असमर्थ होने पर भी सेवा में बने रहने दिया गया। **अफीफ** बताता है कि सुल्तान ने यह नियम बना दिया कि यदि किसी सैनिक कर्मचारी

की म त्यु हो जाए तो उसकी जीविका उसके पुत्र को प्रदान कर दी जाए और यदि किसी के पुत्र न हो तो दामाद को दे दी जाए और यदि दामाद भी न हो तो उसके दास को दे दी जाए और यदि दास भी न हो तो उसके किसी सम्बन्धी को प्रदान कर दी जाए। यदि वह भी न हो तो म तक की स्त्रियों को दे दी जाए। परन्तु राज्य की ओर से उक्ता को वापिस नहीं लिया जाता था।

शांतिकाल में सेना को सक्रिय व चुस्त रखने के लिए अन्य उपाय नहीं निकाले गए। सैनिक आलसी व निकम्मे बनने लगे। पहले यह नियम था कि व द्ध सैनिकों के स्थान पर नवयुवक सैनिक भर्ती कर लिए जाते थे किन्तु जब व द्ध लोगों के एक प्रतिनिधि मण्डल ने सुल्तान से यह निवेदन किया कि जीवन भर राजा की सेवा के बाद अब उन्हें मरने के समय असहाय अवस्था में छोड़ देना कहाँ तक न्यायसंगत है **अफीफ** बताते हैं कि सुल्तान ने आदेश निकाला कि किसी व द्ध को सेना में से न निकाला जाए पर क्योंकि वह स्वयं सैनिक कार्य के लिए अनुपयुक्त है, इसलिए वह अपने स्थान पर अपने परिवार में से किसी दूसरे व्यक्ति को भेज दे। इसके परिणामस्वरूप फिरोज तुगलक के काल में सेना बिल्कुल अयोग्य, अव्यवस्थित एवं पंगु हो गई। उसने सेना में दासों को भर्ती करना प्रारम्भ कर दिया। इसके बहुत भयंकर परिणाम निकले व राज्य के मामलों में हस्तक्षेप करने लगे व खुले आम षडयंत्रों में हिस्सा लेने लगे।

सल्तनतकालीन सैनिक संगठन में घुड़सेना का बहुत महत्व था। भारत में घोड़ों का आयात तुर्की तथा अन्य सुदूर देशों जैसे रूस से किया जाता था। **शिहाबुद्दीन उल-उमरी** लिखता है कि अरबी घोड़े बहरेन, यमन तथा इराक से लाए जाते थे, यद्यपि हिन्दुस्तान के आन्तरिक भागों में अच्छी नस्ल के अरबी घोड़े मिल जाते हें, जिनका मूल्य भी कम होता है। युद्ध के समय सेना के साथ अतिरिक्त घोड़े भेजे जाते थे जिससे युद्ध में काम आए घोड़ों की जगह इन्हें काम में लिया जा सके।

सेना का अन्य महत्वपूर्ण अंग था। वे मूल्यवान समझे जाते थे व मुख्य रूप से बंगाल से प्राप्त किए जाते थे। इस विभाग की देखभाल शहना-ए-पील के अधीन होती थी।

सेना में पदाति सेना का भी अपना ही स्थान था। प्रत्येक पैदल सैनिक तलवार, कटार व धनुष बाण से सुसज्जित रहते थे।

अधिकारी—सेना का कोई स्थायी सेनापति नहीं होता था। सुल्तान ही स्वयं इसका अध्यक्ष व सेनापति था। प्रत्येक अभियान के समय एक सेनानायक की नियुक्ति की जाती थी और उसका कार्यकाल युद्ध की समाप्ति तक ही रहता था।

सैन्य विभाग का अध्यक्ष दीवाने-आरिज होता था। आरिज द्वारा सेना की व्यवस्था, निरीक्षण, दागने, हुलिया रखने व अन्य प्रकार की व्यवस्थाएँ की जाती थी। सेना की भर्ती व प्रशासन को देखना, रसद का प्रबन्ध करना, लूट के माल की प्राप्ति करना इसी विभाग का काम होता था। वर्ष में एक बार सेना निरीक्षण के लिए सुल्तान के समक्ष उपस्थित की जाती थी।

सैनिक संगठन में दुर्गों का उस समय अत्यधिक महत्व था। दुर्ग साम्राज्य की रक्षा करने, शत्रुओं को रोकने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। दुर्ग के चारों ओर खाईयाँ खोदकर कांटेदार व क्ष व झाड़ियाँ लगा दी जाती थी ताकि शत्रु को शीघ्रता से अपने तक पहुँचने में रोका जा सके। इस किलों (दुर्गों) में अनुभवी व विवेकशील सेनानायक नियुक्त किए जाते थे जो कोतवाल कहलाते थे। अलाउद्दीन के समय के किलों का वर्णन करते हुए **के०एस० लाल** लिखते हैं कि इन किलों में मंजनीक व अर्रादा यन्त्रों के निर्माण के लिए कुशल यान्त्रिकों की नियुक्ति व अनाज व चारे के भण्डार रखने के आदेश दिए गए थे। कोतवाल के अलावा किले में मुफरिद होते थे जो सम्भवतः शस्त्र-अस्त्रों की देखभाल करते थे।

सल्तनत काल में बारुद, गोले या तोपखाने का निर्माण नहीं किया गया था। परन्तु तेरहवीं शताब्दी में तोप के बिगड़े हुए रूप का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त मगरिब, मंजनिक तथा अरादा का वर्णन मिलता है। इनका प्रयोग भारी पत्थर फेंकने या धातु के गोले फेंकने में किया जाता था जिससे दुश्मनों के किलों की दीवारों को नष्ट किया जाता था। चर्ख (शिला तोड़ने वाला अस्त्र) व फलाखून (गुलेल) का भी प्रयोग किया जाता था। गरगच एक चलायमान मंच था जिस पर खड़े होकर घेरा डालने वाले अधिकतम ऊँचाई पर पहुँचकर शत्रु पर आक्रमण कर सकते थे। साबात एक सुरक्षित गाड़ी थी जो दुश्मन के आक्रमण से उनकी रक्षा करती थी। घेरा डालने वाले सैनिक पाशेब बनाते थे जो ढलवाँ टीले जैसा होता था व किले की ऊँची दीवार की ओर जाता था।

राज्य का इस्लामी सिद्धान्त
(Islamic Theory of State)

दिल्ली सल्तनत की स्थापना से भारतीय राज्य की प्राकृत में नए तत्वों का मिश्रण प्रारम्भ हुआ। तत्व राज्य के इस्लामी सिद्धांत का परिणाम थे। इसलिए यह जानना आवश्यक है कि इस्लामी राजशासन का स्वरुप क्या था।

हज़रत मुहम्मद ने पुराने कबीलों की इकाई को समाप्त करने के बाद वर्गभेद व वंशभेद की परम्परा को भी समाप्त किया अनेक कबीलों के प्रधानों ने मुहम्मद को अपना मुखिया बना लिया। धीरे-धीरे मदीना के लोगों ने इस्लाम को विशाल स्वरुप प्रदान कर दिया। मदीना के शहरी राज्य में हजरत मुहम्मद ने मुस्लिम समाज को एक राजनीतिक संगठन का रूप दिया। इनका सामाजिक संगठन वंश संबंधों पर नहीं, बल्कि धार्मिक आदर्शवाद पर निर्भर था। इस्लाम में अल्लाह को केन्द्र में रखते हुए राज्य स्थापित किया गया। जिसमें राजनीतिक अधिकार ईश्वरीय कानून या शरियत में निहित थे। शरियत या दैवी कानून कुरान में स्पष्ट किए गए हैं—और इनका समर्थन सुन्ना अर्थात् पैगम्बर द्वारा बनाए गए सिद्धान्त में किया गया है, जो कि पैगम्बर के उपदेश हैं। कुरान के अधिनियमों में किसी विशेष प्रकार का राज्य नहीं बताया गया है।

कुरान में केवल तीन सामान्य सिद्धान्त संकेत रूप में दिए गए हैं, जिन पर विश्वास करना सभी मुस्लिम धर्मावलंबियों के लिए आवश्यक है :

1. जब जनता पर शासन किया जाए, न्यायसंगत शासन करो।
2. अपने कार्यों को सलाह-मशविरा के साथ पूरा करो।
3. अल्लाह की आज्ञा को मानो, पैगम्बर की आज्ञा मानो और अपने से विद्वान व अधिकार में बड़े लोगों की आज्ञा का पालन करो।

कुरान में वर्णित दर्शन के अनुसार संप्रभुता केवल अल्लाह में स्थित है, शेष सब मात्र उसकी प्रजा है। उसके अतिरिक्त कोई कबीला, समुदाय, वर्ग यहाँ तक कि किसी राज्य की संपूर्ण जनसंख्या भी संप्रभु नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण विधायी शक्तियाँ भी अल्लाह में निहित है। अल्लाह द्वारा निर्धारित नियमों अथवा विधियों में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। इस्लामी राज्य अल्लाह द्वारा पैगम्बर के माध्यम से प्रदत्त विधि पर ही आधारित होना चाहिए। कोई भी सरकार इस राज्य को चलाने व आज्ञा पालन का अधिकार केवल अल्लाह के कानून को कार्यन्वित करने वाले राजनीतिक अभिकरण के रूप में होगी और केवल उसी सीमा तक होगी जहाँ तक वह अल्लाह के अभिकरण की क्षमता में कार्य करेगी।

कुरान में किसी भी वर्ग को विशेष अधिकार नहीं दिए गए हैं—न जन्म से कोई वैभवशाली माना गया है और न किसी को पुरोहित के विशेषाधिकार दिए गए हैं। सामाजिक रूप से सबसे महान और सामान्य जन में कोई अन्तर नहीं है। सामाजिक रूप से इस्लाम कोई प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य को नहीं मानता और न ही कोई राजा या राजवंश को स्वीकार करता है। शुरू में इस्लाम की राजनीति प्रजातांत्रिक थी, किन्तु धीरे-धीरे इसमें परिवर्तन हुए है। शरा में बतलाए गए कानूनों की प्रधानता इस्लाम की राजनीति का आधार है। कुरान सभी मुसलमानों के लिए अनिवार्य धार्मिक ग्रन्थ है जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती।

इस प्रकार हज़रत मुहम्मद ने एक सर्वशक्तिमान ईश्वर की शिक्षा दी। **निजामी** के अनुसार स्थानीय कबीलों के व घरों के देवी-देवताओं की जगह एक सर्वोच्च ईश्वर ने ले ली। **शुस्तरी** लिखते हैं कि अल्लाह ही सर्वोच्च है और दूसरे सब उसके अधीन हैं व उसके आदेश को पूरा करने के लिए सब आपस में संगठित है। हर वस्तु चाहे वह आध्यात्मिक हो, चाहे भौतिक ईश्वर में ही निहित है। हज़रत मुहम्मद भी खुदा के आदेश का पालन करने वाले थे। इस प्रकार समस्त शक्ति अन्त में खुदा के पास ही थी और वह ही सर्वोच्च शासक, कानूनवेत्ता व सर्वशक्तिमान स्वामी था। उन बातों में जिनके विषय में कुरान पूरी तरह ज्ञान नहीं देती, हज़रत मुहम्मद के कार्यों व कथनों की ओर देखा जाता और जहाँ पैगम्बर के कार्य भी समस्या का हल न निकाल सकते, वहाँ उन व्यक्तियों की राय, जिन्हें राय देने का अधिकार है, पर भरोसा करके फैसला किया जा सकता था। इस प्रकार कुरान व हदीस मुसलमानों के लिए कानून थे और उन्हें राजशासन में तत्कालीन प्रभुसत्ता सम्पन्न माना जा सकता है।

पैगम्बर ने अपने उत्तराधिकारी के बारे में कोई नियम नहीं बनाए। अबू बकर को आम राय से खलीफा चुना गया। इस प्रकार जो राजनीतिक सत्ता उभर कर आई, वहीं एक प्रकार का आधार बन गई। चुनाव में बहुत कम लोगों ने हिस्सा लिया पर

उसके पीछे विचार यह था कि वे थोड़े से व्यक्ति सारे मुस्लिम समाज के प्रतिनिधि थे। कुरान में खलीफा शब्द प्रतिनिधि के लिए प्रयुक्त हुआ है। खलीफा एक प्रकार से पैगम्बर का प्रतिनिधि, समाज का नेता था। खलीफा का अधिकार इस बात पर निर्भर था कि वह सरकार को कितना सुव्यवस्थित कर सकता था। खलीफा बनने के अबू बकर ने अपने उद्घाटन भाषण में कहा, कि मुझे आप लोगों की सलाह व सहायता की आवश्यकता है। यदि मैं ईश्वर के आदेशों व हजरत मुहम्मद के कार्यों का पालन नहीं करता तो लोगों को विरोध व आंदोलन करने का अधिकार है। इस प्रकार खलीफाओं के समय से राजनीति प्रजातान्त्रिक हो गई व यह विचार उत्पन्न हुआ कि प्रभुसत्ता समस्त जनता में निवास करती है न कि किसी खास व्यक्ति में और खलीफा उन सबका चुना हुआ नेता था वह जनता के प्रति उत्तरदायी था। उसके आदेशों का पालन करना सिर्फ उस हद तक लोगों द्वारा अनिवार्य था, जहाँ तक वह कुरान या वे परम्पराएँ जो हज़रत मुहम्मद द्वारा स्थापित हुई, के विरुद्ध न जाते हों।

शुरा का विचार उस समय प्रचलित था। जब किन्हीं गम्भीर प्रश्नों का हल करना होता तो सब महत्वपूर्ण व्यक्ति एक स्थान पर एकत्रित होते व अपने-अपने विचार देते थे व समस्या का हल किया जाता था। शुरा को इस्लामिक प्रशासन का मुख्य आधार माना जाता था। खलीफा उमर प्रथम ने यह स्पष्ट रूप से घोषित किया कि 'विचार-विमर्श के बिना कोई खिलाफत नहीं हो सकती।' इस प्रकार शुरा सरकार का एक महत्वपूर्ण अंग थी।

इस्लामी कानून बादशाह को राजनीतिक संस्था के रूप में स्वीकार नहीं करता और इस कारण उत्तराधिकारी के कानून को भी स्वीकार नहीं करता। खलीफा द्वारा नियुक्ति व निष्ठा की शपथ ही काफी समझी जाती है। इस्लामी राज्य एक धर्मतंत्रात्मक राज्य था जिसमें अल्लाह ही को बादशाह माना जाता था। उसके द्वारा बनाए गए कानून ही संविधान के रूप में माने गए हैं। कुरान के नियमों के अनुसार छोटे नगर या राज्य पर शासन करना सम्भव था, जहाँ जनता की राय सीमित थी और मदीना इसी प्रकार का राज्य था। लेकिन मध्य युग के विशाल व विविधतामुक्त राज्यों पर कुरान के नियमों को लागू करना कठिन था। पैगम्बर ने भी भविष्य में होने वाले परिवर्तनों में सरकार चलाने के लिए कोई प्रतिबंध नहीं लगाए व नियमों को जातिगत समझौतों पर छोड़ दिया। प्रारम्भिक खलीफा का शासन जनमत के ऊपर आधारित था परन्तु जब खलीफा के स्थान पर शासक की वंशगत परम्परा आरम्भ हो गई तो उसने सारे अधिकार अपने हाथ में लिए। आम राय के आधार पर खलीफा का चुनाव पैगम्बर के पश्चात मुश्किल से तीस वर्ष चल पाया और चौथे खलीफा अली के समय से ही विरोध प्रारम्भ हो गया जो अंततः उनके वध और उनके पुत्र हसने को हटाने में परिणत हुआ। यहाँ से इस्लाम की राजनीति में नया युग प्रारम्भ हुआ। उमैय्यद वंश के मुआविया ने खिलाफत को राजतंत्र में परिवर्तित कर दिया। मुआविया शक्ति के आधार पर खलीफा बना न कि चुनाव के आधार पर अपने लड़के यजीद को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया व उसके उत्तराधिकार को स्वीकृत भी करवाया। इससे अभिप्राय यह था कि वास्तव में शक्ति खलीफा के पास थी चाहे वह लोगों की मर्जी के अनुसार हो या उनकी इच्छा के विरुद्ध। पवित्र खलीफाओं के हाथ में प्रभुसत्ता उस वक्त आती थी जब वे लोगों द्वारा चुने जाते लेकिन उमैय्यद खलीफाओं ने प्रभुसत्ता पहले ग्रहण की व फिर उसे लोगों द्वारा स्वीकार करवाया जाता। इस प्रकार उमैय्यद खलीफाओं के अधीन खिलाफत का स्वरुप बदल गया। वह अधिक राजतांत्रिक, अधिक निरंकुश व अधिक वंशीय वस्तु बन गई।

इस्लाम की राजधानी मदीना से दमिश्क में बदल दी गई। मुआविया ने उमैय्यद वंश से राजनीतिक दल के रूप में संगठित किया। इस्लामी राष्ट्रमंडल भी संगठित हुआ। परन्तु उसके रूप में भारी परिवर्तन हुआ—एक धर्मतंत्र राज्य ने अब धर्म निरपेक्ष राज्य अर्थात् लौकिक राज्य का रूप ग्रहण किया। उमैय्यद शासक राजनीति में विश्वास रखते थे। उन्होंने समस्त समस्याओं का व्यवहारिक समाधान ढूंढने की कोशिश की और एक ऐसे समाज की स्थापना की जिसमें कुलपति मुख्य था। सरकार बनाने के लिए शासकों के पास केवल दो रास्ते थे—प्रारम्भिक इस्लाम के प्रजातांत्रिक रूप को स्वीकार करना, जिसका परिणाम था आंतरिक अव्यवस्था तथा विद्रोह या सर्वाधिक केन्द्रित राज्य बनाना। उन्होंने दूसरी प्रथा को अपनाया और कोई प्रशासन संबंधी उद्देश्य नहीं अपनाए। वर्गीय स्वार्थ और ऐश्वर्य की इच्छा ने उनके आंदोलन को कमजोर कर दिया।

आठवीं शताब्दी के मध्य में खुरासान में आंदोलन शुरू हुआ, जिससे उमैय्यद वंश का पतन हुआ और अब्बासी वंश की स्थापना हुई। पैगम्बर के चाचा अब्बास के वंशजों ने चतुराई के साथ ईरानियों तथा शियाओं के सहयोग से उमैय्यद वंश का नाश करके स्वयं खलीफा का पद प्राप्त किया। उनका दावा था कि वे उसी कबीले के सदस्य थे जिस कबीले के हजरत मुहम्मद थे और इसी कारण उन्हें भी पवित्र माना जाना चाहिए। अब्बासी खलीफाओं ने दमिश्क को छोड़कर बगदाद को अपनी राजधानी बनाया। लेकिन जैसा कि **शुस्तरी** कहते हैं, ''एक वंश की बजाए दूसरे वंश के आ जाने से निरकुंशता लोकतंत्र में परिवर्तित

नहीं हुई''। यद्यपि अब्बासी खलीफा कट्टर मुसलमान थे, तथापि उन्होंने गैर-अरबों, जैसे ईसाई और यहूदियों और ईरानियों को भी, प्रशासन में शामिल किया। यह दिखाने के लिए कि राजनीतिक सत्ता धार्मिक आधारों पर निर्भर है, प्रथम अब्बासी खलीफा अब्बास ने पैगम्बर का लबादा विशेष उत्सव पर पहना। अब्बासी खलीफाओं ने सत्ताधारी राज्य को राजनीतिक परम्परा के रूप में अपनाया किन्तु उन्होंने ईरानी सर्वसत्ताधारी परम्परा को भी जारी रखा। खलीफाओं के समय एक बड़ा परिवर्तन दैवी अधिकार का प्रारम्भ होना था जो ससानिद परम्परा के अनुसार था। उनके समय यह विचारधारा उत्पन्न हुई कि खलीफा को किस प्रकार का होना चाहिए।

इब्न-अल-मुकफ्फा, जो एक ईरानी था और दैवी अधिकार के सिद्धान्त का पहला लेखक था, कहता है कि 'जहाँ तक खलीफा का आदेश मानने का प्रश्न है, यह विचार का विषय है। लेकिन समस्त राजनीतिक शक्ति इमाम के हाथों में केन्द्रित है व कोई दूसरा व्यक्ति उसका अधिकारी नहीं हो सकता। वह शक्ति है—आदेश देना व लोगों से आज्ञाकारिता हासिल करना।' इस तरह इस कथन में वह यह बतलाता है कि समस्त शक्तियाँ इमाम (खलीफा) के हाथों में है। वह कहता है कि 'अल्लाह ने अपनी विचारधारा प्रकट करने के बाद बाकी समस्त बातें इमाम पर छोड़ दी हैं। इस विषय में लोगों का कोई अधिकार नहीं है, सिर्फ इसके कि जब उनसे राय माँगी जाए, वे तभी अपनी राय दें व इमाम के पीछे अच्छाई करने का पूरा-पूरा प्रयत्न करें। पर इसके साथ ही खलीफा की शक्ति पर प्रतिबंध लगाते हुए मुकफ्फा कहता है कि 'खलीफा सिर्फ उसी बात को कर सकता है, जिसका आदेश ईश्वर ने दिया है। अगर वह इसके विरुद्ध जाए तो लोगों को उसके आदेश न मानने का अधिकार है लेकिन अगर उस कार्य के लिए इमाम के पीछे कुरान व हदीस की मान्यता है तो लोगों को उसका पालन करना आवश्यक है।

हसन के शासनकाल में उसके राज दरबार और महलों में कोने-कोने से उनके विद्वान, कवि और कलाकार बगदाद आए। हसन के समय में अबू यूसुफ (731-98) ने, जो कि सर्वोच्च न्यायाधीश था, न सरकार के सिद्धान्त बनाए। ये सिद्धान्त **किताब-उल-खिराज़** नामक पुस्तक में संकलित हैं। यह पुस्तक जमीन व कर के मामले में एक प्रकार की नियमावली है और इसकी भूमिका में अबू यूसुफ ने लिखा कि 'खलीफा को धर्मभीरु होना चाहिए। उसे न्याय और समानता के नियमों के अनुसार शासन करना चाहिए। नहीं तो न्याय के दिन उसे दण्ड भुगतना पड़ेगा।' अबू यूसुफ ने उन प्रतिबन्धों का जो मुकफ्फा ने खलीफा की शक्तियों पर लगाए थे, का विचार ही समाप्त कर दिया। उसने विचार दिया कि खलीफा का पूरी तरह से आदेश मानना आवश्यक है। उसके अनुसार खलीफा केवल खुदा के प्रति उत्तरदायी है। इस प्रकार दैवी अधिकार के विचार का आरम्भ हो गया।

एक अन्य विद्वान अल-भावर्दी (997-1057 ई0) था, जिसकी पुस्तक **अहकामुस सुल्तानिया** है। इस पुस्तक में शासन संबंधी नियमों का वर्णन है। उसने पहली बार यह विचार दिया कि खलीफा व लोगों के बीच एक समझौते का सम्बन्ध है। वह इस समझौते को शरीयत के आधार पर अनिवार्य समझता है। उसने खलीफा के लिए शर्तें निर्धारित की और उसकी नियुक्ति के विषय में दो तरीके बताए—1. चुनाव, 2. पहले खलीफा द्वारा नियुक्ति। चुनाव की प्रक्रिया पर जोर डालते हुए उसने कहा कि खलीफा का चुनाव होना चाहिए चाहे उसे चुनने के लिए एक ही व्यक्ति क्यों न हो। उसका मानना था कि खलीफा व अमीरों के बीच किसी न किसी प्रकार का समझौता होना आवश्यक है। अमीरों को कुछ शक्तियाँ व रियायतें प्रदान करनी आवश्यक है। उन रियायतों की साधारण शक्ल यह थी कि किसी व्यक्ति को किसी प्रदेश पर खलीफा के नाम से शासन करने का अधिकार दिया जाए। वे प्रदेश जो अमीरों द्वारा जीते जाएँ, उन्हें खलीफा की मान्यता प्राप्त होना आवश्यक था।

अल-भावर्दी, अल मुकफ्फा के सिद्धान्तों को वापिस ले आया कि अगर शासक शरियत के अनुसार कार्य नहीं करेगा तो लोगों को उसके विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार है।

इस प्रकार यद्यपि नाम में तो प्रभुसत्ता इस्लाम में अल्लाह व कुरान में ही निहित रही लेकिन व्यवहार में राज्य चलाने के लिए समय बीतने के साथ उसमें काफी परिवर्तन आ गया। बाद में बदलती स्थिति के कारण तुर्क प्रशासक बने और उन्होंने एक विशाल साम्राज्य पर शासन किया जो कि पूर्वीय भूमध्य सागर से चीन की सीमा रेखा तक विस्त त था। नवीं शताब्दी के अन्त में अब्बासी खलीफाओं का पतन आरम्भ हुआ। दसवीं शताब्दी में कई वंश शक्तिशाली थे। औपचारिक रूप से इन्होंने खलीफा की सत्ता को स्वीकार किया परन्तु वास्तव में वे स्वतंत्र राज्य थे। इनमें से महत्वपूर्ण थे—1. ताहिरिद, 2. सफाविद, 3. समानिद, 4. बूईद। इन वंशों ने अपनी स्वतंत्र राजनीतिक संस्थाएँ प्रारम्भ की और ऐसी सरकार बनायी जो शांति कायम रख सके व वाणिज्य व व्यवसाय को बढ़ावा दे सके।

इस प्रकार हज़रत मुहम्मद की म त्यु के समय तक तो मुस्लिम राज्य ताकतवार और भली-भांति संगठित हो चुका था। यह राज्य तात्विक रूप से एक ऐसा संगठित मुस्लिम समुदाय था जो इस्लामी मान्यताओं को सुरक्षित रखने, उनका प्रचार-प्रसार करने एवं उन्हें जीवन में उतारने के लिए सुविधाएँ प्रदान करने वाली एक धार्मिक इकाई था। एक स्वतंत्र समाज के रूप में अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए यह एक राज्य के रूप में संगठित हुआ ताकि अपना इस्लामी चरित्र बनाए रखते हुए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दबावों का सामना कर सके। इस्लाम में आस्था रखने वाला यह संगठित समुदाय **उम्मत** कहलाता था और इस्लामी राज्य का केन्द्र बिन्दु था। इस्लाम के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ जब यह समुदाय आकार एवं प्राधिकार में बढ़ता गया तो एक ऐसे राज्य की संकल्पना विकसित होती गई जिसके साथ कोई सीमांकित भू-क्षेत्र हो, एक प्रभुत्ता सम्पन्न शासक हो और एक शासक-वर्ग भी हो। यह प्रवर्तन गजनी के सुल्तान महमूद गजनवी के समय में सम्पन्न हुआ जिसे आजम अर्थात् दुनिया का पहला सुल्तान माना गया और राज्य की संकल्पना अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची।

सहायक ग्रंथ सूची :

एम० मुजीब — इण्डियन मुस्लिमस

आर० पी० त्रिपाठी — सम अस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन

शुस्तरी — एन आउट लाइन ऑफ इस्लामिक कल्चर

शरवानी — मुस्लिम पॉलिटिकल थॉट एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन

के०ए० निजामी — सम अस्पेक्टस ऑफ रिलिजन एण्ड पॉलिटिक्स डयूरिंग द थर्टिन्थ सेन्चुरी

अध्याय—11
विजयनगर साम्राज्यः ढाँचा, विशेषताएँ एवं स्वरूप
(Vijayanagara State: Structure, Features and Nature)

विजयनगर साम्राज्य सल्तनत युग में हिन्दू राज्य के रूप में अस्तित्व में आया। इस साम्राज्य की स्थापना के विषय में कई मत प्रचलित है पर **बी. ए. सेलिटोर व कुलके** व **रोथरमंड** को छोड़कर लगभग अन्य इतिहासकार इस मत से सहमत है कि विजयनगर साम्राज्य की स्थापना 1336 ई. में हरिहर व बुक्का ने की जो **कुलके व रोथरमंड** के अनुसार दिल्ली सल्तनत की चुनौती की प्रतिक्रिया और उसकी दुर्बलता का सीधा परिणाम थी। 14वीं से 16वीं शताब्दी के बीच तुंगभद्रा और कृष्णा नदियों के दक्षिण भाग में स्थित लगभग सभी राज्य-तमिल, तेलगु व कोंकण क्षेत्र - विजयनगर साम्राजय का अंग थे।

निरन्तर संघर्षों के कारण विजय नगर राज्य की सीमाएँ परिवर्तित होती रही। 1336-1422 ई. के मध्य मुख्य संघर्ष विजयनगर एवं बहमनी शासकों के मध्य हुए, जिसमें विजयनगर का पलड़ा भारी रहा। 1422-46 के दौरान कृष्ण और तुंगभद्रा नदियों के मध्य स्थित रायपूर दोआब के अधिकार को लेकर विजयनगर और बहमनी शासकों के मध्य संघर्ष छिड़ा जिसमें विजयनगर सेना की कमियाँ उभर कर आय व इसमें विजयनगर की हार हुई। 1490 के आसपास बीजापुर की स्थापना के बाद बहमनी राज्य में आंतरिक विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई और इसी स्थिति का लाभ उठाते हुए विजयनगर ने तुंगभद्रा क्षेत्र पर कब्जा करने में सफलता पायी। इस तरह पश्चिमी बंदरगाहों को फिर से प्राप्त करने के बाद घोड़ों का व्यापार पुनः प्रारम्भ हुआ। इसके फलस्वरूप घोड़ों की निरंतर आपूर्ति से विजयनगर सेना की कार्यक्षमता को बल मिला।

सदाशिव (1542-72) के शासनकाल में वास्तविक सत्ता रामराय के हाथों में रही। उसने साम्राज्य के प्रशासन में बुनियादी परिवर्तन किए रामराय अपने सम्पूर्ण शासनकाल में किसी न किसी राज्य के आंतरिक मामले में हस्तक्षेप करने में व्यस्त रहा जो अंततः विजयनगर साम्राज्य के लिए घातक सिद्ध हुआ। 23 जनवरी, 1565 ई. को तालीकोट के प्रसिद्ध युद्धक्षेत्र में बीजापुर, गोलकुण्डा, बीदर व अहमदनगर की सुयंक्त सेनाओं ने विजयनगर की सेना को बुरी तरह पराजित किया। **ए फोरगोटन एम्पायर** के लेखक **सेवेल** लिखते हैं कि संसार के इतिहास में कभी भी इतने वैभवशाली नगर का इस प्रकार सहसा सर्वनाश नहीं किया गया, जैसा कि विजयनगर का। यद्यपि इस युद्ध के बाद विजयनगर राज्य एक शताब्दी तक जीवित रहा, तथापि उसका वैभव व शक्ति नष्ट हो गई।

ठाँचा

केन्द्रीय व्यवस्था

विजयनगर साम्राज्य में राजा प्रशासन का प्रमुख था तथा सर्वोच्च सत्ता का स्वामी था। इस काल में प्राचीन भारत की भांति राज्य की सप्तांग विचारधारा पर ज़ोर दिया जाता था। विजयनगर के प्रसिद्ध शासक कृष्णदेवराय ने अपनी रचना **अभुक्तमाल्यदा** में यह स्पष्ट किया है कि राज्य के सात अंगों में राजा की स्थिति सबसे महत्वपूर्ण होती है तथा उसमें अपने आदेश लागू करने की क्षमता होनी चाहिए। उससे अपेक्षा की जाती थी कि वह प्रजा के हित का ध्यान रखे। राजा के अभिषेक समारोह व उस पर ली गई शपथ से जैसा कि **टी. वी. महालिंगम** का मानना है कि वैदिक युगीन राजा की अवधारणा से समानता भी प्रदर्शित होती है। राजा को चुनने में राज्य के मंत्रियों और नायकों की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका होती थी, जैसे वीर नरसिम्हा की म त्यु पर कृष्णराय को राजा बनाने में सालुवा तिम्ना नामक मुख्य प्रधानमंत्री तथा सदाशिव महाराय को राजा बनाने में रामराज नामक मंत्री ने प्रमुख भूमिका निभाई।

राजा के प्रमुख कार्य थे-

1. प्रजा को कष्टों से मुक्त रखना,
2. प्रान्तीय शासकों के शोषण की संभावना समाप्त करना,
3. जाति धर्म का अनुपालन करना और करवाना,
4. कृषि और व्यापारिक सम द्धि को प्रोत्साहन देना,
5. राज्य के सारे युद्ध व शांति सम्बन्धी आदेशों की घोषणा करना,
6. दान की व्यवस्था करना,
7. नियुक्तियाँ करना तथा प्रजा के मध्य सद्भाव उत्पन्न करना,
8. विदेशी व्यापारियों को सुरक्षा प्रदान करना,
9. उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देना,
10. दंड धारण करना व न्याय प्रदान करना।

विजयनगर संबंधी उल्लेखों में यह स्पष्ट विवरण मिलते हैं कि राजा राज्य की सुरक्षा के साथ-साथ प्रजा के सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक कल्याण के प्रति भी सजग थे। परन्तु विजयनगर के शासक विधि-निर्माता नहीं थे। वे वेदों, स्म तियों, धर्मशास्त्रों व परम्पराओं से प्राप्त नियमों एवं विधियों के आधार पर धर्म का संरक्षण व प्रजा की रक्षा करते थे। शासक यद्यपि दैवीय शक्ति को अपनी सत्ता का आधार मानते थे, पर यह सत्ता असीमित नहीं था। उस धर्म, परम्परा, मंत्रिपरिषद् व जनमत का अंकुश था। **वी० स्मिथ** विजयनगर शासक को एक सर्वाधिकारवादी निरंकुश शासक मानते हैं जिस पर किसी प्रकार का कोई अंकुश नहीं था। परन्तु इस समय के शिलालेखों व रचनाओं में राजा के कल्याणकारी कार्यों में राजा के कल्याणकारी कार्यों व प्रजा के प्रति सद्व्यवहार रखने का बहुत बार उल्लेख हुआ है, जिससे यह साफ प्रतीत होता है कि यह शासक केवल योद्धा शासक अथवा सर्वशक्तिशाली राजा ही नहीं थे बल्कि प्रजा का कल्याण उनके लिए एक धार्मिक दायित्व था। धर्म व परम्परा की सीमा में वे बंधे हुए थे व राजकीय परिषद् उन पर अंकुश का काम करती थी।

इस काल में उत्तराधिकार संबंधी संघर्ष की संभावना बहुत कम थी क्योंकि राजा के ठीक बाद युवराज का पद होता था जो सामान्यतः राजा का ज्येष्ठ पुत्र होता था। पुत्र न होने पर राजपरिवार के किसी योग्य पुरुष को युवराज घोषित कर दिया जाता था। युवराज की नियुक्ति के बाद उसका अभिषेक किया जाता था। युवराज से शासन की सैद्धान्तिक जानकारी होने की अपेक्षा की जाती थी। इस काल में से बंधुओं के एक साथ सम्राट होने के वर्णन मिलते हैं, जैसे हरिहर व बुक्का बंधुओं ने एक साथ ही विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की और सहवर्ती शासक के रूप में शासन किया। व द्धावस्था प्राप्त होने पर राजा युवराज के पक्ष में राजगद्दी का त्याग करना उचित समझते थे।

विजयनगर नरेश अपने अभिलेखों में बार-बार धर्म के अनुरूप अर्थात् न्याय व समता के सिद्धान्तों के अनुसार शासन करने का उल्लेख करते हैं। साम्राज्य की सामाजिक एकता शांति बनाए रखने में वे हमेशा प्रयत्नशील रहे। उनका व्यक्तिगत धर्म कुछ भी रहा हो, लेकिन उन्होंने धर्म के मामले में हमेशा एक विशुद्ध धर्म निरपेक्ष नीति का अनुसरण किया। यहाँ तक कि उन्होंने अपने धर्मावलंबियों के मुकाबले विधर्मियों व अल्पमत के लोगों को संरक्षण प्रदान किया। वे अपने राज्य की आर्थिक प्रगति के प्रति भी बहुत सजग थे। कृषि उत्पादन की व द्धि और व्यापार की सम द्धि उनके शासन का एक प्रमुख लक्ष्य था। वे न्याय व दंड को शांति व सुरक्षा के लिए परम आवश्यक मानते थे। सम्राट् स्वयं न्याय का सर्वोच्च न्यायालय था। दण्ड के मामले में क्रूर दण्डों को उचित नहीं समझा जाता था। इस प्रकार वे एक निरंकुश शासक न होकर स्वयं को जनता के प्रति उत्तरदायी समझते थे। **आभुक्तभाल्यदा** में बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा गया है। अपनी प्रजा की सुरक्षा व कल्याण को हमेशा अपने सामने रखो। राजा का कल्याण तभी होगा जब देश प्रगतिशील व सम द्धिशील होगा।

मन्त्रीपरिषद

मंत्रिपरिषद राजा की सत्ता को नियंत्रित करने में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती थी। राजा राज्य की नीतियों के संबंध में इसी परिषद की सलाह लेता था। यही परिषद राजा का अभिषेक करती और देश का प्रशासन चलाती थी। विजयनगर

साम्राज्य के समय के अभिलेखों तथा ऐतिहासिक वर्णनों में मंत्रिपरिषद् के साथ एक अन्य परिषद का भी उल्लेख मिलता है। जिसे साम्राज्यिक परिषद् कहा जा सकता है क्योंकि **आर. सीवेल** के अनुसार इसमें साम्राज्य के प्रादेशिक शासक, नायक, राजकुमार, व्यापारिक निगमों के प्रतिनिधि आदि शामिल होते थे। इस प्रकार यह परिषद काफी बड़ी होती थी। इस परिषद के बाद केन्द्र में मंत्रिपरिषद होती थी, जिसका प्रमुख अधिकारी प्रधानी या महाप्रधानी होता था। इसकी स्थिति प्रधानमंत्री की भांति होती थी। मंत्रिपरिषद में राजा के कुछ निकटतम सम्बन्धी भी शामिल होते थे। **न्यूनिज़** के व तांत में यह उल्लेख मिलता है कि देव राय II के बीस मंत्रियों में उसका भतीजा भी था। मंत्रिपरिषद के अध्यक्ष को **सभानायक** कहा जाता था। **प्रधानी** भी इसकी अध्यक्षता करता था। यह मंत्रिपरिषद् विजयनगर साम्राज्य के संचालन में सबसे महत्वपूर्ण संस्था थी। अन्य सदस्य विभिन्न विभागों के अध्यक्ष अथवा महत्वपूर्ण अधिकारी होते थे। जैसे **महाशिराः, उपप्रधानी, दंडनायक, सर्वसैन्यधिकारी, सांमताधिकारी, रायाभंडारी, आमात्य तिलक** इत्यादि। **दंडनायक** पद बोधक नहीं था वरन् विभिन्न अधिकारियों की विशेष श्रेणी को दंडनायक कहा जाता था।

केंद्रीय सचिवालय

विजयनगर जैसे विशाल साम्राज्य पर केवल राजा और उसकी मंत्रिपरिषद् ही अकेले शासन नहीं कर सकते थे, अतः केन्द्र में एक सचिवालय की स्थापना की गई थी इस सचिवालय में विभागों का बँटवारा किया गया था और इसमें 'रायसम्' या सचिव, 'कर्णिकम्' अर्थात् एकाउटेंट जैसे अधिकारी होते थे। विशेष विभागों से संबंधित अधिकारियों या विभाग-प्रमुखों के पदों के नाम भिन्न थे जैसे 'मानेयप्रधान', ग हमंत्री होता था। शाही मुद्रा को रखने वाले अधिकारी 'मुद्राकर्त्ता' कहलाता था। इसी प्रकार के अनेक अधिकारियों के द्वारा विजयनगर के केंद्रीय सचिवालय का गठन किया गया था।

प्रांतीय प्रशासन

विजयनगर जैसे विशाल साम्राज्य पर प्रशासन के लिए उसे अनेक प्रांतों में विभाजित किया गया था। ये प्रांत राज्य या मंडल कहलाते थे। विजयनगर साम्राज्य में इन प्रांतों की संख्या लगातार परिवर्तित होती रही और चौदहवीं से सोलहवीं शताब्दी तक प्रांतों का क्रमशः विस्तार होता रहा। कृष्ण देवराय के शासनकाल में प्रांतों की संख्या सबसे अधिक थी। प्रांतों को मंडलों में विभाजित किया गया था। कुछ इतिहासकारों का विचार है कि 'मंडल' राज्य या प्रांत से बड़ी इकाई थे। ज़िले 'कोट्टम' या 'वलनाडु' कहलाते थे। कोट्टम को नाडुओं में विभाजित किया गया, इन्हें आज परगना या ताल्लुका कहा जाता है। इन नाडुओं को 'मेलाग्रामों' में विभाजित किया गया। प्रत्येक 'मेलाग्राम' में पचास गाँव होते थे और प्रशासन की सबसे छोटी इकाई 'ऊर' या ग्राम थे। इस काल में कुल ग्रामों के समूह को 'स्थल' और 'सीमा' भी कहा गया। प्रांतों का विभाजन करने में सैनिक द ष्टिकोण का ध्यान रखा जाता था अर्थात् सामरिक द ष्टि से महत्वपूर्ण और शक्तिशाली क़िले से युक्त प्रदेश को प्रांत के रूप में संगठित किया जाता था।

सामान्यतः प्रान्तों पर राजपरिवार के व्यक्तियों को ही गवर्नर के रूप में नियुक्त किया जाता था। कुछ प्रान्तों पर कुशल और अनुभवी दंडनायकों को भी गवर्नर के रूप में नियुक्त कर दिया जाता था। इन गवर्नरों को प्रांतों में काफ़ी स्वायत्तता प्राप्त थी। इन गवर्नरों का कार्यकाल निर्धारित नहीं होता था और यदि वे कुशल और योग्य होते थे तो काफ़ी लंबे समय तक शासन कर सकते थे। गवर्नर सिक्कों को प्रसारित कर सकता था, नए कर लगा सकता था, पुराने करों को माफ़ कर सकता था और भूमिदान आदि दे सकता था। केन्द्रीय सरकार प्रांत के प्रशासनिक मामले में सामान्यतः हस्तक्षेप नहीं करती थीं, पर यदि प्रांतीय गवर्नर एवं उसके अधिकारी जनता का शोषण और दमन करते थे तो केंद्रीय सरकार प्रांतीय मामलों में हस्तक्षेप करने के प्रति विमुख नहीं रहती थी। प्रांत में कानून एवं व्यवस्था बनाए रखना प्रांतीय गवर्नरों का सबसे प्रमुख उत्तरदायित्व था। गवर्नरों को प्रांतीय राजस्व का एक निर्धारित अंश केन्द्र के पास भेजना होता था। ये प्रांतीय गवर्नर अपने सचिव या एजेंट को केंद्र में रखते थे। शक्तिशाली राजाओं के शासनकाल में ये प्रांतीय गवर्नर निष्ठावान बने रहते थे, परंतु केंद्रीय शासन के कमजोर होते ही वे अपनी शक्ति और प्रभाव का विस्तार करने लगते थें।

नायंकार व्यवस्था

विजयनगर कालीन राजतंत्र और प्रांतीय व्यवस्था के प्रसंग में नायंकार व्यवस्था का उल्लेख आवश्यक है। चोल युग और विजयनगर युग के राजतंत्र के बीच सबसे बड़ा अंतर यही नायंकार व्यवस्था है। इस व्यवस्था की उत्पत्ति, इसके वास्तविक

रूप और व्याख्या के संबंध में इतिहासकारों में बड़ा विवाद है। कुछ इतिहासकारों का कहना है कि विजयनगर कालीन सेनानायकों को नायक कहा जाता था। कुछ अन्य इतिहासकारों का विचार है कि ये नायक वस्तुतः भू-सामंत थे जिन्हें राजा वेतन के बदले अथवा उनकी अधीनस्थ सेना के रख-रखाव के लिए उन्हें विशेष भू-खंड दे देता था, जो 'अमरम' कहलाते थे। 'अमरम' भूमि का उपभोग करने के कारण इन्हें 'अमर-नायक' भी कहा जाता था। सोलहवीं शताब्दी के मध्य में इन नायकों की संख्या लगभग दो सौ थी और इन नायकों को सबसे अधिक तमिलनाडु में नियुक्त किया गया था। तमिल प्रदेश की अधिकांश भूमि को 'अमरम' के रूप में नायकों को वितरित कर दिया गया। इस 'अमरम' भूमि का नायक पूरी तरह से स्वयं उपभोग नहीं कर सकते थे। 'अमरम' भूमिका उपभोग करने के संबंध में उनके दो प्रमुख दायित्व थे। प्रथमतः इससे प्राप्त आय के एक अंश को उन्हें केंद्रीय ख़ज़ाने में जमा कराना पड़ता था। द्वितीयतः उन्हें इसी भूमि की आय से राजा की सहायता के लिए एक सेना रखनी पड़ती थी। प्रत्येक नायक के अंतर्गत रहने वाली सेना का निर्धारण राजा स्वयं करता था। सामान्यतः नायकों की सेना की संख्या और केंद्र में भेजे जाने वाले राजस्व का अंश, 'अमरम' भूमि के आकार पर निर्भर करता था। इसके अतिरिक्त नायकों को अपनी 'अमरम' भूमि में शांति और सुरक्षा बनाए रखने और अपराधों को रोकने का दायित्व भी स्वयं वहन करना पड़ता था। उनके अधिकार क्षेत्र में यदि कहीं चोरी या लूट की घटना हो जाती तो उसकी क्षतिपूर्ति भी उन्हें करनी पड़ती थी। यदि 'नायक' अपने इन दायित्वों का निर्वाह नहीं कर पाते थे तो उनको प्रदान किए गए भू-खण्डों को जब्त किया जा सकता था। कभी-कभी नायकों को शारीरिक रूप से भी दंडित किया जाता था परन्तु उन्हें म त्युदंड देने का हमें कोई प्रमाण नहीं मिलता।

यद्यपि हमने 'नायंकार व्यवस्था' का प्रांतीय शासन व्यवस्था के संदर्भ में उल्लेख किया है परंतु नायक की स्थिति, प्रांतीय गवर्नर की तुलना में निम्न द ष्टियों से भिन्न होती थीः

1. प्रांतीय गवर्नर प्रांत में राजा का प्रतिनिधि होता था और वह राजा के नाम से शासन करता था, जबकि नायक केवल एक सैनिक-सामंत होता था और उसे केवल अपने सैनिक एवं वित्तीय दायित्वों की पूर्ति के लिए कुछ ज़िले या प्रदेश प्रदान कर दिए जाते थे।
2. गवर्नर की तुलना में नायक को अपने प्रदेश में कहीं अधिक स्वतंत्रता प्राप्त थी। राजा सामान्यतः 'नायंकार' प्रदेशों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करता था और किसी विशेष परिस्थितियों अथवा शासन के मामले में पूर्णतया अक्षम होने पर ही नायक को हटाया जा सकता था।
3. नायकों को एक 'अमरम' प्रदेश से दूसरे 'अमरम' प्रदेश में स्थानांतरित करने के प्रमाण हमें नहीं मिलते हैं जबकि गवर्नर को प्रशासकीय आवश्यकता के अनुरूप स्थानांतरित या पदच्युत भी किया जा सकता था।
4. गवर्नर की तुलना में नायक के उत्तरदायित्व भी कहीं अधिक थे। जंगलों को साफ़ करना, कृषियोग्य भूमि का विस्तार करना, कृषि एवं आम सम द्धि की रक्षा करना आदि उसके कुछ प्रमुख दायित्व थे।
5. गवर्नरों को प्रायः 'दंडनायक' कहा जाता था और अधिकांशतः वे ब्राह्मण हुआ करते थे। परन्तु ब्राह्मण नायक होने के द ष्टांत हमें बहुत थोड़े मिलते हैं।
6. प्रांतीय गवर्नरों द्वारा अपने पदों को आनुवंशिक बना लेने का हमें कोई द ष्टांत नहीं मिलते, परंतु नायकों के पद धीरे-धीरे आनुवांशिक हो गए थे।

नायकों को अपने पद की आवश्यकताओं को द ष्टिगत करते हुए केंद्र में दो प्रकार के संपर्क अधिकारी (राजधानी में) रखने पड़ते थे। इनमें से एक अधिकारी साम्राज्य की राजधानी (अर्थात् विजयनगर) में स्थित नायक की सेना का सेनापति होता था और दूसरा विजयनगर में नियुक्त उसका प्रशासनिक एजेंट होता था जिसे 'स्थानपति' कहा जाता था। यदि हम विजयनगरकालीन नायंकार व्यवस्था को समग्र रूप से देखें, तो यह हमें यूरोप के मध्यकालीन सामंतवाद की याद दिलाता है। यद्यपि नायंकार व्यवस्था की यूरोपीय सामंतवाद के साथ तुलना नहीं की जा सकती, परंतु इस व्यवस्था में सामंतवादी लक्षण बहुत अधिक थे।

नायंकार व्यवस्था के गुण और दोषों का विवेचन यहाँ आवश्यक नहीं है। किन्हीं विशेष परिस्थितियों, आवश्यकताओं और गुणों के कारण इस व्यवस्था को स्थापित किया गया था, अतः मूल रूप में यह व्यवस्था निश्चित रूप से उपयोगी रही होगी। धीरे-धीरे इस व्यवस्था में दोष पैदा होने लगे। वित्तीय साधनों और सैनिक शक्ति से युक्त ये नायक विजयनगर के परवर्ती युग में अपनी

स्वतंत्रता की घोषणा और अपने प्रदेशों का विस्तार करने के लिए आपस में युद्ध करने लगे। कमज़ोर शासकों के शासन काल में नायकों की उच्छंखलता और अधिक बढ़ जाती थी। परिणामस्वरूप 'नायंकार व्यवस्था' विजयनगर साम्राज्य के विनाश का कारण बनी। इसी कारण विजयनगर साम्राज्य के परवर्ती दिनों में नायकों की उच्छंखलता को रोकने के लिए 'महामंडलेश्वर' या विशेष कमिशनरों की नियुक्ति की गई और इन्हें सारे दक्षिण भारत में नियुक्त किया गया। यह कार्य कृष्णदेवराय की म त्यु के बाद अच्युत देव राय के शासन काल में उस समय किया गया, जब कृष्णदेवराय की म त्यु का लाभ उठाकर प्रांतीय नायक अपनी स्वतंत्रता की कोशिश करने लगे।

स्थानीय शासन

संपूर्ण दक्षिण भारत के इतिहास में अनेक राजवंशों के उत्थान और पतन के दौरान एक राजनीतिक संस्था- जो बिल्कुल ही दुष्प्रभावित नहीं हुई- वह था स्थानीय शासन। चोल-चालुक्य युग की शासन व्यवस्था के संदर्भ में, हम 'सभा' और 'नाडु' का पहले ही उल्लेख कर आए हैं। यह 'सभा' और 'नाडु' विजयनगर काल में भी प्रचलित रही। इस काल में किसी-किसी प्रदेश में 'सभा' को 'महासभा', अन्यत्र 'ऊर' और 'महाजन' भी कहा जाता था। प्रत्येक गाँव को अनेक वार्डों या मुहल्लों में बाँटा जाता था। इस 'सभा' के विचार-विमर्श में गाँव या क्षेत्र विशेष के प्रमुख लोग हिस्सा लेते थे। विजयनगर कालीन अभिलेखों में इन स्थानीय स्वशासन संबंधी संस्थाओं का खूब उल्लेख है।

इन ग्रामीण सभाओं को नई भूमि या अन्य प्रकार की संपत्ति को उपलब्ध करने और गाँव की सार्वजनिक भूमि को बेचने का अधिकार था। ये सभाएँ ग्रामीणों की ओर से सामूहिक निर्णय भी ले सकती थीं और गाँव की प्रतिनिधि होने के नाते गाँव की जमीन को दान में भी दे सकती थीं। इस प्रकार इन ग्राम सभाओं की स्थिति परिवार के मुखिया की भाँति होती थी। ये ग्राम सभाएँ राजकीय करों को भी एकत्रित करती थीं और इस संबंध में अपने पास भू-आलेखों को भी तैयार रखती थ । यदि कोई भू-स्वामी लंबे समय तक लगान अदा नहीं कर पाता था तो ग्राम सभाएँ उसकी भूमि को भी जब्त कर सकती थीं। किसी प्राकृतिक विपत्ति के आने पर ग्राम सभाएँ राजा से लगान या कर विशेष की माफी के लिए भी निवेदन करती थीं। इस कारण शासन की राजस्व नीति के क्रियान्वयन में इन सभाओं की एक बहुमुखी भूमिका रहती थी।

इस सभाओं के न्यायिक अधिकार भी थे। वे कुछ प्रकार के दिवानी मुक़दमों का फ़ैसला करती थीं और फ़ौजदारी के छोटे-मोटे मामलों में अपराधी को दंड दे सकती थीं। कभी-कभी ये ग्राम सभाएँ सार्वजनिक दानों और ट्रस्टों की भी व्यवस्था करती थीं। ऐसी स्थिति में दानदाता व्यक्ति किसी विशेष धार्मिक कार्य या पुण्य के लिए उक्त गाँव की भूमि को दान में दे देता था जिसकी आय से ग्राम सभा उक्त दान के उद्देश्य की पूर्ति करती रहती थी।

'नाडु' गाँव की एक बड़ी राजनीतिक इकाई था। इसकी सभा को भी 'नाडु; कहा जाता था और इसके सदस्यों को 'नात्तवर' कहा जाता था। इसके अधिकार ग्राम सभा की ही भाँति होते थे परंतु इसका अधिकार क्षेत्र काफ़ी बड़ा होता था। ये स्थानीय संस्थाएँ शासकीय नियंत्रण के बाहर नहीं होती थीं। यदि वे नियमानुसार ग्राम की व्यवस्था नहीं कर पातीं अथवा ग्राम के विभिन्न वर्गों के हितों को संरक्षण नहीं प्रदान कर पातीं तो उन्हें दण्डित किया जा सकता था।

विजयनगर युग में इन स्थानीय संस्थाओं का बड़ी तेजी से पतन हुआ और ये ग्राम सभाएँ, जो चोलयुग में बहुत शक्तिशाली स्थानीय संस्थाएँ थीं, चोल साम्राज्य के पतन के बाद क्रमशः पतनोन्मुख होती गईं। विजयनगर काल में उनका जीवन लगभग समाप्त हो गई। किन्हीं विशेष कारणों एवं परिस्थितियों वश इन स्थानीय संस्थाओं का पतन हुआ जिनका विवेचन करना एक बहुत लंबा प्रकरण है। यहाँ केवल मात्र यह कह देना समीचीन होगा कि विजयनगर सम्राटों ने 'आयगार व्यवस्था' द्वारा स्थानीय प्रदेशों के शासन की व्यवस्था प्रचलित की। इस 'आयगार व्यवस्था' ने स्थानीय स्वायत्तता और इन ग्रामीण गणतंत्रों के मुक्त जीवन का गला घोंट दिया।

आयगार व्यवस्था

नायंकार व्यवस्था की भाँति आयगार व्यवस्था भी विजयनगर-कालीन शासन व्यवस्था की एक बहुत महत्वपूर्ण विशेषता थी। इस व्यवस्था के अनुसार एक स्वतंत्र इकाई के रूप में प्रत्येक ग्राम को संगठित किया जाता था और इस ग्रामीण शासकीय इकाई पर शासन के लिए बारह व्यक्तियों को नियुक्त किया जाता था। इन बारह शासकीय अधिकारियों के समूह को 'आयगार' कहा जाता था। इन अधिकारियों की नियुक्ति सरकार द्वारा की जाती थी। अभिलेखों में इन आयगारों की नियुक्ति और इनके

अधिकारों और कर्तव्यों का अनेक स्थानों पर उल्लेख है। इन आयगारों के पद आनुवांशिक होते थे। आयगार अपने पदों को बेच या गिरवी भी रख सकते थे। उन्हें वेतन के बदले लगान और करमुक्त भूमि प्रदान की जाती थी। आयगारों के काफ़ी दुस्सह उत्तरदायित्व होते थे। अपने अधिकार क्षेत्र में शांति और सुरक्षा बनाए रखना उनका सर्वप्रथम उत्तरदायित्व था। इन ग्रामीण अधिकारियों की बिना जानकारी के न तो संपत्ति को स्थानांतरित किया जा सकता था और न ही दान दिया जा सकता था। भूमि की बिक्री केवल इन्हीं अधिकारियों की जानकारी से हो सकती थी। कर्णिक या एकाउंटेंट नामक आयगार भूमि की ख़रीद या बिक्री की लिखा-पढ़ी तथा तत्संबंधी दस्तावेजों को तैयार करता था।

राजस्व प्रशासन

विजयनगर-कालीन राजस्व व्यवस्था एक बहुत व्यापक विषय है और इस संबंध में समकालीन अभिलेखों में असीमित जानकारी भरी पड़ी है। इसके अतिरिक्त विदेशी यात्रियों के विवरणों से भी हमें इस संबंध में काफ़ी जानकारी प्राप्त होती है। विजयनगर काल में राज्य की आय के अनेक स्रोत थे, जैसे लगान, संपत्तिकर, व्यापारिक कर, व्यावसायिक कर, उद्योगों पर कर, सामाजिक और सामुदायिक कर और अर्थदंड से प्राप्त आय आदि। मध्यकालीन भारत के अन्य भागों की भाँति विजयनगर साम्राज्य में भी आय का सबसे बड़ा स्रोत लगान था।

भू-राजस्व व्यवस्था

विजयनगर काल में भू-राजस्व एवं भूध ति व्यवस्था बहुत व्यापक थी और भूमि को अनेक श्रेणियों में विभाजित किया गया था। भूमि मुख्यतः सिंचाईयुक्त या सूखी जमीन के रूप में वर्गीकृत की जाती थी। इस वर्गीकरण के बाद यह देखा जाता था कि इस भूमि का कोई अंश ब्राह्मणों या मंदिरों को तो दान में नहीं दिया गया है। इसके बाद भूमि विशेष में उगाई जाने वाले फ़सलों के आधार पर भी उनका वर्गीकरण किया जाता था। भूमि के वर्गीकरण के बाद गाँव में जुड़े चरागाहों आदि की जाँच की जाती थी और चरागाह पर चरवाही कर लगता था। लगान का निर्धारण भूमि की उत्पादकता और उसकी स्थिति के अनुसार किया जाता था परंतु भूमि से होने वाली पैदावार और उसकी क़िस्म भू-राजस्व के निर्धारण का सबसे बड़ा आधार थी। विजयनगरकाल में पूरे साम्राज्य में न तो भूमि के पैमाइश की समान व्यवस्था थी और न लगान की दरें ही समान थीं, जैसे ब्राह्मणों के स्वामित्व वाली भूमि से उपज का बीसवाँ भाग और मंदिरों की भूमि से उपज का तीसवाँ भाग लगान के रूप में लिया जाता था। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार की भू-ध तियों के लिए लगान की दरें भिन्न-भिन्न होती थीं।

अन्य विविध कर

लगान के अतिरिक्त मकान, संपत्तिकर, औद्योगिक कर जैसे अनेक करों को राज्य द्वारा वसूल किया जाता था। समकालीन अर्थव्यवस्था से संबंधित ऐसा कोई वर्ग नहीं था जिसे व्यावसायिक कर न देने होते हों। इससे गड़रिये, बढ़ई, धोबी और नाई तक मुक्त नहीं थे। परंतु सोलहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में नाइयों को व्यावसायिक कर से मुक्त कर दिया गया। इसके अतिरिक्त विभिन्न समुदायों से भी कर वसूल किए जाते थे, जैसे मनोरंजन करने वालों और व्यापारिक निगमों एवं श्रेणियों आदि से। सामाजिक और सामुदायिक करों में 'विवाह कर' बहुत रोचक है। यह कर वैवाहिक समारोह के आयोजन के आकार और विवाह में खर्च किए जाने वाले धन पर निर्भर करता था। यह कर वर और कन्या दोनों पक्षों से वसूल किया जाता था पर यदि कोई व्यक्ति विधवा से विवाह करता था तो उससे और उसकी वधू दोनों से कर नहीं लिए जाते थे। विजयनगर नरेशों ने विधवा विवाह को विवाह-कर से मुक्त करके इस प्रकार के विवाहों को न केवल सामाजिक मान्यता प्रदान करने का प्रयास किया वरन् विधवाओं की दयनीय स्थिति में भी सुधार लाने की चेष्टा की। विजयनगर कालीन राजस्व व्यवस्था की प्रायः यह आलोचना की जाती है कि इन विविध करों के द्वारा प्रजा पर करों का दुस्सह बोझ डाल दिया गया। परन्तु इस संबंध में एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि विजयनगर युग में साम्राज्य के सारे वर्गों की आर्थिक सम द्धि में आशातीत व द्धि हुई। अतः राज्य द्वारा इस सम द्धि का कुछ अंश लेना स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त इस काल में करों की संख्या चाहे भले ही अधिक रही हो लेकिन करों की दरें अधिक नहीं थीं। साथ ही विजयनगर नरेश आपातस्थिति में करों को माफ़ करने में भी बड़े उदार थे और प्रजा की आर्थिक सम द्धि उनके सम्मुख सबसे बड़ा उद्देश्य रहता था।

यदि हम विजयनगर कालीन राज्यतंत्र और शासन व्यवस्था का अवलोकन करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि विजयनगर नरेशों

के सम्मुख अपनी प्रजा का कल्याण और उनकी सम द्धि का विकास उनके शासन का मूल-मंत्र था। उन्होंने अपनी प्रजा के हितों का बलिदान करके राज्य के उद्देश्यों और हितों की पूर्ति नहीं की। उनके द्वारा प्रचलित कुछ प्रशासकीय संस्थाएँ, जैसे राजस्व व्यवस्था एंव आयगार व्यवस्था विजयनगर साम्राज्य के विनाश के बहुत बाद तक - ईस्ट इंडिया कंपनी के शासनकाल तक - स्थायी रही और कंपनी के अधिकारियों ने इस व्यवस्था को उपयोगी और लाभप्रद समझकर कुछ संशोधनों के बाद क्रियान्वित किया। इससे समकालीन प्रशासकीय संस्थाओं के महत्व का मूल्यांकन किया जा सकता है।

विशेषताएँ व स्वरूप

समाज

विजयनगर राज्य के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि यहाँ के राजा किसी वर्ण विशेष के हितों की रक्षा करने के स्थान पर समस्त वर्णों के हितों की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझते थे। विजयनगर के सामाजिक व राजनीतिक जीवन में ब्राह्मणों की स्थिति बहुत ऊँची थी। उन्हें किसी भी अपराध के लिए म त्युदंड नहीं दिया जा सकता था। ब्राह्मण विजयनगर की सेना एवं शासन व्यवस्था में अनेक ऊँचे पदों पर आसीन थे। मध्यवर्गों में चेट्टी नामक एक बहुत समूह था। अधिकांश व्यापार इनके हाथ में केन्द्रीभूत था। ये अच्छे लिपिक एवं लेखाकार्यों में दक्ष होते थे। छोटे सामाजिक समूहों में लौहार, स्वर्णकार, पीतल का काम करने वाले, बढ़ई, मूर्तिकार और जुलाहे आदि प्रमुख समुदाय थे। जुलाहे मंदिरों की परिसीमा में भी रहते थे और मंदिर के प्रशासन एवं स्थानीय करों के आरोपण में उनका बहुत बड़ा हाथ था, जबकि डोंबर (जो बाजीगरी का काम भी करते थे) जोगी और मछुआराओं आदि की सामाजिक स्थिति हेय थी। आर्थिक द ष्टि से उपयोगी एवं भू-स्वामित्व वाले वर्गों की स्थिति सम्मानजनक थी।

विजयनगर में दास-प्रथा भी प्रचलित थी। दासों का क्रय-विक्रय होता था। जो व्यक्ति ऋण-दाता को ऋण नहीं दे पाता था या दिवालिया हो जाता था, उसे प्रायः ऋण-दाता का दास होना पड़ता था।

इस युग में स्त्रियों को भोग की वस्तु समझा जाता था। समकालीन स्रोतों में केवल शाही परिवार की स्त्रियों का ही विवरण प्राप्त होता है। राजपरिवार एवं सामंतों के अतिरिक्त अन्य वर्गों में एक पत्नीत्व की प्रथा थी। मंदिरों में देवपूजा के लिए रहने वाली स्त्रियों को देवदासी कहा जाता था। इन्हें आजीविका के लिए या तो भूमि दे दी जाती थी अथवा नियमित वेतन दिया जाता था। बाल विवाह प्रचलित था। इसके कारण दहेज की कुरीति बहुत अधिक बढ़ गई थी। **महालिंगम** ने इन समस्याओं को सामाजिक अधिनियम के रूप में विस्तार से लिखा है। ऐसी स्थिति में ब्राह्मण समुदाय ने मिलकर दहेज को अवैधानिक घोषित करने का निर्णय लिया। राज्य ने इसे स्वीकृति देकर विधान का रूप दिया।

राज्य बुनकरों एवं दस्तकारों जैसे छोटे समुदायों के विवादों में भी हस्तक्षेप करता था। कुछ सामाजिक अपराधियों या जाति के नियमों को तोड़ने वालों को ब्राह्मण सहित जाति-बहिष्कृत होने का भागीदार होना पड़ता था। यदि कोई व्यक्ति किसी सामाजिक अपराध का दोषी होता था तो उसकी सम्पत्ति या भूमि राज्य के निर्देश पर छीन ली जाती थी। इसी प्रकार मंदिरों की भूमि पर बलात् अधिकार करने, गुरु, पत्नी या ब्राह्मण की हत्या करने, पुण्य की भावना से प्रेरित निर्माण कार्यों को नष्ट करने आदि-आदि अपराधों के लिए दंड प्रस्तावित किए जाते थे। विजयनगर शासक सामाजिक एकता बनाए रखने का हर संभव प्रयास करते थे।

ब्राह्मणों की राज्य में भूमिका

विजयनगर साम्राज्य का एक विशिष्ट लक्षण ब्राह्मणों का राजनैतिक एवं धर्म निरपेक्ष कार्यकर्ताओं न कि धार्मिक मुखियाओं के रूप में महत्व था उस युग में दुर्गों का बहुत महत्व था और उनका नियंत्रण ब्राह्मणों विशेषतः तेलुगु मूल के द्वारा किया जाता था। ये तेलुगु नियोगी नामक उपजाति से संबंधित थे। ये धार्मिक कृत्यों को लेकर पुरातनपंथी नहीं थे। ब्राह्मण प्रभावशाली ढंग से राजा के लिए प्रजा की द ष्टि में वैधता स्थापित करने का कार्य करते थे। दुरस्थत मिल भू-भाग पर प्रभावी नियंत्रण हेतु विजयनगर के शासकों ने तमिल क्षेत्रों के वैष्णव सम्प्रदायी मुखियाओं का सहयोग लिया। तमिल क्षेत्र में अजनबी होने से विजयनगर के शासकों के लिए अपनी शक्ति को वैधता प्रदान करने हेतु मूलभूत तमिल धार्मिक संगठनों जैसे मंदिरों के साथ संबंध स्थापित करना आवश्यक हो गया। इस प्रकार इस काल में-

1. राजत्व को बनाए रखने के लिए मंदिर आधारभूत थे।
2. सम्प्रदायी मुखिया राजाओं और मंदिरों के मध्य एक कड़ी का कार्य करते थे।
3. यद्यपि मंदिरों की सामान्य देख-रेख स्थानीय संप्रदायी वर्गों द्वारा की जाती थी, मंदिरों संबंधी विवादों को सुलझाने का कार्य राजा के हाथों में था।
4. ऐसे विवादों में राजा का हस्तक्षेप वैधानिक न होकर, प्रशासनिक होता था।

अर्थव्यवस्था

विजयनगर साम्राज्य के दो राजकीय कोष थे, एक तो तात्कालिक पैसा जमा करने और निकलवाने के लिए और दूसरा भविष्यनिधि के रूप में जमा राशि रखने के लिए जिसमें प्रत्येक राजा कुछ न कुछ जमा अवश्य करता था। भू-राजस्व ही आय का मुख्य साधन था। इसके अतिरिक्त राजकीय भूमि से राजस्व तथा प्रान्तीय शासकों एवं सामंतों से शुल्क बंदरगाहों तथा वाणिज्य के से प्राप्त होने वाली चुंगी कर इत्यादि राज्य की आय का प्रमुख स्रोत थे। राजस्व निर्धारण की दर साम्राज्य के विभिन्न भागों में और एक ही स्थान पर भूमि की उर्वरता और उसकी क्षेत्रीय अवस्थिति के आधार पर भिन्न-भिन्न थी। सामान्य तौर पर यह आय का 1/6 भाग थी पर कुछ मामलों में यह अधिक भी थी। इसका भुगतान नकद और वस्तु दोनों ही रूपों में किया जाता था। इसके अतिरिक्त व्यवसाय शुल्क, ग्रह शुल्क, परिवहन कर, विविध अनुज्ञापत्रों (Licensces) पर शुल्क तथा न्यायिक दंड शुल्क इत्यादि भी राज्य की आय के अन्य स्रोत थे और जैसा कि **के०ए०एन० शास्त्री** लिखते हैं, विजयनगर साम्राज्य की उन्नत आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था की ओर भी संकेत करते हैं। राजकीय खर्च का एक बड़ा भाग राजभवन, सेना तथा धार्मिक अनुदानों व धर्म निधियों के रख-रखाव पर खर्च होता था।

स्वरूप

विजयनगर साम्राज्य के स्वरूप के विषय में विभिन्न इतिहासकारों में वाद-विवाद है। एक तरफ इसे खंडीय राज्य के रूप में प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया तो दूसरी तरफ इसकी व्याख्या सामंती ढांचे की प ष्ठभूति में करने की कोशिश की गई। एक तरफ इसे कल्याणकारी राज्य के रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश की गई तो दूसरी तरफ इसका वर्णन सर्वाधिकारवादी राज्य के रूप में किया गया। इसके स्वरूप को समझने के लिए विभिन्न इतिहासकारों के मतों का विश्लेषण आवश्यक प्रतीत होता है।

बर्टन स्टीन का मानना है कि दक्षिण भारतीय राज्य निर्माण की प्रक्रिया की निरन्तरता को रखते हुए विजयनगर के शासकों ने भी अपने साम्राज्य में शक्ति व धर्म का संतुलन बनाए रखा यद्यपि विजयनगर पर लिखे गए यात्रियों के वर्णन में यह दिखाने का प्रयत्न किया गया कि विजयनगर साम्राज्य एक संगठित व कुशल सैन्य सामंतवाद पर आधारित था। इस विषय में यह कहा जा सकता है कि वस्तुतः विजयनगर के शासकों की धार्मिक नीति भी अपने पूर्वगामी शासकों जैसी थी। उन्होंने अनेक मंदिरों को धर्मनिधि प्रदान की, मठों की स्थापना की, पुरी हितों को भेंट दी तथा उनका नैतिक समर्थन मुस्लिम शासकों के विरुद्ध संघर्ष में तथा हिन्दू विद्रोहियों के दमन हेतु प्राप्त किया। मंदिरों को दिया गया दान यद्यपि साम्राज्य की सैन्य शक्ति में व द्धि तो नहीं कर पाता था परन्तु उस क्षेत्र के जनसमुदाय और ब्राह्मणों की शासकों के प्रति निष्ठा में बढ़ोत्तरी अवश्य करता था। धार्मिक सम्मान व निष्ठा उपयोग की यह नीति साम्राज्यिक व्यवस्था को बल प्रदान करती थी। प्रायः शासक अपने ग्रहप्रदेश के तेलुगु ब्राह्मणों को 'दुर्ग दंडनायकों के रूप में साम्राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में नियुक्त करते थे। ब्राह्मणों के अधीन दुर्ग प्रायः साम्राज्य के आधार स्तम्भ बन जाते थे और एक प्रकार से विजयनगर साम्राज्य की उस नीति का प्रतीक थे जिसके अन्तर्गत शासक मुस्लिम चुनौती का सामना करने के लिए एक तो साम्राज्य के सैन्यीकरण पर बल दे रहे, वहीं दूसरी ओर ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में शासक के लिए धार्मिक वैधता की प्राप्ति के लिए प्रयास कर रहे थे। **बर्टन स्टीन** कृष्णदेवराय द्वारा अपनाई गई नीतियों को इसका प्रत्यक्ष प्रमाण नियंत्रित कर दक्षिण में विशाल व केन्द्रीकृत शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना की तथा दूसरी ओर अपने शिलालेखों में यह घोषणा कर दी कि युद्धों में प्राप्त सम्पत्ति को उसने राज्य के अन्तर्गत आने वाले मंदिरों को दान कर दिया है ताकि वहाँ भव्य द्वारों का निर्माण हो सके।

प्रतीकात्मक राजत्व विजयनगर का राजत्व एक प्रकार से प्रतीकात्मक माना जाता है क्योंकि विजयनगर के शासक अपनी सत्ता के प्रमुख केन्द्र से परे भू-भागों पर अपने अधिपतियों द्वारा नियंत्रण करते थे। इस प्रतीकात्मकता का निरूपण धर्म की साधन

द्वारा होता था, जो लोगों द्वारा स्वामिभक्ति निश्चित करता था। उदाहरणस्वरूप प्रतीकात्मक राजत्व का महानवमी के उत्सव में सबसे अच्छा उदाहरण मिलता है। यह एक वार्षिक राजकीय समारोह था, जो 15 सितम्बर व 15 अक्टूबर के मध्य नौ दिन तक चलता था। दसवें दिन दशहरा के उत्सव में इसकी समाप्ति होती थी। प्रादेशिक क्षेत्रों के महत्वपूर्ण व्यक्ति जैसे सेनानायक इस उत्सव में भाग लेते थे। इस उत्सव द्वारा साम्राज्य के प्रादेशिक भागों पर विजयनगर के शासकों की सम्प्रभुता की मान्यता को बल मिलता था यद्यपि ब्राह्म इस उत्सव में भाग लेते थे, पर उनकी भूमिका प्रमुख नहीं होती थी। उत्सव के आनुष्ठानिक कार्यों का सम्पादन स्वयं राजा द्वारा किया जाता था।

खंडीय राज्य
(Segmentary State)

बर्टन स्टीन विजयनगर राज्य को एक खंडीय राज्य के रूप में प्रदर्शित करते हैं। उनके अनुसार विजयनगर राज्य में सम्पूर्ण राजनीतिक सम्प्रभुता केन्द्र के साथ रहीं परन्तु परीधीय क्षेत्रों में प्रतीकात्मक नियंत्रण नायकों व ब्राह्मण सेनानायकों के हाथों में रहा अर्थात खण्डात्मक राज्य का तात्पर्य उस राज्य से है जिसके अन्तर्गत आनुष्ठानिक आधिपत्य तथा राजनीतिक संप्रभुता के क्षेत्र एक ही सिक्के के दो पहलू नहीं होते हैं विधिवत आधिपत्य सामान्यतः उदार एवं उनके क्षेत्र परिवर्तनीय होता है लेकिन राजनीतिक संप्रभुता केन्द्रीय क्षेत्र तक सीमित होती है। खण्डात्मक राज्य में विभिन्न स्तरों पर सहायक शक्ति के बहुत से केन्द्र विद्यमान होते हैं और वह राज्य शक्ति के अलग पदानुक्रम रूप में संगठित होता हैं शासक वंश ने प्राथमिक केन्द्र से सहायक केन्द्रों को वैचारिक रूप से एकीकृत किया है। राज्य के खण्डों में वास्तविक राजनीतिक नियंत्रण स्थानीय सम्पन्न वर्ग द्वारा किया जाता है।

यह भी माना जाता है कि ब्राह्मणों एवं प्रभुत्वशाली किसानों के मध्य घनिष्ठ सहयोग विद्यमान था। खण्डात्मक राज्य के प्रतिपादन की कुछ सीमाएँ है। यह शक्ति के भिन्न-भिन्न केन्द्रों को मुख्य क्षेत्र से अलग समझती है और उनको राज्यशक्ति के अंगों के रूप में नहीं देखती। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि दक्षिण भारतीय किसानों के चरित्र की विषमताओं को भली-भाँति नहीं समझा गया है (नोट- खंडित राज्य के विशिष्ट लक्षणों की विस्त त व्याख्या के लिए देखिए (Paper V unit II का C भाग)।

सैनिक राज्य

एन. के. शास्त्री जो विजयनगर राज्य को बुनियादी तौर पर एक हिन्दू राज्य के रूप में देखते हैं जो बहमनी सल्तनत और उसके उत्तराधिकारी राज्यों के मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दू संस्कृति के रक्षक के रूप में एक वैचारिक भूमिका का निर्वाहन करता था। इसे विजयनगर राज्य के सैन्यवादी स्वरूप का सिद्धान्त जन्म लेता है। पुर्तगाली यात्री **डोमिंगो पेस, कुलके व रोथरमंड** इत्यादि उसे सैन्य सामंतवाद व **नीलकंठ शास्त्री** उसे सैनिक राज्य के रूप में वर्णित करते हैं। जिसका शासन ऐसे योद्धा नायकों के हाथ में था जिनका पूर्ण प्रयास अपनी सैन्य शक्ति को निरन्तर बढ़ाने की दिशा में थी परन्तु **बर्टन स्टीन** ने विजयनगर राज्य को संयोजक शासन प्रणाली (Incorporative regime) जिसने सम्पूर्ण दक्षिण के अनेक योद्धाओं की सैन्य क्षमता और निष्ठा जीतने का प्रयास किया तथा परजीवी शासन प्रणाली (Parasitic regime), जिसने अपने जनसमुदाय की उत्पादकता और वाणिज्य में से अपना हिस्सा तो प्राप्त किया परन्तु दोनों में कोई योगदान नहीं किया, के रूप में श्रेणीबद्ध करने का प्रयास किया है।

सामंतीय मॉडल

डोंमिंगो पेस ने 1522 ई. में विजयनगर की यात्रा के पश्चात यह वर्णन किया कि राजा की सेवा में निरंतर दस लाख सैनिक टुकड़ियाँ रहती थ । ये सब राजा से वेतन पाते थे और साम्राज्य के किसी भी प्रान्त में आवश्यकता पड़ने पर भेजे जाने के लिए तैयार रहते थे। इन सैन्य टुकड़ियों के रख-रखाव के लिए राजस्व कहाँ से आता था? इसका उत्तर देते हुए **पेस** बताते हैं कि उन सैन्य टुकड़ियों पर जो नायक राजा ने रखे थे, वे वस्तुतः उसके राज्य के सामंत थे वह सब शासक थे तथा राज्य के शहरों, नगरों और गाँवों के स्वामी थे। ये सेना आदेश मिलते ही किसी भी प्रांत में जाने व लड़ने के लिए सदैव तैयार रहती थी। इसके साथ ही राजा की सवैतनिक सैन्य टुकड़ियाँ भी होती थी जिन्हें राजा वेतन देता था। परन्तु **वैंकट राम्नैया** के अनुसार विजयनगर साम्राज्य की सैन्यशक्ति का प्रमुख कारण राजा का व्यक्तिगत शौर्य व सैनिकों के प्रति प्रेम-प्रदर्शनी था। पेस के वर्णन में वर्णित सैन्य सामान्तवाद अथवा अमरनायकों की व्यवस्था में सैन्य नायकों के पास राजस्व वसूली के अधिकार

थे और उन्हीं के अनुरूप सैन्य टुकड़ियाँ रखना उनके लिए अनिवार्य था। **बर्टन स्टीन व टी. वी. महालिंग** इस व्यवस्था को सामंतवादी मानने की संभावना से स्पष्ट इंकार करते हैं क्योंकि सामन्तवाद के अनिवार्य तत्व जैसे सम्मान प्रदर्शन और अधीनता भारतीय संदर्भ में विद्यमान नहीं थी। **बर्टन स्टीन** के अनुसार विजयनगर साम्राज्य की शक्ति उसके शासकों की उस योग्यता में नीहित थी जिससे वे स्थानीय विशिष्टजनों का साम्राज्यवादी अधिकारियों में परिवर्तित कर सकें इसके विपरीत विजयनगर राज्य के स्वरूप की सामंती ढांचे के अनुसार व्याख्या करने वालों का मानना है कि ब्राह्मणों के नवीन भूमि अनुदान प्रदान करने की नीति, सामंती विभाजन का प्रमुख कारण थी। बार-बार इन भूति अनुदानों को दिए जाने के कारण ब्राह्मणों की स्थिति सुद ढ़ बनीं। इसके परिणामस्वरूप, उन्हें अपने व्यवस्थाओं में बहुत अधिक स्वायत्तता मिली, प्रशासनिक शक्तियों और राजस्व-स्रोतों को नियंत्रित करने के अधिकार मिल गए।

इसी प्रकार सैन्य द ष्टि से तमिल क्षेत्र में विस्तार ने अमरनायकों (योद्धाओं) और अन्य उच्च अधिकारियों के नियंत्रण में सामंती भू-भागों का निर्माण किया। अमरनायक वंशानुगत भू-स्वामी होते थे। वह राजा को नज़राना देते थे और सैन्य सेवा का कार्य करते थे। इन भूमिधरों ने बदले में अपने अधीनस्थ लोगों को भूमि अनुदान देना प्रारम्भ किया जिसके फलस्वरूप **उपसामंतीकरण** का मार्ग प्रशस्त हुआ। साम्राज्य की विशालता और परिवहन तथा संचार के पर्याप्त साधनों की कमी के रहते साम्राज्य के संचालन हेतु शासकों द्वारा इन सामंती वर्गों को अधिकार प्रदान करना एक आवश्यकता बन गई।

सर्वाधिकारवादी शासन

एक अन्य पुर्तगाली लेखक **न्यूनिज़** ने 1535 ई. में लिखते हुए विजयनगर साम्राज्य के शासन प्रशासन और संस्थाओं का विस्त त वर्णन प्रस्तुत करते हुए बताया कि विजयनगर साम्राज्य का शासन पूर्णतः सर्वाधिकारवादी था और राजा की शक्ति निरंकुश थी। साम्राज्य लगभग 200 प्रांतों अथवा ज़िलों में विभाजित था। जिनमें से प्रत्येक एक 200 प्रांतों अथवा ज़िलों में विभाजित था जिनमें से प्रत्येक एक गवर्नर के अधीन था। गवर्नर अपने प्रांत में पूर्णतः शक्तिशाली था परन्तु स्वयं पूरी तरह राजा की दया पर निर्भर था। प्रत्येक गवर्नर की एक निश्चित संख्या में सशस्त्र सैनिकों की राजा को आपूर्ति करनी पड़ती थी। इस प्रकार एक विशाल सेना तैयार हो जाती थी। परिणामतः राजा और श्रेष्ठ जन वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे जबकि साधारण जनों का जीवन कष्टमय था।

इस प्रकार विजयनगर राजशाही बाहरी भागों में प्रतीकात्मक थी जिसमें शासक अपने अधिपतियों के द्वारा नियंत्रण रखते थे। ब्राह्मण धार्मिक मुखियाओं से अधिक राजनीतिक और धर्म-निरपेक्ष कर्मचारी थे। एक विस्त त साम्राज्य, संगठित सेना व प्रशासन-तंत्र। विकसित न्याय-व्यवस्था तथा ग्रामीण स्वायत्तता दक्षिण भारतीय राज्य निर्माण की प्रक्रिया के प्रमुख लक्षण कहे जा सकते हैं।

सहायक ग्रंथ सूची

1- T. V. Mahalingam - Administration and social life under Vijayanagar.

2- Kulke and Rothermund - A History of India.

3- Burton Stein- Peasant, State and Society in Medieval South India.

4. Burton Stein Vijayanagara, The New Cambridge History of India, vol 12.

5. Robert Sewell - A Forgotten Empire.

अध्याय-12

मुगल राज्यः स्वरूप व प्रशासनिक संस्थाएँ
(The Mughal State: Nature and Administrative Institutions)

प्रशासनिक संस्थाएंः जागीरदारी व्यवस्था

मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत भारत के विस्त त क्षेत्र का एकीकरण ही नहीं किया गया अपितु प्रशासनिक केन्द्रीकरण के साथ ही स्थायित्व भी प्रदान किया गया। बादशाह द्वारा अधिकृत भूक्षेत्र में अपने राजस्व वसूली के अधिकारों को अपने अमीरों को प्रदान करने की व्यवस्था यथावत् बनी रही। यद्यपि इस व्यवस्था के स्वरूप एवं कार्यविधि में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया।

हिन्दुस्तान में जागीर शब्द का प्रचलन 15 वी० शताब्दी में प्रारम्भ हुआ। इससे पूर्व बरनी एवं उसके पूर्ववर्ती फारसी लेखकों ने इक्ता शब्द का प्रयोग किया है। जागीरदार वे मनसबदार थे जिन्हें उनका वेतन नकद नहीं मिलता था, किन्तु इसके लिए उन्हें कुछ राजस्व-क्षेत्र दिए जाते थे, जिन्हें जागीर कहते थे। जागीर से प्राप्त होने वाली आय स्वाभाविक रूप से उसको प्राप्त होने वाले वेतन के बराबर हुआ करती थी। **इरफान हबीब** बताते है। कि जागीर की भूमि की आय का निश्चय **जमा** अथवा प्राप्त मालगुजारी के आधार पर किया जाता था। जब जागीर वेतन के बदले दी जाती थी तो उसे तनख्वाह जागीर परन्तु जब किसी पद प्राप्ति के कारण जागीर दी जाती थी तो इसे भशसत जागीर कहा जाता था। जिन दी गई जमीनों के साथ किसी प्रकार का प्रशासनिक दायित्व नहीं जुड़ा होता था, उन्हें एक इनाम कहते थे। एक संस्था के रूप में जागीर व्यवस्था का उपयोग किसानों से अधिशेष वसूलने के लिए किया गया। इसके साथ-साथ इस व्यवस्था से कुलीन शासकीय वर्ग के बीच राजस्व स्रोतों का बँटवारा भी किया गया। इस व्यवस्था में न तो किसान के खेत जोतने के अधिकार पर आँच आती थी ओर न ही जमींदार किसी प्रकार से इससे प्रभावित थे। जागीर की आय क्योंकि मनसबदार के वेतन के बराबर हुआ करती थी इसलिए जागीर की आय का निर्धारण राज्य द्वारा किया जाता था और दाम के रूप में दर्शाया जाता था। जो संख्या प्राप्त होती थी, उसे जमादाभी कहते थे। वह क्षेत्र जो जागीर के लिए सुरक्षित था किन्तु जागीर में अभी दिया नहीं गया था, उसे **पायबाकी** कहा जाता था। वह क्षेत्र तथा जिस क्षेत्र के राजस्व स्रोत शाही खजाने लिए सुरक्षित होते थे, उसे **खालिसा** कहा जाता था।

मुगलों के अधीन जागीरदारी प्रथा एक विशिष्ट संस्था के रूप में विकसित हुई। इस संस्था की नींव अकबर ने डाली, किन्तु शाहजहाँ ने इस सामान्य संगठन को जटिल संस्था के रूप में विकसित किया। आरम्भ में इस व्यवस्था को लागू करने का उद्देश्य यह था कि शादी सेवा में दक्ष और अनुशासित व्यक्तियों को लाया जाए। साथ-साथ यह भी उद्देश्य था कि इससे सरकार पर भू-राजस्व प्रशासन का जो भारी बोझ था, वह हल्का हो जाएगा और ग्रामीण क्षेत्रों में कानून व व्यवस्था लागू करने में भी मदद मिलेगी। किन्तु सत्रहवीं के अंत तक तो इस व्यवस्था ने मुगल साम्राज्य के प्रशासनिक और आर्थिक स्थायित्व को अस्थिर करना शुरू कर दिया। इसलिए इस व्यवस्था के वास्तविक स्वरूप को पहचानना आवश्यक प्रतीत होता है।

जागीर का पट्टा मिलते ही स्वयं जागीरदार का यह उत्तरदायित्व था कि वह अपनी जागीर से राजस्व एकत्रित करने का प्रबन्ध करे। अक्सर बड़े-बड़े जागीरदार इसके लिए अमिल, अमीन, कानूनगों आदि रखते थे और उन्हीं के द्वारा वे अपनी जागीर से राजस्व इकट्ठा करवा लिया करते थें लेकिन छोटे जागीरदारों अथवा मनसबदारों के लिए यह कठिन था और वह अपनी जागीर इजारे पर दे दिया करते थे और इजारेदारों से एक निश्चित धन-राशि ले लिया करते थे। इस प्रकार वेतन भुगतान के रूप

में जागीर मिलने का अभिप्राय था कि उसका दावा केवल महाल से प्राप्त राजस्व तक ही सीमित था। जगीरदार को नियत-भूमि पर स्थायी अधिकार प्राप्त नहीं थे। फिर भी मुगल शासन में कुछ जागीरें वंशानुगत आधार पर प्राप्त हुआ करती थी। इस कोटि में **वतनजागीर** और **अलतमगा** जागीर आती थी।

जब कभी भी मनसबदार को जागीर प्रदान की जाती थी तब सम्बन्धित दस्तावेज में सर्वप्रथम जागीरदार के पद का तथा पदानुसार (मंसब) स्वीकृत वेतन का विवरण दिया होता था। वस्तुतः प्रदान की गई जागीर की जमा के स्वीकृत वेतन माँग से कम होने पर बचे हुए वेतन माँग की राशि (जिसे तलब कहा जाता था) को अन्त में अंकित किया जाता था। इस बकाया राशि की जागीर का भुगतान प्रशासन द्वारा नकदी में किया जाता था अन्यथा समकक्ष राशि की जागीर प्रदान कर दी जाती थी। शाहजहाँ के शासनकाल में जमादामी के वास्तविक आय का प्रतिनिधित्व न करने के दोष को स्वीकार करते हुए जागीरों की जमा व वास्तविक आय के मध्य भिन्नता के कारण उत्पन्न कठिनाईयों को दूर करने के प्रयास किए गए। इस समय जमादामी के हासिल के समकक्ष लाने का प्रयास नहीं किया गया अपितु इनके बीच भिन्नता को स्वीकार करते हुए प्रत्येक **महाल** की जमा व हासिल के मध्य वार्षिक अनुपात का निर्धारण करने के पश्चात् उसे माहवार के रूप में प्रस्तुत किया गया। उदाहरण के लिए, अगर जागीर की वास्तविक आय जमा की आधी होती थी तो इसे **शशमाहा** (छमाही) कहते थे। अगर आय एक चौथाई होती थी तो इसे **सिमाहा** (तिमाही) माना जाता था। **अथर अली** बताते है कि मुगल साम्राज्य का एक बहुत बड़ा भाग जागीर के रूप में प्रदान किया जाता था। औरंगजेब के शासनकाल के दसवें वर्ष में सम्पूर्ण साम्राज्य की कुल 924 करोड़ दाम जमादामी में से 725 करोड़ जागीरदारों को प्रदान किया गया अथवा **पायबाकी** के अन्तर्गत रखा गया। उनका मानना है कि सत्रहवीं शताब्दी में अकबर के समय की स्थिति को पुनः दोहराया नहीं गया, जबकि सम्पूर्ण साम्राज्य करोड़ी परिक्षण में खालिसा के अन्तर्गत ले लिया गया था। जहांगीर के शासनकाल के अन्तिम वर्षों में खालसा क्षेत्र की आय घट कर 28 करोड़ दाम रह गई थी जो कुल जमा का 1.20 प्रतिशत से भी कम थी। किन्तु इसके पश्चात् विशेषकर शाहजहाँ के शासनकाल में खालिसा क्षेत्र का विस्तार हुआ पर यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि शाहजहाँ के काल में मुगल साम्राज्य का विस्तार भी हुआ था। शाहजहाँ के शासनकाल के 20 वें वर्ष में कुल 880 करोड़ में से 120 करोड़ खालिसा के अन्तर्गत थी अर्थात जैसा कि **अथर अली** बताते है, सम्पूर्ण जमा का 1/7 भाग खालिसा में था ,जबकि औरंगजेब के अन्तर्गत मुगल साम्राज्य का एक बहुत बड़ा भाग रहता था। साम्राज्य का बड़ी मात्रा राजस्व में जो जी० डी० शर्मा के अनुसार 4/5 भाग था, राजस्व प्राप्तकर्ताओं को प्रदान किया जाता था। इस प्रकार यह वर्ग मुगल साम्राज्य का एक महत्त्वपूर्ण वर्ग था।

जागीर क्योंकि अत्यधिक शक्ति व प्रभाव का स्रोत थी, इसलिए सरकार इसे विभिन्न नियमों द्वारा नियंत्रित करना चाहती थी। शासन उन पर शाही नियंत्रण बनाए रखने व राजस्च व्यवहार मे निरन्तरता बनाए रखने का पूरा प्रयास करती थी। जागीरों पर नियंत्रण रखने के लिए एक अलग दीवान था। वित्त मंत्रालय जागीरों की आय का आकलन करता था और जागीरदार के राजस्च निर्धारण व वसूली से संबंधित सभी सरकारी नियमों का पालन करना पड़ता था। हर जागीरदार को दस्तूर (राजस्व निर्धारण की दरों की सूची) के मुताबिक भू-राजस्व का निर्धारण करना पड़ता था। यहाँ तक कि राजस्च संग्रह के मामलों में फसल बर्बाद हो जाने की हालत में यदि बादशाह किसानों को किसी प्रकार की छूट देता था तो ऐसी स्थिति में उसे अपनी दावेदारी में से एक हिस्सा त्यागना पड़ता था। शाही नियमों के अनुसार कार्य न करने पर दंडस्वरूप या तो जागीरदार का स्थानांतरण कर दिया जाता था या उसे जागीर से बेदखल कर दिया जाता था।

प्रशासन

बड़ी जागीरों का प्रशासन खालसा क्षेत्र के समान होता था। शहजादों के मनसब ऊँचे होते थे अतः उनकी जागीरें भी बड़ी होती थी। शाहजादों की जागीर में आमिल जिसे किरोड़ी कहा जाता था, तथा उसके अधीन खालिसा क्षेत्र की तरह ही अमीन, फोतदार एवं कारकून होते थे।

छोटे क्षेत्र में जागीरदारों की जागीर में प्रशासनिक व्यवस्था का ढांचा एक जैसा नहीं था। सामान्यतः जागीरों का हस्तान्तरण समय-समय पर होता रहता था। साथ ही एक मनसबदार की जागीर का एक इकाई में होना भी आवश्यक नहीं था, अतः वह सब जगह पर नियुक्त नहीं हो सकता था। ऐसी स्थिति में अपनी जागीर में जागीरदार गुमास्ता की नियुक्ति करता था जो उसकी तरफ से राजस्व संकलित करता था। वस्तुतः एक जागीरदार की शक्ति और अधिकार भू-राजस्व निर्धारण व संग्रह तक ही सीमित थे। उसे न्यायिक अधिकार नहीं मिले हुए थे। ये अधिकार तो बादशाह द्वारा नियुक्त काजी के पास होते थे।

एक छोटे जागीरदार के पास होते थे। मुगलकालीन जागीरदार मोटे तौर पर अपनी जागीर के प्रशासनिक दायित्वों से वंचित था फिर भी **इरफान हबीब** के अनुसार जागीरदार के अधिकार इतने अधिक परिसीमित नहीं होते थे। विशेष रूप से यह बात बड़े जागीरदार पर लागू होती थी, जिसे फौजदारी या पुलिस की शक्तियाँ भी मिली होती थी।

जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि अकबर के उत्तराधिकारियों के काल में यह व्यवस्था अधिक जटिल हो गई। जागीरदारी प्रथा की कार्य-प्रणाली में जो परेशानियाँ आई उनके कारण थे-युद्ध, साम्राज्य का विस्तार, मनसबदारें की संख्या में व द्धि, अकाल इत्यादि। औरंगजेब के काल में जागीरदारी प्रथा के स्वरूप में बहुत परिवर्तन आया इस पर प्रकाश डालते हुए कहते है कि मुगल साम्राज्य में राजनीतिक संकट के साथ-साथ आर्थिक व शासनात्मक संकट भी बढ़ा। मुगल शासक वर्ग के सामने प्रमुख समस्या पी-राजस्च प्राप्ति में निरन्तर होती कमी की। मुगल शासन राजस्च संग्रह के लिए जमींदारों और प्रभावशाली भू-स्वामियों पर आश्रित था, और ये लोग इस काम में सरकार को पूरा सहयोग नहीं देते थे। मन्थस्केल के कारण मनसबदारों की सवार संख्या में भी कमी आयी और इससे उनकी सामारिक शक्ति कम हो गई। सामारिक शक्ति कम हो जाने से उनके लिए जमींदारों से लगान वसूल करने में कठिनाई बढ़ने लगी क्योंकि जैसा कि **सतीश चन्द्र** कहते हैं कि मुगलकाल में अधिकांश जमींदार बिना जोर-जबरदस्ती के राजस्व देने के लिए तैयार नहीं होते थे। इससे उनकी आय पर असर पड़ा। फौजदार, जो स्वयं मनसबदार होते थे और जिनका जिम्मा था शासन-व्यवस्था और जागीरदारों को राजस्व वसूल करने मे मदद देना, उनकी शक्ति भी इसी प्रकार कम हो गई। **भीमसेन** का कहना है कि इसी कारण से जमींदारों ने किसानों के ऊपर अत्याचार शुरू कर दिया और लगान देना बंद कर दिया।

मुगल जागीरदारी प्रथा के संकट के कारण खोजते हुए कहा जा सकता है कि बड़े जागीरदारों के साथ छोटे जागीरदारों की स्थिति ओर भी शोचनीय हो गई। **भीमसेन** का कहना है कि शाही अफसर बेईमान व घूसखोर थे और हर तरह से जागीरदारों को परेशान करते थे और जब चाहे उनकी जागीर का स्थानांतरण कर देते थे। ये शिकायत मुख्य रूप से छोटे जागीरदारो के संदर्भ में भी प्रतीत होती है। छोटे जागीरदारों को यह भरोसा नहीं रहा कि उनकी जागीर उनके पास एक साल या छः महीने भी रहेगी या नहीं। इन्हीं कारणों से किसानों की स्थिति भी बिगड़ी। जैसे-जैसे मुगल राज्य का जागीरदारों और राजनीतिक संकट बढ़ा राज्य की ओर से किसानों के हितों की रक्षा की अवेहना होने लगी। इस प्रकार अमीर वर्ग व किसान दोनों में असंतोष बढ़ा और किसानों के असंतोष के कारण बहुत से विरोधी आंदोलनों को बल मिला।

इस बढ़ते हुए आर्थिक व शासनात्मक संकट का कोई उपाय औरंगजेब न कर पाया बल्कि दक्षिण में निरन्तर युद्ध के कारण यह संकट और गंभीर हो गया। औरंगजेब की राजनीतिक व धार्मिक नीतियों ने इस संकट को और भी गहराया परन्तु यह याद रखना जैसा कि **सतीशचन्द्र** कहते है, आवश्यक है कि संकट का मूल कारण मध्यकालीन सामाजिक विषमताएँ थी। इस संकट का कारण वस्तुतः यह था कि कृषि तथा औद्योगिक क्षेत्र में उत्पादन प्रशासनिक वर्ग की आवश्यकताओं के पूरा करने में असमर्थ रहा था।

इस प्रकार औरंगजेव की म त्यु के समय सामाजिक, राजनीति, आर्थिक व शासनात्मक सभी द ष्टियों से मुगल राज्य में एक विषम स्थिति पैदा हो गई। इसके निवारण के लिए नई गतिविधियों की आवश्यकता थी तथापि मुगल साम्राज्य के शासनात्मक ढांचे में इतना सामर्थ्य था कि बिना किसी सुधार के औरंगजेब की म त्यु के बाद आधे शतक तक टिक सका। इस प्रकार **सतीश चन्द्र** के अनुसार 17 वीं शताब्दी में व्याप्त सामाजिक संघर्षो को मुगल अपने वर्गीय संबंधों के ब हद ढाँचे के अंदर सुलझा न सके और इसके कारण वित्तीय संकट उत्पन्न हुआ और जागीर व्यवस्था में भी संकट बढ़ा क्योंकि ये एक दूसरे से जुड़े हुए थे। उनका मानना है कि जागीरदारी व्यवस्था का यह संकट कृषि और गैर कृषि अर्थव्यवस्था को तेजी से विकसित करके रोका जा सकता था। पर प्रश्न है कि क्या कुलीन अपने संचित धन को नियमित रूप से व्यापार में निवेशित करते थे या कुछ अमीर लोग वैभव की जिन्दगी बसर करने के लिए कभी-कभी व्यापार कर लेते थे। मुगलकालीन व्यापारियों और राजनीति पर हुए अध्ययनो से यह जानकारी मिलती है कि एक वर्ग के रूप व्यापारी इतने शक्तिशाली नहीं थे कि वे राज्य सत्ता में हिस्सेदारी का दावा कर सकें। मुगल भारत में व्यापार व राजनीति अलग-अलग क्षेत्र रहे। कृषि क्षेत्र में हुआ विकास भी इससे बहुत भिन्न नहीं था। कई कारणों से राज्य ने छोटे किसानों की अर्थव्यवस्था को ही प्रोत्साहन दिया। अतः **खुद काश्त** भूमि धारकों (सम द्ध किसानों) को भाड़े के मजदूरों की सहायता से खेती नहीं करने दी जाती थी तथा **पाही किसानों** (मध्य स्तर के किसान जिनके पास अपनी भूमि नहीं होती थी और ये अपने उत्पादन के औजारों के साथ एक गाँव से दूसरे गाँव जाते थे)। को हटाकर अपनी

खेती का विस्तार नहीं करने दिया गया। कुछ अमीर किसान सूद पर कर्ज दिया करते थे या गरीब किसानों की जमीन को बंधक रखकर उन्हें बटाईदार बना देते थे। अतः वे सम द्ध किसान बिचौलिए जमींदार या महाजन (अनाज व्यापारी तथा ऋणदाता) बनकर अपनी स्थिति सुधार सकते थे। इन कारणों से सम्भवततः कृषि अर्थव्यवस्था का विकास धीमा रहा और यह जागीरदारी संकट का मूलभूत आधार उस मध्यकालीन सामाजिक, व्यवस्था है जिसके कारण कृषि का विकास सीमित रहा। इसी संरचना पर प्रशासनिक व्यवस्था आधारित थी और दोनों के बीच क्रिया प्रतिक्रिया होती रहती थी। इसके अलावा शासकीय वर्ग का बढ़ता आकार, कुलीनों की जीवन शैली में बढ़ता आडम्बर परिणामस्वरूप उत्पादन के विस्तार के लिए उपलब्ध अधिशेष में कमी और इसके कारण धीमा आर्थिक विकास आदि इस संकट को विकट बनाने में पूरक तत्व का कार्य कर रहे थे।

जागीर प्रथा की कमजोरियाँ

यद्यपि जागीर प्रथा की स्थापना एक शक्तिशाली भू-स्वामी अभिजात वर्ग पर शाही नियंत्रण के एक साधन के रूप में की गई थी, ताकि इसके माध्यम से जागीरे बाँट कर एक दक्षशाही सेवा व्यवस्था बनाई जा सके। परन्तु इस प्रथा की अपनी कुछ अंतनिर्हित कमजोरियाँ थी। यह प्रथा तभी सुचारू रूप से काम कर सकती थी जब या तो वितरण के लिए पर्याप्त भूमि उपलब्ध होगी या जागीरदारी मनसबदारों की संख्या पर उचित नियंत्रण रखा जा सकेगा। जागीरों की कमी से भूमि की अनुमानित आय में मुद्रा-स्फीति का प्रवेश होगा, जिससे वस्तुतः आय की वसुली होगी ही नहीं। हासिल (वास्तविक आय) और जमा (अनुमानित आय) के इसी अंतर जागीरदारी प्रथा के आगे चलने नहीं दिया। जागीरदारी संकट का एक संभावित कारण यह थी कि खालिसा भूमि को जागीरों में बदला जाता रहा। इससे न केवल राजकीय कोष को नुकसान पहुँचा बल्कि इसने जागीरदारों -मनसबदारों को भी राज्य के अधिकारों को हड़पने के लिए उत्प्रेरित किया। इसके अतिरिक्त भ्रष्टाचार, इजारा प्रथा, जागीरों का हस्तातंरण आदि कमियाँ भी इसमें दिखाई पड़ती थी।

राजस्व-संग्रह और सैनिक दायित्वों के बारे में सरकारी नियमों का उल्लधंन कर जागीरदार भ्रष्टाचारी हो रहे थे। राजस्व वसूलने के लिए जागीरदार अपनी जागीरों को सबसे ऊँची-बोली लगाने वाले ठेके (इजारे) पर दे देते थे। परन्तु यह तरीका किसानों के लिए दमनकारी सिद्ध हुआ।

जागीरदारों को जो क्षेत्र प्राप्त होते थे। उनमें जमींदार और किसानों की भूमि भी सम्मिलित रहती थी। जमींदार पहले की तरह भू-राजस्व को इकट्ठा कर सरकारी अधिकारी अथवा राज्यकोष में जमा कर दिया करता था परन्तु जागीर के क्षेत्र का राजस्च इकट्ठा करने की कठिनाई से मुक्ति मिल जाती थी, परन्तु व्यवहारिक रूप से जमींदार, जागीरदार के लिए कई नई समस्याएँ उत्पन्न कर देता था। जमींदार एकत्रित की हुई धन-राशि में से अपने हिस्से से अतिरिक्त कुछ हथियाने का प्रयास करता था और ऐसी स्थिति में जमींदार का लाभ-स्वाभाविक रूप से जागीरदार की हानि थी। जमींदार के पास भी क्योंकि सैनिक टुकड़ी होती थी। इसलिए जमींदार व जागीरदार के मतभेदों को लेकर क्षेत्र में अशान्ति उत्पन्न हो जाती थी। ऐसे क्षेत्रों मे जहाँ जमींदारी व जागीरदार के अधिकार एक ही व्यक्ति में निहित थे, वहां इस प्रकार के संघर्षो से तो मुक्ति की दर किसान पूरी तरह से जगीरदार कम जमींदार की दया पर निर्भर थी। जागीरदारी प्रथा की एक विशेषता इस प्रकार यह भी थी कि जागीरदारों की आए दिन बदली होती रहती थी। इसका एकमात्र उद्देश्य था कि जागीरदार अपनी जागीर में स्वयं को अधिक प्रभावशाली न बना ले। तुजक-ए-जहांगीरि से पता चलता है कि वतन जागीर को छोड़कर यह एक प्रतिष्ठापित नियम बन गया था कि किसी भी जागीरदार को एक स्थान पर चार वर्ष से अधिक न रहने दिया जाए। इसने जागीरदारों को शक्तिशाली बनने अथवा अपनी जागीर को स्थायी समझने की मनोभावना पर तो अंकुश लगा ही दिया, साथ ही उसे बादशाह की इच्छा पर निर्भर कर दिया। **इरफान हबीब** कहते है कि यदि जागीर की बदली किसी वर्ष के मध्य में हो जाती तो जागीरदार को अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता था, क्योंकि उसे एक स्थान पर खरीफ और बदली हुई जागीर में रबी की फसल से राजस्च इकट्ठा करना हो और दोनों ही फसलें अपने-अपने क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण न हों तो ऐसी स्थिति मे जागीरदार को उस वर्ष वित्तीय भार उठाना पड़ता था। इसके अतिरिक्त बदली, फसल काटने के महीनों में होती थी तो ऐसी स्थिति में पुराने व नए अधिन्यासी (Assignee) भूमि को स्वयं के अन्तर्गत रखी गई अवधि के आधार पर राजस्च को आपस मे बाटँने के अधिकारी थे। अचानक बदली की स्थिति में जागीरदार के सम्मुख और भी अधिक कठिनाई आती थी क्योंकि यदि उसने पूरा राजस्व अपनी जागीर में इकट्ठा नहीं किया हो तो उसे इस नुकसान का स्वयं भुगतान करना पड़ता था। इन कठिनाईयों के कारण जागीरदार अपने-अपने कार्यकाल में जागीर से अधिक से अधिक राजस्व वसूल करने के लिए तत्पर रहता था क्योंकि उसे सदा ही अपनी

बदली की आशंका बनी रहती थी। बर्नियर ने इस स्थिति का वर्णन करते हुए स्पष्ट किया है कि 'जागीरदार अपनी जागीरों से अधिक से अधिक राजस्व वसूल करने के लिए उद्यत रहते थे परन्तु वे जागीरों की उन्नति के प्रति पूर्णतया उदासीन थे। जागीरदारों का किसी भी क्षण स्थानान्तरण किया जा सकता था इसलिए वे जागीरों की उन्नति में कोई रूचि नहीं रखते थे।

वतन जागीर

सल्तनत काल में पदस्थ राजपूत शासकों एवं सुल्तानों के बीच एक सुव्यवस्थित एवं निश्चित नीति का निर्धारण अकबर द्वारा किया गया। राजपूत राजाओं द्वारा मुगल बादशाह की प्रभुसत्ता स्वीकार करने के लाभ ही उनकी शाही सेवा में नियुक्ति की जाती थी। तथा उनकी प्रतिष्ठा एवं प्रभाव के अनुसार शाही मसंब प्रदान किया जाता था। मनसंबदार के रूप में राजपूत राजा मुगल अमीर वर्ग के अंग थे तथा उन्हें प्राप्त मनसब की संख्या के अनुसार उनकी वेतन माँग का निर्धारण किया जाता था। वेतन माँग की अदायगी सामान्यतः जागीर के राजस्व के रूप में जिसकी आय वेतन-माँग के बराबर होती थी की जाती थी। क्योंकि राजपूत शासक मुगल प्रभुसत्ता को स्वीकार करने से पूर्व अपने स्वयं के क्षेत्र के शासक थे, अतः मुगल बादशाहों ने सैद्धान्तिक रूप से उनके वंशानुगत राज्य क्षेत्र में उनके परम्परागत अधिकार को स्वीकार किया। यह स्वायत्त जमींदार या सरदार कहलाए और उनके पैत क राज्यों को **वतन जागीर** के रूप में स्वीकार किया गया। इसका अर्थ हुआ कि सैद्धान्तिक रूप से सरदारों की स्थिति जागीरदार जैसी थी और इस प्रकार वे शाही मालगुजारी के कानून से बंधे थे। लेकिन इन जागीरदारी अधिकारों को प्रयोग वे अपने क्षेत्रों में वंशक्रम के अनुसार करते थे। फलस्वरूप ये अधिकार अहस्तांतरणीय थे।

अल-तमगा जागीर

अल-तमगा जागीर की शुरूआत जहाँगीर द्वारा की गई और यह **तनख्वाह जागीर** से भिन्न थी। जहाँगीर के अनुसार ऐसा इसलिए किया गया ताकि अकबर और जहाँगीरकालीन अनेक पदाधिकारी अपनी इच्छाओं को पूर्ण होते देख सकें। जहाँगीर लिखता है कि मैने बख्शियों को आदेश दिया कि यदि कोई अपनी मात भूमि के जागीर के रूप में प्राप्त करना चाहे तो वह इसके लिए निवेदन करे जिससे कि चंगेज के नियमों के अनुसार अलतमगा के अन्तर्गत उसकी जागीर को सम्पत्ति में परिणत कर दिया जाए जिससे कि वह जागीर तबादले की आशंका से मुक्त हो जाए।' जहाँगीर ने इसे **अलतमगा** की संज्ञा दी थी, क्योंकि इस प्रकार की जागीर की स्वीकृति के समय फरमान पर लाल (अल) मुहर के जगह सुनहरी (अलतुन) मुहर का प्रयोग होने लगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची

सतीश चन्द्र - उत्तर मुगलकालीन भारत।

अधर अली - औरंगजेब कालीन मुगल अमीर वर्ग।

Satish Chandra – Medieval India - Society, the Jagirdari Crisis and the Village.

Irfan Habib – Agrarian System of Mughal India.

मुगल काल में राज्य का स्वरूप

राजतंत्र को मध्ययुगीन राज्य व्यवस्था का आधार तत्व समझा गया। **अबुल फजल** के अनुसार "अगर राजतंत्र न रहा तो कलह की आंधी कभी दब नहीं पाएगी, न ही स्वार्थपूर्ण महत्वाकांक्षा समाप्त हो पाएगी। लालासा और व्यवस्था के भार से दबा मनुष्य विध्वंस की खाई में गिरता चला जाएगा ....." किसी साम्राज्य के प्रशासनिक ढांचे का आकार-प्रकार और राज्य की प्रक ति मुख्य रूप से संप्रभुता के सिद्धान्त और राजा की अपनी नीतियों द्वारा निर्धारित होती है। इसलिए मुगल राज्य को सही ढंग से समझने के लिए राज्य संबंधी सिद्धान्त और इसके विभिन्न पक्षों को जानना जरूरी है।

हालांकि बाबर तुर्क-मंगोल था परन्तु वह अपने को तुर्क कहने में गौरव महसूस करता था। बाबर अपनी माता के रिश्ते से चंगेज से और पिता के सम्बन्ध से तैमूर से जुड़ा हुआ था। उसने चंगेज खाँ व उसके परिवार का मान बनाए रखा। अबुल फजल भी चंगेज खाँ को एक महान् व्यक्ति कहता है। वस्तुतः इस तरह मंगोलों को गौरवान्वित कर और प्रतिष्ठा प्रदान कर भारत में मुगल अपने राजवंश का ही सम्मान बढ़ा रहे थे।

मुगलों ने कई रूपों में तुर्की और मंगोल अवशेषों से युक्त मध्य एशियाई राज्य व्यवस्था को अपनाया। वस्तुतः मंगोल व्यवस्था तुर्क-मंगोल व्यवस्था में परिवर्तित हो गई। मध्य एशियाई प्रशासन पर तुर्की प्रभावों के अतिरिक्त तुरा का भी काफी प्रभाव था। शासन संभालने के बाद चंगेज ने जो कानून बनाए उसे तुरा के नाम से जाना जाता है। तुरा में किसी प्रकार के धार्मिक तत्व नहीं थे और मुख्य रूप से इसका सम्बन्ध राजनीतिक सिद्धान्तों, सरकार के संगठन और नागरिक तथा सैनिक प्रशासन से था। तुरा एक अपरिवर्तनीय संहिता मानी जाती है। मुगल स्त्रोतों के मूल्यांकन से पता चलता है कि मुगल शासकों ने राजनीतिक आवश्यकताओं से प्रेरित होकर तुरा को इतना महत्व दिया था। वे भारत पर आक्रमण करने वाले दो भूतपूर्व आक्रमणकारियों चंगेज और तैमूर से अपना संबंध सिद्ध करना चाहते थे।

यह माना जाता है कि चंगेज ने अपनी संप्रभुता का दैवीय सिद्धांत मध्य एशिया के एक कबीले उइछलूरों से प्राप्त किया था। मंगोल स्वयं खान की असीम सत्ता में विश्वास रखते थे। मंगोल मानते थे कि "आकाश में केवल एक सूर्य या चांद रह सकते हैं, फिर प थ्वी पर दो स्वामी कैसे हो सकते हैं।" फिर भी संप्रभुता संबंधी मंगोल अवधारणा के प्रधान सिद्धान्त के अनुसार साम्राज्य का विभाजन राजा के लड़कों के बीच होता था। परन्तु तैमूर ने असीम संप्रभुता की आवधारणा का अनुसरण किया। उसके अनुसार विश्व के इन विस्त त भूभागों पर दो राजाओं के लिए जगह नहीं है, ईश्वर एक है, अतः प थ्वी पर ईश्वर का उपशासक भी एक ही होना चाहिए।" बाबर भी इसकी पुष्टि करता है, "शासन में साझेदारी जैसी बात कभी सुनी नहीं गई।" इन दावों के बावजूद तैमूर ने मुगल खाँ की प्रभुसत्ता को स्वीकार कर लिया था। तैमूर ने अपने लिए कभी भी अमीर से बड़ी पदवी का उपयोग नहीं किया।

आर.पी. त्रिपाठी, जो कि पहले इतिहासकार थे, जिन्होंने मुगल राजसत्ता का गंभीरता से अध्ययन किया व इसे तुर्को-मंगोल सिद्धान्त कहा, के तर्को में दो मूल मान्यताएँ प्रमुख हैः एक तैमूरवंशी तुर्की संस्थाओं और विचारों से इतने अधिक प्रभावित थे कि बाबर खुद को और अपने लोगों को तुर्क कहता था परन्तु इस बात में संदेह है कि मुगलों ने किस हद तक तुर्की राजनीतिक विचारों और संस्थाओं को पुनजीर्वित किया था। वस्तुतः अपने को और अपने लोगों को अवसरवादी मुगलों से अलग दिखाने के लिए ही उसने तुर्क कहना और कहलाना पसंद किया था। बाबर ने 1526 में खुद को **श्वाकान** कहा था - यह बात इस तथ्य को ओर भी पुष्टि करती है कि बाबर को अब भी कुछ चंगेजी संस्थाओं में आस्था थी और इन संस्थाओं का शब्द या अर्थ किसी भी तरह से तुर्की नहीं कहा जा सकता।

त्रिपाठी की दूसरी मुख्य मान्यता है कि मंगोल राजत्व में निरकुंशतावादी प्रव ति थी। तैमूर खुद को धरती पर खुदा का प्रतिनिधि कहता था। बाबर ने पादशाह की उपाधि धारण की थी। वह किसी के भी प्रभुत्व - न मुगल खान के और न ही खलीफा के - को स्वीकार करने के लिए तैयार न था। हुमायूँ तो प्रभुसत्ता को निजी सम्पत्ति मानता था। ऊपरी तौर से देखें तो यह तथ्य निरकुंशता की प्रव त्ति के परिचायक है परन्तु त्रिपाठी मानते हैं कि ऐसे निष्कर्ष निकालना वस्तुतः विषय का सरलीकरण करना होगा। वास्तव में प्रभुसत्ता के बारे में दैवी उत्पत्ति संबंधी उनके जो लंबे-चौड़े दावे थे वे शायद गद्दी पाने के मामलों तक ही सही थे। जहाँ तक निरकुंश शक्ति पाने का प्रश्न है, निश्चय ही उनसे इसका कोई संबंध नहीं था। मंगोल राजतंत्र का

कबीलाई स्वरूप और शक्तिशाली अमीर वर्ग - ये दोनों एक शक्तिशाली केन्द्रीक त राजनीतिक ढाँचे के आधार थे।

इतिहासकारों ने मुगल साम्राज्य की प्रव त्ति के लिए भिन्न-भिन्न मतों का वर्णन किया है, जिनमें से प्रमुख का विश्लेषण इसके स्वरूप को समझने के लिए आवश्यक है-

केन्द्रीक त राज्य - विलियम इरिवन, इब्न हसन, आई० एच० कुरैशी, पी० सरन, सतीश चन्द्र, नुसल हसन और अतहर अली जैसे विद्वानों ने अकबर के अधीनस्थ मुगल राज्य के केन्द्रीक त राज्य को एक उदाहरण माना है। इस राज्य में लगभग सभी पदों पर मनसबदार नियुक्त थे जो एक व्यापक अफसरशाही या प्रशासनिक व्यवस्था का निर्माण करते थे। साम्राज्य को प्रशासनिक सुविधा के लिए प्रांतों (सूबों), जिलों और उपजिलों में बाँटा गया था। हर स्तर पर सेना, राजस्व और न्याय से सम्बन्धित कर्मचारी व अधिकारी नियुक्त थे जो अपनी-अपनी निश्चित क्षेत्रीय सीमाओं में कार्य करते थे। सभी प्रकार की अधिकारों के विभाजन और वितरण की रेखाएँ बड़ी सावधानीपूर्वक खींची गई थीं। इन रेखाओं ने केन्द्र सरकार की राजधानी में नियुक्त मंत्रियों को छोटे कस्बों में नियुक्त छोटे कर्मचारियों से जोड़ रखा था। हर कर्मचारी अपने से वरिष्ठ अधिकारी के प्रति उत्तरदायी था। इन विद्वानों के मतानुसार ऐसा प्रतीत होता है मानो मुगल शासन का रूपांकन एक विशिष्ट प्रकार के तर्कप्रधान और सुव्यवस्थापूर्ण सैनिक, प्रशासनिक व न्यायिक ढाँचे में रखकर किया गया था।

पैत क अफसरशाही साम्राज्यः मुगल साम्राज्य के बारे में एक केन्द्रीक त राज्य के ढाँचे की संकल्पना सभी विद्वानों को मान्य नहीं है। जहाँ पूर्ववर्णित विद्वानों ने मुगल राज्य को केन्द्रीक त राज्य का उदाहरण मानते हुए उसकी व्यापक प्रशासनिक व्यवस्था पर विशेष बल दिया है, वहीं **विटफोगल** व **आइसेनस्टाट** ने भी यह मत व्यक्त किया है कि मुगल साम्राज्य का महत्त्वपूर्ण अभिलक्षण उसकी शक्तिशाली केन्द्रीक त निरकुंश अफसरशाही में नीहित है। **आइसेनस्टाट** के अनुसार अकबर ने एक अधिक केन्द्रीक त एकीक त राज्यतंत्र की स्थापना का प्रयास किया ताकि राजनीतिक निर्णयों और उद्देश्यों पर उसका एकाधिकार रहे। **एस.पी. ब्लेक,** पीटर हार्डी व **जे. रिचडर्स** का विचार है कि मुगलों के शासन विधान को अफसरशाही निरकुंशतावाद के साँचे में रखने की बजाए, उसे पैत क अधिकारतंत्र वाले साम्राज्य की कोटि में रखना अधिक अच्छा होगा। **ब्लेक** ने पैत क अफसरशाही साम्राज्य की विचारधारा को **मैक्स बेवर** से ग्रहण किया है। इस धारणा के अनुसार ऐसा राज्य वह होता है जो शासक के घर परिवार या बंधु-बांधवों का ही विस्तार माना जाएगा और शासक के प्राधिकार को भी किसी भी पित सत्ता-प्रधान परिवार के पिता के अधिकारों का ही विस्तार समझा जाएगा। पैत क राज्य की सेना शासक की घरेलू सेना से ही निर्मित होती है और उसका प्रशासन भी शासक के घरेलू प्रशासन जैसा ही होता है। किन्तु जब राजतंत्र बहुत फैल जाता है और घर-परिवार के लिए यह सम्भव नहीं होता कि वह पर्याप्त सेना या प्रशासन उपलब्ध करा सके तो ऐसी स्थिति में फिर गैर-पैत क अधिकारियों, कर्मचारियों और सैनिकों ने शासक के प्रधान अधीनस्थों के सैनिकों ने प्रशासन में प्रवेश पा लिया। ये नए अधिकारी कर्मचारी आधुनिक अर्थ में अफसरशाह-नौकरशाह तो नहीं होते क्योंकि उन पदों को वे केवल अपनी तकनीकी योग्यता से प्राप्त नहीं करते बल्कि शासक की क पा से प्राप्त करते हैं। ज्यों-ज्यों शासक के रिश्तेदार-सम्बन्धियों की संख्या के अनुपात में कमी आती गई, त्यों-त्यों राजतंत्र संशक्त होता गया और ऐसी स्थिति में पैत क अफसरशाह अधिकारियों को अपने अधीनस्थों को अपने अधीनस्थों के साथ संबंध स्थापित करने और बदले में उनसे वफादारी प्राप्त करने के लिए नई-नई कार्यनीतियाँ निर्धारित करनी पड़ी। **ब्लेक** इस बात पर बल देता है कि इतिहासकारों को चाहिए कि वे शासक के परिजनों और घरेलू मामलों पर विशेष ध्यान दे क्योंकि इन्हें ही वह नियंत्रण तंत्र और अधिकारियों को निष्ठावान बनाए रखने का साधन मानते हैं।

जान रिचडर्स मुगल साम्राज्य को **निरकुंशतावादी केन्द्रीक त बहुप्रांतीय साम्राज्य** के रूप में विश्लेषित करते हैं जो अपने संगठन व कार्यशैली में केन्द्रीक त भी था और विक्रेंद्रित भी, अधिकारी तंत्रीय भी था और पैत क सत्तात्मक भी। साथ ही वे मुगल साम्राज्य को एक सैनिक राज्य या युद्ध राज्य का स्वरूप भी मानते हैं जिसकी गतिशीलता उसकी सेना में निहित थी, जिसके कुलीन वर्ग व शासक वर्ग यौद्धा थे और राज्य के कुल राजस्व का बहुत बड़ा भाग युद्ध अथवा युद्ध की तैयारियों पर खर्च होता था।

विखंडित राज्य - बर्टन स्टीन, डगलस ई० स्त्रेसां और रिचर्ड फॉक्स जैसे इतिहासकारों ने मुगलकालीन राज्यतंत्र के स्वरूप का अध्ययन विखंडित राज्य की अवधारणा के रूप में किया है। खंडीय राज्य के सिद्धांत का प्रतिपादन **ऐडन साउथल** ने 1956 में किया था। मध्यकालीन दक्षिण भारत के साम्राज्यों का विवेचन करते समय बर्टन स्टाइन ने इस संकल्पना को ग्रहण किया। उसने खंडीय राज्य के दो महत्त्वपूर्ण लक्षण गिनाए पिरामिडी खंडीकरण और रस्मी तथा राजनीतिक प्रभुसत्ता के बीच विभाजन।

पिरामिड की तरह खंडित राज्य में राजनीतिक संगठन की सबसे छोटी इकाई अर्थात् किसानों के गांवों का एक हिस्सा एक ओर कुछ मामलों में अपने से बड़ी इकाइयों से आरोहण क्रम में जुड़ा होता है तो दूसरी ओर प्रत्येक इकाई कुछ अन्य मामलों में अन्य समान इकाइयों के विरोध में भी खड़ी प्रतीत होती है। खंडीय राज्य में रस्मी प्रभुसत्ता पर केन्द्र का एकाधिकार था किन्तु उसके हाथ में वास्तविक राजनीतिक नियंत्रण नहीं था। केन्द्र में सभी पादशाह ही वास्तविक शासक था किन्तु ज्यों-ज्यों केन्द्र से भौगोलिक दूरी बढ़ती जाती थी, शासक की शक्ति क्रमशः कम होती जाती थी। दूरवर्ती भूखंडो में उसके रस्मी अधीनस्थ अपनी शक्ति का उपयोग करते थे। खंडीय राज्य में जहाँ राजनीतिक नियंत्रण अनेक लोगों में बँटा रहता था वहाँ रस्मी प्रभुसत्ता तो विधिवतः केवल केन्द्र में ही सीमित होती थी।

विखंडित राज्य की संकल्पना के औचित्य का परीक्षण करने के पश्चात् **स्त्रेसां** इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मुगल साम्राज्य में विखंडित राज्य के ऊपर वर्णित दोनों लक्षण थे। केन्द्र मुगल दरबार था जिसमें रस्मी अथवा औपचारिक प्रभुसत्ता निहित थी। केन्द्र पर बादशाह का पूर्ण नियंत्रण था, किन्तु दूरस्थ भूखंडो पर प्रशासनिक प्राधिकार बादशाह के अधीनस्थ व्यक्तियों के पास था। यह राजनीतिक व्यवस्था क्रमबद्ध थी जिसमें सबसे नीचे गाँव थे। उनके ऊपर जमींदारों के अनेक स्तर थे, फिर शाही जागीरें थीं, परगने थे, सरकारें थीं और सूबे थे। वर्गीकरण के एक अन्य प्रकार के अनुसार दो प्रकार के भूखंड अथवा क्षेत्र थे स्थानीय और शाही क्षेत्र। स्थानीय जन समुदाय से निर्मित कुछ भू-खंड स्थानीय अथवा देशी क्षेत्र माने जा सकते हैं जिनकों केन्द्र केवल मान्यता देता था। केन्द्र द्वारा निर्मित भू-खंड शाही खंड होते थे। सूबों, सरकारों तथा मनसबदारों में सैनिक संगठन, निम्नस्तरीय अधिकारी तंत्र तथा खंडीय पद सोपान में स्थित अधीनस्थों की अन्य सभी विशेषताएँ थी परन्तु इनमें आपसी संघर्ष की स्थिति कदाचित ही उत्पन्न होती थी और यदि होती भी थी तो केन्द्रीय मुगल सरकर के पास सूबों में भी इतनी शक्ति थी कि वहाँ शाही तथा स्थानीय खंडों के आपसी संबंधों को नियंत्रित कर सकती थी। अतः मुगल राज्यतंत्र को विखंडित राज्य का पूर्ण उदाहरण मानना कठिन है। **स्त्रेसां** के अनुसार मुगल साम्राज्य के निर्माण के लिए उत्तरदायी राजनीतिक परिवर्तनों को समझने के लिए आवश्यक है कि इस परिवर्तन के चार अनिवार्य तत्वों का अध्ययन किया जाए। ये तत्व हैं-

1. शक्ति का बढ़ता हुआ केन्द्रीकरण,
2. अकबर की साम्राज्यिक संप्रभु के रूप में स्वीक ति और मुगल संविधान की अधिकाधिक स्वीकार्यता,
3. साम्राज्य के शासक समूह में परिवर्तन और
4. मनसबदारी व्यवस्था तथा मनसबदारों के वर्ग का विकास।

मुगल राज्य अपने संगठनात्मक रूप में पूर्णतः केन्द्रीक त था। उसमें सर्वप्रभुतासम्पन्न एकात्मक राज्य के सभी लक्षण मिलते हैं। **जेड.यू. मलिक** के अनुसार मुगल साम्राज्य ने अपनी प्रभुसत्ता का उपयोग बड़ी स्पष्टता से अपने सभी अधीनस्थ क्षेत्रों पर पूर्ण प्रशासनिक नियंत्रण रखते हुए किया। मुगलकाल में शाही केन्द्र असीमित शक्ति का स्त्रोत थे तथा हर सूबे के प्रशासनिक तंत्र की सभी शाखाओं को प्राधिकारों व शक्ति की प्राप्ति केन्द्र से ही होती थी। यद्यपि मुगल शासन एक विस्त त व व्यापक अधि ाकार तंत्र पर आधारित था जिसमें विभागों व अधिकारियों का श्रेणीबद्ध विभाजन था फिर भी शासक सर्वशक्तिशाली था। नागरिक सेवा से संबंधित पद हो अथवा सैनिक पद। कोई भी वंश वंशानुगत नहीं था। अधिकारियों की नियुक्ति, पदच्युति व स्थानांतरण का अधिकार शासक के पास था। अधिकारी भी अंततः बादशाह के प्रति ही उत्तरदायी होता था। इन तथ्यों के आधार पर मुगल राज्य को एकात्मक अधिकारीतंत्रीय प्रशासन पर आधारित राज्य भी कहा जा सकता है। शासक वर्ग के अधिकार को व्यापक बनाकर तथा मिली-जुली संस्क ति के लक्ष्य बनाकर अकबर ने इस प्रशासनिक ढांचे को स्थिरता व प्रशासनिक कुशलता प्रदान करने का प्रयास किया।

सैनिक साम्राज्य की धारणाः दिल्ली सुल्तानों व मुगल बादशाहों दोनों ने ही सैनिक ताकत के महत्त्व को बढ़ावा दिया। मनसबदारी प्रथा ने भी कुछ लोगों के मन में यह धारणा बिठा दी थी कि मुगल शासन सैनिक शासन था। किन्तु सभी मनसबदारों को तो सैनिक कार्य नहीं मिला हुआ था। अकबर के समय नागरिक प्रशासन भी उतना ही महत्त्वपूर्ण था, जितना कि सैनिक शासन। इसके अलावा सभी प्रकार की नागरिक सेवाएँ सैनिक संगठन पर ही आधारित नहीं थी। इसलिए मुगल राज्य किसी भी अर्थ में सैनिक राज्य नहीं था।

सभी इतिहासकार **वी.पी. बार्तोल्द** गोलाबारूद साम्राज्य की धारणा को मुगल साम्राज्य पर लागू करते हुए उसे सैनिक राज्य के रूप में वर्णित करते हैं। उन्होंने मत दिया कि मुगल, आटोमन और सफावी साम्राज्य अपने पूर्ववर्ती साम्राज्यों

से आकार, केन्द्रीकरण और कालवधि में इसलिए बड़े थे क्योंकि इनके समय में आग्नेयास्त्रों का विकास हुआ था। बाद में **मार्शल होजसन, विलियम मैक्नील** तथा **हरमन कुलके** व **डी. रोथरमंड** ने इसी परिकल्पना को आधार बनाते हुए मुगल साम्राज्य को गोलाबारूद साम्राज्यों की श्रेणी में रखा। **होजसन** व **मैक्नील** के अनुसार गोलाबारूद के प्रयोग विशेषतः अवरोधक तोपखाने की बदौलत मुगल साम्राज्य अस्तित्व में आया और केन्द्रीय शक्ति में व द्धि हुई क्योंकि अवरोधक तोपखाने के बल पर गढ़ों और किलों पर कब्जा किया जा सका था। इसी के बल पर मुगल एक व्यापक और अधिक केन्द्रीक त साम्राज्य पर शासन कर सके।

परन्तु **क्रिस्टोफर डफी** और **इरफान हबीब** का मत है कि मुगलों की युद्ध कला अथवा सैन्य शक्ति में तोपखाना ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग था। **हबीब** की मान्यता है कि तोपखाना मुगल सेना का निर्णायक शस्त्र नहीं था और वे मजबूत किलों के खिलाफ इसका सफल उपयोग नहीं कर सके। **इरफान हबीब** मानते हैं कि मुगलों की वास्तविक शक्ति तो उनकी अश्वारोही सेना में निहित थी। हबीब द्वारा प्रस्तुत आलोचना का सारांश यह है कि युद्धभूमि में मुगलों की श्रेष्ठता घेरेबंदी वाले युद्ध सामर्थ्य से बढ़चढ़ कर थी। व्यूह रचना युक्त तोपखाने, आग्नेयास्त्रों, सज्जित पैदल सेना तथा घुड़सवार तीरदांज सेना - तीनों ही केवल मुगलों के पास थे, इसलिए उनकी सैनिक श्रेष्ठता बनी रही। केन्द्रीय सरकार ने जब तक पैदल सेना और तोपखानों पर अपना नियंत्रण बनाए रखा, तब तक वह पर्याप्त शक्तिशाली रही। उसकी संयुक्त सेना ने जब चाहा, विद्रोहियों को हरा दिया। फिर भी **स्त्रेसां** के विचार में आटोमन साम्राज्य की अपेक्षा मुगलों के शासन के अधीन आने वाला परिमंडल कम केन्द्रीक त था। यह तथ्य दोनों साम्राज्यों के सैनिक संगठनों की तुलना करने से स्पष्ट हो जाता है। आटोमन साम्राज्य के सूबों के अधिकांश निजी सैनिक केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त सैनिक थे जबकि मुगल साम्राज्य में केन्द्रीय सरकार केवल सूबों में सेनाओं के अधिकारियों अर्थात् मनसबदारों को ही नियुक्ति किया करती थी और अधिकांश निजी सैनिकों के साथ उसका संबंध बहुत ही थोड़ा होता था।

स्त्रेसां मुगल साम्राज्य के संदर्भ में प्राच्य निरकुंशवाद, अधिकारीतंत्रीय साम्राज्य और गोलाबारूद साम्राज्य की अवधारणाओं को केवल प्रासंगिकता युक्त मानते हैं। उनके अनुसार मुगल साम्राज्य एक मिश्रण था जो व्यापक भाव में केन्द्रीय स्तर पर इस्लामी था और प्रान्तीय स्तर पर भारतीय। मुगल शासन के दौरान चलनशील खंडों की संरचना के द्वारा समर्थित एक साम्राज्यिक केन्द्र खंडों में जोड़-तोड़ कर फेरबदल तो कर सकता था परन्तु उनका विलय या संयोजन नहीं कर सकता था। प्रांतों की अस्थिरता मुगलों के लिए खतरा नहीं थी। यह साम्राज्य के गतिशील अस्तित्व का ही भाग थी।

राष्ट्रीय राज्य की अवधारणाः इतिहासकारों का मानना है कि गैर कट्टरपंथी राज्य नीतियों का प्रवर्तन व संवर्धन करके अकबर ने राष्ट्रीय राजत्व की परम्परा प्रारंभ की। इस मत के अनुसार राजपूतों तथा अन्य हिन्दुओं, भारतीय मुसलमानों, अफगानों, ईरानियों और मध्य एशिया मूल के मुसलमानों को शासक वर्ग में सम्मिलित कर अकबर ने उन्हें मुगल साम्राज्य में भागीदार बनाया और इस प्रकार साम्प्रदायिक राज्य के विपरीत एक राष्ट्रीय राज्य का निर्माण किया। **स्त्रेसां** इस विचारधारा की आलोचना करते हुए कहते हैं कि मुगल साम्राज्य के लिए राष्ट्रीय विशेषण का प्रयोग करना काल दोष ही माना जाएगा क्योंकि इसमें न तो जनसमुदाय की सामूहिक भागीदारी थी और न ही जनता का किसी भौगोलिक या जातीय आदर्श से लगाव था। यह तो केवल एक राजवंश का ही आदर्श था। **माइकल पियर्सन** और **पीटर हार्डी** के अनुसार मुगल साम्राज्य में मनसबदार थे और उनकी वफादारी बादशाह के प्रति थी और उनकी वफादारी ने भी साम्राज्य को वास्तविकता प्रदान की। इन इतिहासकारों का विचार बताता है कि अकबर ने उत्तर भारत में मुसलमानों व हिन्दुओं की निष्ठा अपने और अपने राजवंश के लिए प्राप्त कर ली थी और इस प्रकार उसने एक स्थिर आधारशिला पर अपने साम्राज्य को खड़ा किया था।

कल्याणकारी राज्यः इस विचार के अनुसार अकबर ने सहिष्णुता व परोपकार की नीतियाँ अपनाकर राज्य का शासन चलाया। अबुल फजल के अनुसार अकबर अपनी प्रजा को अपनी सन्तान की तरह मानता था व उनके कल्याण को अपना दायित्व मानता था। वह स्कूलों को दान किया करता था। उसने सार्वजनिक निर्माण के अनेक कार्य भी करवाए जैसे - कुएँ व तालाब खुदवाना, सराएँ बनवाना, अस्पताल खुलवाना आदि। उसने कुछ सामाजिक व नैतिक सुधार कार्यक्रम भी लागू किए जैसे शराब बंदी लागू की, जुआखोरी पर रोक लगाई, सती प्रथा बंद की, विधवा विवाह शुरू करवाए आदि। अकबर की परोपकारी नीतियों के बावजूद मुगल राज्य को कल्याणकारी राज्य कहना अतिशयोक्ति होगा। इसका कारण यह है कि उसके ये कल्याणकारी कार्यक्रम

आधुनिक सरकारों के कल्याण कार्यक्रमों के अनुरूप नहीं थे। .....मुगल प्रशासन ने सामान्यतः गांवों की ओर तो ध्यान ही नहीं दिया और जो दान-धर्म के कार्य किए गए, वे सब सम्राट की व्यक्तिगत परोपकार की भावना से था। इसलिए ये सभी कार्य न तो नियमित किस्म के थे और न ही सुव्यवस्थित। कुरेशी व बेनीप्रसाद मुगल राज्य को सांस्क तिक राज्य मानते हैं पर आज के अर्थ में संस्क ति के राज्य का द ष्टिकोण इतना व्यापक न था।

अकबर ने राज्य का जो स्वरूप मध्यकाल में स्थापित किया वह सार्वदेशिक था। उसकी नीतियाँ सुलह-ए-कुल (सभी के साथ शांति का व्यवहार) के सिद्धांत पर आधारित थी। जिसमें सभी जाति, धर्म सम्प्रदाय व राष्ट्रीयता के लोग सम्मिलित माने जाते थे। अकबर ने तौहीदे-इलाही की शुरूआत की, जो धर्म न होकर एक प्रकार की सूफी व्यवस्था थी। किसी व्यक्ति के लिए बाध्यता नहीं थी कि इसे स्वीकार करे ही।

अकबर के काल में राज्य संबंधी सैद्धान्तिक संकल्पना और उसके व्यावहारिक प्रतिफलन दोनों का समान महत्त्व है। मुगल राज्य की अनेक महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ अकबर के शासनकाल में ही परिष्क त चुकी थी।

सहायक ग्रंथ सूची

M. Athar Ali - "Towards an Interpretation of the Mughal Empire" Journal of Royal Asiatic Society 1978.

Satish Chandra - Parties & Politics at the Mughal Court

I.H. Qureshi - The Administration of the Mughal Empire.

S.P. Blake - "The Patrimonial Bureaucratic Empire of the Mughals" JAS, Vol. 39, 1979.

J.F. Richards - The Mughal Empire.

जमींदारी प्रथा

मुगल राज्य मध्यकालीन विश्व इतिहास के विशालतम राज्यों में से था जिसकी विशेषता प्रदेशिक विस्तार, भू राजस्व व्यवस्था, मुद्रा व सैनिक संगठन के क्षेत्र में संस्थात्मक नवीन प्रयोग तथा धर्म व संस्क ति के क्षेत्र में मिश्रित व सम द्ध लोकाचार थे। मुगल काल में विशेषतः अकबर के शासनकाल में नई प्रशासनिक संस्थाओं तथा व्यवहार, राजस्व व शासन तथा समाज की भिन्न अवधारणा, एक भिन्न सैन्य व्यवस्था व राजनीतिक व्यवहार के नए मानदंडों का विकास हुआ जिनका अध्ययन मुगल राज्य की समझ व विश्लेषण के लिए आवश्यक है।

जमींदारी प्रथा मुगलकाल की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता थी। **बी.आर. ग्रोवर** के अनुसार, "चाहे मुगलकाल से पहले भी भारत में जमींदारी प्रथा पायी जाती थी लेकिन यह मुगलकाल में ही पूर्ण रूप से विकसित हुई।

जमींदार शब्द कई प्रकार के लोगों के लिए प्रयोग किया जाता है, इसलिए इसकी कोई एक परिभाषा देना कठिन है। **अबुल फजल** इनके लिए अक्सर **भूमि** शब्द का प्रयोग करता है। टॉड ने जमींदारों के लिए **भूमिया** शब्द का प्रयोग किया है। अवध में वे **सतराही** व **बिस्बी** कहलाते थे। जमींदार का पर्यायवाची शब्द जो अक्सर प्रयोग किया जाता था, मालिक था। 14 वीं सदी के दस्तावेजों में **मिल्कियत** व **जमींदारी** शब्द अलग-अलग स्थान पर समान अधिकारों के लिए प्रयोग किए गए हैं।

जमींदार के अर्थ उस व्यक्ति से होता है जो जमीन का मालिक हो। **आनन्दराम मुखलिस** ने इस शब्द का प्रयोग उस व्यक्ति के लिए किया है जिसके पास भूमि हो लेकिन बाद में इस शब्द का प्रयोग उस व्यक्ति के लिए होने लगा जिसके पास भूमि होती थी और वह उस पर काश्त भी किया करता था। संक्षेप में जमींदार वे व्यक्ति होते थे जो कुछ शर्तो पर भूमि को अपने अधीन रखते व इसके बारे में कुछ अधिकार भी रखते थे। उस पर काश्त भी करते या करवाते थे। ये जमींदार तथा जमींदारी प्रथा का प्रायः स्वीक ति मत है। **इरफान हबीब** व **एन.ए. सिद्की** इस विचार से सहमत हैं पर **मोरलैण्ड** जमींदार शब्द की संकुचित परिभाषा देते हैं। उनके अनुसार जमींदार वह व्यक्ति था जो मुगल सम्राट का अधीनस्थ था। इस सम्बन्ध में **इरफान हबीब** कहते हैं कि "मुगल काल में जमींदारों का कुछ भाग अधीनस्थों का अवश्य था पर केवल उन्हें ही जमींदार नहीं माना जा सकता।" जमींदारों में अन्य वर्ग के लोग भी सम्मिलित थे।

यद्यपि जमींदारी प्रथा बहुत हद तक मुगलकाल से सम्बन्धित है व मुगलकाल में ही इसका पूर्ण विकास हुआ पर जैसा कि **सतीशचन्द्र** कहते हैं "बहुत से जमींदारों के पास भारत में तुर्को के आने से पहले ही जागीरें थी।" **नूरुल हसन** 12वीं शताब्दी में इसके स्पष्ट पाए जाने के प्रमाण मानते हैं व **इरफान हबीब** बताते हैं कि भारत में जमींदारी शब्द का प्रयोग सम्भवतः 14वीं सदी में प्रारंभ हुआ था।

जमींदारों का वर्गीकरण

जमींदारों के वर्गीकरण के विषय भिन्न-भिन्न इतिहासकारों के भिन्न-भिन्न विचार हैं। ग्रोवर जमींदारों का कोई वर्गीकरण नहीं करते व समस्त प्रकार के जमींदारों के लिए जमींदार शब्द का ही प्रयोग करते हैं। **सिदकी** इनको दो भागों -

1. पेशकशी जमींदार व
2. मालवाजिब जमींदार (लगान देने वाले जमींदार) में वर्गीक त करते हैं।

इरफान हबीब इनको दो भागों-

1. स्वतन्त्र जमींदार व
2. साधारण जमींदार में बाँटते हैं परन्तु

नूरुल हसन इनको तीन भागों

1. सरदार
2. मध्यस्थ जमींदार व
3. प्राथमिक जमींदार में विभाजित करते हैं।

इतिहासकारों ने यद्यपि इनका विभिन्न-विभिन्न वर्गीकरण किया है पर यह जानना आवश्यक है कि इनमें कोई पूर्ण रूप से वर्गीकरण नहीं था। उदाहरणतः एक स्वतन्त्र जमींदार की भूमि में न केवल स्वतन्त्र जमींदार ही मिलते थे बल्कि मध्यस्थ व प्राथमिक जमींदार भी मिलते थे। इन तीनों तरह के जमींदारों का वर्णन इस प्रकार है-

सरदार: ये वे लोग थे जो अपने क्षेत्रों के पुश्तैनी स्वायत्त शासक थे और व्यावहारिक रूप से प्रभुसत्ता का उपयोग करते थे। सल्तनत की स्थापना के समय से ही सुल्तानों ने इन सरदारों से अपना आधिपत्य मनवाने का प्रयत्न किया और उन्हें नियमित रूप से कर देने तथा आवश्यकता पड़ने पर सल्तनत को सैनिक सहायता देने के लिए बाध्य किया। ये सर्वोच्चता को मान्यता प्राप्त करवाने की नीति तथा कर तथा आवश्यकता के समय सैनिक सहायता लेने की प्रथा मुगलों ने कायम रखी। इसका परिणाम यह हुआ कि जब तक अकबर गद्दी पर आया, उस वक्त सरदारों के अधीन मुगल साम्राज्य का बहुत बड़ा हिस्सा था। वास्तव में मुगलों ने सरदारों से व्यवहार करने में कई नए तत्वों को जन्म दिया, उदाहरणतः अकबर ने सरदारों तथा साम्राज्य में एक शक्तिशाली कड़ी बहुत से सरदारों को मंत्रालय तथा प्रशासनिक ढांचे में नियुक्त करके स्थापित की। यह मुख्यतः मनसबदारी प्रथा के द्वारा किया गया व उसकी नीति उसके उत्तराधिकारियों द्वारा जारी रखी गई। उदाहरणस्वरूप यह कहा जा सकता है कि औरंगजेब के शासन बाद के आधे समय में 81 मनसबदार सरदारों के शासकीय घरों से संबंध रखते थे। उनके 100 या उससे अधिक घुड़सवार मनसब थे। यह लगभग कुल मनसबदारों का 15 प्रतिशत थे।

जब किसी को मनसब दिया जाता था तो उसको सैनिकों के खर्चे के लिए जागीर भी मिलती थी। प्रायः जागीरों से प्राप्त आय उस फौज पर होने वाले खर्चे से अधिक होती थी जो कि सरदार को सम्राट की सहायता हेतु रखने पड़ते थे। उदाहरणतः 5000 जात व 5000 सवार के मनसबदार को ऐसी जागीर दी जाती थी जिसकी वार्षिक आय 8.3 लाख रूपये होती थी जो कि कई मुख्य राजपूत शासकों की आय का कई गुणा होती थी। इसके अतिरिक्त सरदारों को सम्राट को उखाड़ फेंकने की बजाए सम्राट के अधीन रहना पसंद करते थे। इस प्रकार अकबर व उसके अधिकारियों ने विद्रोह तथा सरदारों के स्वतंत्र हो जाने के प्रयत्नों को खत्म कर दिया। मुगल शासक न केवल इन सरदारों से वफादारी व सैनिक सहायता की ही आशा रखते थे बल्कि सरदारों के उत्तराधिकारी नियुक्ति करने के विषय में भी कुछ अधिकारों का प्रयोग करते थे। यद्यपि साधारणतया वे उत्तराधिकार के मामलों में दखल नहीं देते थे, फिर भी ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं, जहां पर मुगल शासक जमींदारों के उत्तराधिकारियों को स्वीकार करने से इंकार कर देते व अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करते थे। उदाहरणस्वरूप सम्राट जहांगीर (1605 - 27) ने बीकानेर के राजा रायसिंह के छोटे लड़के सूरजसिंह की नियुक्ति नामंजूर करके उसके स्थान पर बड़े लड़के दलपत की नियुक्ति की।

मुगल जमींदारी प्रथा की एक अन्य विशेषता यह थी कि मुगल सम्राट इस बात पर बल देते थे कि सरदार शाही दरबार में उपस्थित रहा करे। यदि जमींदारों के लिए अन्य जगह पर नियुक्ति होने के कारण यह संभव न होता तो उनको शाही दरबार में अपना एक निकट सम्बन्धी प्रतिनिधि के रूप में रखना पड़ता था। यह बात आवश्यक है कि मुगल सम्राटों ने स्वतंत्र जमींदारों के अधीनस्थ अधिकारियों के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की। यह स्वतन्त्र जमींदारों की शक्ति को कम करने तथा मित्रों के नए वर्ग को बनाने के विचार से था।

मुगलों ने इन स्वतन्त्र जमींदारों के क्षेत्र को वतन जागीर की मान्यता दी जिसका अर्थ यह होता था कि सरदार को यह क्षेत्र मुगल शासकों द्वारा अनुदान के रूप में दिया गया है जबकि सरदार इसका अभिप्राय यह लेते थे कि यह वंशानुगत है। दूसरे शब्दों में पहले वाले क्षेत्र को सरदार जागीर के रूप में रखते थे तथा कर देते थे जिसे **पेशकश** (नजराना) कहा जाता था। मुगलशासकों ने इस बात का ध्यान रखा कि पेशकश को लगान नियमों के आधार पर निश्चित किया जाए। दूसरे शब्दों में

1. उपज योग्य क्षेत्र के आधार पर
2. फसल की किस्मों आदि पर।

परन्तु यह कहना कठिन है कि कहाँ तक मुगल शासक नजराने को कर के रूप में जो वास्तविक उत्पादन के आधार पर अनुमानित किया जाए में परिवर्तित कर सके।

इन स्वतन्त्र जमींदारों को भी साम्राज्य के नियमों का विशेष रूप में कानून तथा व्यवस्था को बनाए रखने तथा यातायात के साधनों की स्वतन्त्रता का पालन करना पड़ता था। सम्राट न केवल इन सरदारों को इस बात पर मजबूर कर देते थे कि वे विद्रोहियों, अपराधियों व शरणार्थियों को जो कि उनके क्षेत्र में आ जाते थे, के विरूद्ध शीघ्र कदम उठाएँ बल्कि वे इस बात का भी अधिकारी अपने पास रखते थे कि कोई व्यक्ति इन सरदारों के विरूद्ध शाह सरकार से न्याय की माँग कर सकता था। उदाहरणतया बीकानेर के राजा सूरजसिंह ने अपने बड़े भाई दलपत के सैनिकों को गिरफ्तार कर लिया तो जहांगीर ने उन्हें छोड़ देने का आदेश दिया। इसके अतिरिक्त कई फरमान मिलते हैं जिनमें सरदारों को यह हुक्म दिया गया था कि जो व्यापारी उनके क्षेत्र से गुजरे उनको किसी प्रकार से तंग न किया जाए व उन पर किसी प्रकार का अनुचित कर न लगाया जाए।

उपरोक्त वर्णन से यह निष्कर्ष निकलता है कि मुगलकाल में सरदारों या स्वतन्त्र जमींदारों की एक महत्त्वपूर्ण श्रेणी थी। उनको साम्राज्य में विभिन्न तरीकों तथा नियमों द्वारा नियंत्रण में रखा गया लेकिन जितना भी जमींदारों पर नियंत्रण क्यों न रखा गया हो, तथा जैसा कि **नूरुल हसन** कहते हैं, यह है कि "मुगल साम्राज्य अपनी आय-व्यवस्था, सैनिक सेवा तथा कानून एवं व्यवस्था को बनाए रखने में जमींदारों पर बहुत अधिक निर्भर रहा है। इससे मुगल व्यवस्था मे जमींदारों का महत्त्व स्पष्ट दिखाई देता है।

मध्यस्थ जमींदार

इस श्रेणी के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के जमींदार आते थे जो प्राथमिक जमींदारों से मालगुजारी इकट्ठा करके शाही खजाने में, या जागीरदारों को, या सरदारों को दे दिया करते थे या कुछ स्थितियों में, अपने ही पास रखते थे। ये मध्यस्थ न केवल मालगुजारी प्रशासन की रीढ़ थे बल्कि कानून तथा व्यवस्था बनाए रखने की जिम्मेदारी भी इन्हीं की थी। अपनी इन सेवाओं के बदले वे विभिन्न प्रकार के अनुलाभों का उपभोग करते थे जैसे कमीशन (हिस्सा) रियायतें, करमुक्त भूमि (ननकार या बंध), उपकर इत्यादि। साधारणतया मालगुजारी में उनका हिस्सा 2.5 से 10 प्रतिशत के बीच होता था। अधिकांश जमींदारों को पैत क उत्तराधिकार प्राप्त थे यद्यपि कुछ जमींदार थोड़े समय के अनुबंध पर भी इस पद पर काम करते थे। चौधरी, देशमुख, देसाई, देशपांडे, मुकद्दम, कानूनगो और इजारेदारों के कुछ प्रकार और जमींदारों का वह वर्ग जो किसी विशेष क्षेत्र की मालगुजारी वसूल करने के लिए राज्य से अनुबंध करता था और सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में तालुकदार के जातीय नाम से जाना जाने लगा - मध्यस्थों के अन्तर्गत आते थे।

भूमिकर व्यवस्था में इनकी स्थिति तब स्पष्ट हो जाती है जब हम याद बात यह रखे कि पूरा देश एक या दूसरे प्रकार के मध्यस्थ जमींदार के क्षेत्र में आता था। यद्यपि मध्यस्थ जमींदारों के अधिकार वंशानुगत हुआ करते थे, फिर भी वे राज्य की सत्ता से या शाही सरकार के नियंत्रण से मुक्त नहीं होते थे। सम्राट यदि उचित समझता तो उनके उत्तराधिकार के मामलों में दखल दे सकता था और उनके क्षेत्र को उनके सम्बन्धियों व भाईयों में बाँट सकता था। इसी प्रकार जब शाही सरकार किसी जमींदार से अप्रसन्न हुआ करती तो उसको या तो पदच्युत कर दिया जाता था या उनका परिवर्तन कर दिया जाता था। जैसा कि अकबर ने इलाहाबाद के चौधरी को इस बात पर बेदखल कर दिया कि वह पवित्र स्नान के लिए त्रिवेणी जाने वाले तीर्थयात्रियों को परेशान करने लगा था। इसी तरह औरंगजेब ने एक आदेश निकाला कि परगने में दो से अधिक चौधरी नहीं हो सकते। हों तो उन्हें पदच्युत कर दिया जाए। कई बार मुगल बादशाहों ने कानून तथा व्यवस्था बनाए रखने या मालगुजारी के निर्धारण और वसूली की सुविधा के लिए नियुक्त व्यक्तियों को जमींदारों के अधिकार प्रदान किए।

मध्यस्थ जमींदारों से उम्मीद की जाती थी कि वे निम्नलिखित कार्य करें - राज्य के लिए मालगुजारी के निर्धारण का विवरण तैयार करना, मालगुजारी की वसूली में सहायता करना, उपज व द्धि को प्रोत्साहन देना, शाही अफसरों को कानून और व्यवस्था बनाए रखने में सहायता देना और एक निश्चित सैनिक सहायता राज्य को देना। ये जमींदार राज्य के खर्चे पर अपने अधिकारों को मजबूत बनाने का प्रयत्न करते थे जैसे कि राज्य की क षिहीन अनुपजाऊ बेकार भूमि को बेचने के अधिकार को अपने हाथ में ले लेते थे। दूसरी ओर उन्होंने गाँव के लोगों का शोषण बढ़ा दिया और अधीनस्थ प्राथमिक जमींदारों की स्थिति गिराने का प्रयास किया। प्राथमिक जमींदार करे न करे, पर क्योंकि मध्यस्थों पर मालगुजारी का भुगतान करने की जिम्मेदारी था अतः कई बार किसानों से सीधे ही वे मालगुजारी वसूल कर लिया करते थे। ऐसे में उनसे प्राथमिक जमींदार के लिए उनका प्रथागत मालिकाना छोड़ने की अपेक्षा की जाती थी।

साथ ही उनकी द ष्टि पैत क राज्याधिकार प्राप्त करने पर लगी रही और जब भी अवसर आया, उन्होंने सरदार बनने का प्रयत्न किया। मुगल साम्राज्य के कमजोर होने और जागीरदारी व्यवस्था का संकट बढ़ने पर इन मध्यस्थों ने अपनी शक्ति बढ़ा ली और अपने कुल के अन्य मध्यस्थ जमींदारों के साथ मिलकर वे विद्रोह के लिए अकसर उठ खड़े होने लगे या उन्होंनें उन सरदारों के साथ हाथ मिला लिए जो शाही सत्ता के विरूद्ध विद्रोह कर रहे थे। ऐसे जमींदारों और राज्य के बीच खिंचाव के फलस्वरूप राजनीतिक और प्रशासनिक उथल-पुथल तो मची ही, क षि उत्पादन और किसानों की दशा भी खराब हुई।

शाही सत्ता ने उद्दंड जमींदारों को वश में करने और उन्हें मालगुजारी कानून के अनुसार चलने पर बाध्य करने का बहुत प्रयास किया, फिर भी वे इस पूरे के पूरे वर्ग को नहीं दबा सकते थे। साधारणतया शक्तिशाली प्रशासक के अधीन मध्यस्थ अपना काम शाही नियमों के अनुसार ही करते थे लेकिन कमजोर प्रशासकों के अन्तर्गत स्थिति प्रायः हाथ से निकल जाती थी।

प्राथमिक जमींदार

प्राथमिक जमींदार को व्यवहारिक रूप से हर प्रकार के क षि योग्य और निवास योग्य दोनों प्रकार की भूमि पर स्वामित्व के अधिकार प्राप्त थे। इस वर्ग में अपने हाथ से या किराए के मजदूरों की सहायता से खेती करने वाले क षक स्वामी ही नहीं बल्कि एक या अधिक गांवों के स्वामी भी आते थे। साम्राज्य की सारी क षि योग्य भूमि इस या उस प्रकार के जमींदारों के स्वामित्व में थे। प्राथमिक जमींदारों के अधिकार पैत क तथा हस्तांतरणीय थे। मुगल शासन ने इन जमींदारों के अधिकारों की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझा और हस्तांतरण पत्रों को काजी की अदालत में दर्ज करवाने को प्रोत्साहन दिया जिससे दावों का सही सही विवरण रखा जा सके।

जो लोग पीढ़ियों से इन अधिकारों का उपभोग करते चले आ रहे थे या जिन्होंने इन्हें खरीद कर प्राप्त किया था; मुगलों ने उनके अतिरिक्त अन्य बहुत से लोगों को भी ये जमींदार अधिकार प्रदान किए। क षियोग्य भूमि को बढ़ाने की अपनी नीति को लागू करने के लिए बादशाहों ने उन लोगों को खुले हाथों जमींदारी अधिकार प्रदान किए जो जंगलों और बेकार भूमि को क षि योग्य भूमि में बदलने के लिए तैयार थे। अधिकतर मदद-माश अनुदान (पुण्यार्थ दिए गए कर मुक्त अनुदान) ऐसे थे जिन पर खेती नहीं होती थी। प्रत्येक नए शासक के राज्यारोहण पर मदद-माश अनुदानों की पुष्टि होनी होती थी लेकिन सामान्यतः पैत क उत्तराधिकार में हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। कुछ समय पश्चात् मदद-माश अनुदानों का स्वरूप भी जमींदारी जैसा हो गया। किसान मालिकों के अतिरिक्त अन्य जमींदार साधारणतया अपनी भूमि पुश्तैनी पट्टे पर अपने काश्तकारों को इस शर्त पर दे देते थे कि वे नियमपूर्वक मालगुजारी का भुगतान करे। जब प्राथमिक जमींदार मालगुजारी का भुगतान नहीं करते थे तब जमींदारों का लगभग दस प्रतिशत मालिकाना छोड़कर, किसानों से सीधा इसे इकट्ठा कर लिया जाता था। यह प्रतिशत जमींदार का सामान्य हिस्सा दर्शाता है। मालगुजारी के हिस्से के अतिरिक्त जमींदार अनेक प्रकार के उपकार लेने के लिए भी अधिक त थे; यद्यपि इस प्रकार के उपकरों से होने वाली आय का एक बड़ा हिस्सा उन्हें मालगुजारी के साथ ही जमा करना होता था।

जमींदारों को मालगुजार माना जाता था या उन्हें भी जमींदार माना जाता था जिन पर शासन द्वारा मालगुजारी का निर्धारण किया जाता था। किसानों से मालगुजारी इकट्ठा और राज्य का हिस्सा उच्चाधिकारियों के पास जमा करने की उनसे अपेक्षा की जाती थी। कानून और व्यवस्था को बनाए रखने में प्रशासन की सहायता करना और अनेक स्थितियों में अपने उच्च अधिकारियों की आदेश पर सैनिक टुकड़ियाँ भेजना उनके दायित्व में आता था।

एक ओर से वरिष्ठ जमींदारों तथा राज्य और दूसरी ओर से किसानों के बीच फंसे अधिकांश जमींदार अपनी स्थिति को सुधारने के लिए निरन्तर संघर्ष की माँग का बोझ किसानों के ऊपर डाल देते और इस प्रकार उनके आर्थिक शोषण को और अधिक करने में सहयोग देते। मगर बहुत से मौकों पर राज्य की बढ़ती हुई मांगों के विरूद्ध, प्रायः कुल और जाति के नाम पर लोगों को इकट्ठा करके किसान विद्रोहों का नेत त्व भी करते थे। जहाँ विद्रोह सम्भव नहीं था, वहाँ बहुत से जमींदार, जब तक बलप्रयोग न किया जाता, मालगुजारी का भुगतान करने से मना कर देते थे। मध्यस्थ जमींदार तो जैसा पहले बताया जा चुका है, प्राथमिक जमींदारों की स्थिति को गिराने का हमेशा प्रयत्न करते थे।

इस प्रकार भूमि सम्बन्धों में एक इस प्रकार का ढांचा उभर कर सामने आया जिसमें विभिन्न प्रकार के अधिकार एक दूसरे के ऊपर थोपे गए थे। जमींदारों की विभिन्न श्रेणियों के हिस्सों का और साथ ही शाही मालगुजारी की माँग का बोझ अन्त में किसान पर ही पड़ता था। इससे क षि अर्थव्यवस्था पर इतना दबाव पड़ा कि अधिक प्रगति संभव न रह सकी। शाही सत्ता ने पूरी कोशिश की कि किसान को पैदावार के 50 प्रतिशत से अधिक भुगतान न करना पड़े। लेकिन जैसे ही शाही सत्ता का पतन हुआ और जागीरों पर दबाव बढ़ा, क षि अर्थव्यवस्था एक संकट की स्थिति में आ गई। यह संकट अठारहवीं शताब्दी में और अधिक हो गया।

राजनीतिक और प्रशासनिक रूप में जमींदार वर्ग को सामान्यतः मुगल साम्राज्य के वफादार, सहयोगी और सहायक के रूप में जाना गया। फिर भी जमींदारों और राज्य के बीच तथा जमींदारों के विभिन्न वर्गों के बीच हितों का टकराव दूर नहीं हो पाया। टकरावों से झगड़े पैदा हुए, कानून व व्यवस्था भंग हुई और राज्य की सैनिक व प्रशासनिक शक्ति में गंभीर रूप से कमी आई। इन अंतर्विरोधों को सुलझाने के लिए मुगल सत्ता द्वारा किए गए उपायों ने कम तो किया लेकिन कुछ ही समय के लिए। 1707 में औरंगजेब की म त्यु के बाद केन्द्रीय सत्ता इतनी कमजोर हो गई कि उसके लिए आपस में टकराते हितों के द्वारा पैर जमाने के पहले से ही मुगल साम्राज्य का जो पतन हुआ, उसमें इन अंतर्विरोधों का भी हाथ था।

सहायक ग्रन्थ सूची

S. Nurul Hasan - Thoughts on Agrarian Relations in Mughal India.

Irfan Habib - Agrarian System of Mughal India

N.A. Siddiqi - Land Revenue System under the Mughals

W.H. Moreland - Agrarian System of Moslem India

Satish Chandra - उत्तर मुगल कालीन भारत

मनसबदारी प्रथा

मुगलकालीन सैनिक तथा सिविल प्रशासन का मूलाधार मनसबदारी प्रथा थी। **अघर अली** के अनुसार मनसबदार साम्राज्य का शासक वर्ग थे। लगभग समस्त अमीर, नौकरशाही और सैनिक अफसर मनसबदार थे। इस कारण मनसबदारों की संख्या एवं संगठन का प्रभाव न सिर्फ आर्थिक व्यवस्था पर ही बल्कि राजनीति व प्रशासन पर भी पड़ा।

मनसब का अर्थ पद से न होकर बैंक या श्रेणी था। यह शब्द मुगल बादशाहों के अधीन नौकरशाही में किसी मनसबदार की स्थिति को प्रकट करता था। मनसब अपने आप में किसी कार्यपद का प्रतीक न था बल्कि इसके अनुसार मनसबदारों के वेतन निश्चित किए जाते थे और इसी के अनुसार एक मनसबदार पर उसका मनसब एक निश्चित संख्या में घुड़सवार रखने की जिम्मेदारी डालता था।

भारत में मुगलों के आने से पहले तुर्कों की सेना का संगठन दशमलव प्रणाली के आधार पर किया जाता था। इसके अनुसार दस घुड़सवारों का सेनानायक सरखेल, दस सरखेल पर एक सिपहसालार, दस सिपहसालार पर एक अमीर व दस अमीर पर एक मलिक व दस मलिक पर एक खान होता था। यह माना जाता है कि मनसबदारी प्रणाली का जन्म इस दशमलव प्रणाली के आधार पर हुआ। इस विषय में यह याद रखना आवश्यक है कि मुगलकाल में इसके संगठन व नियमों में इतने परिवर्तन हुए कि इसके पूर्वकालीन स्वरूप से इसकी तुलना नहीं हो सकती। मनसबदारी प्रथा जो अकबर ने प्रारंभ थी, वह कई बातों में प्रचलित प्रथा से भिन्न थी। यह अधिक जटिल व व्यवस्था स्थापित करने वाली थी।

मनसबदारी प्रथा का जन्म घुड़सवार सैनिकों के सुधार की समस्या से प्रारंभ हुआ। सर्वप्रथम 1566 में सेना की समस्याओं की तरफ अकबर का ध्यान आकर्षित किया गया। राजकीय अधिकारियों को यह शिकायत थी कि वेतन के बदले जो उन्हें जागीरें दी जाती थी, उनकी आय का निर्धारण मनमाने रूप से बढ़ा-चढ़ा कर किया जाता था। मुजफ्फर खाँ ने उनकी इस शिकायत को दूर कर दिया। किन्तु अब यह आवश्यक हो गया कि इन अधिकारियों को निश्चित संख्या में सैनिक रखने पर विवश किया जाए। **अबुल फजल** लिखता है कि उसी वर्ष राजाज्ञा द्वारा राज्य के सभी अधिकारियों के लिए एक निश्चित संख्या में सैनिक रखना अनिवार्य कर दिया गया।

मुगल मनसबदार चाहे उसके अधीन 10 सवार हों या 5000, प्रत्यक्ष रूप से बादशाह के अधीन थे। बड़े मनसबदारों व छोटे मनसबदारों में अन्तर केवल रिवाजी थी। उदाहरणतया एक 5000 का मनसबदार अपने अधीन 1000 - 1000 सवार के पाँच मनसबदार रखने का प्रतीक न था। उसका मनसब सिर्फ यही बताता था कि वह स्वयं अपने अधीन कितने घुड़सवार रख सकता था। वह अपने अधीन सैनिकों की देखभाल के लिए अफसर नियुक्त कर सकता था लेकिन वह अफसर मनसबदार नहीं हो सकता था। जब तक कि वह अपने अधिकार में मनसबदार न हो।

आइन के अनुसार अकबर के अधीन सबसे छोटा मनसबदार 10 सवारों का व सबसे बड़ा मनसब 10,000 सवारों का था। 5000 से ऊपर के मनसब शाही परिवार के लोगों के लिए होता था। 1585 में अकबर ने मनसब की अन्तिम सीमा बढ़ाकर 12,000 कर दी। तब अमीरों के लिए 7000 के मनसब दिए गए। जहाँगीर के काल में मनसब की सीमा और भी बढ़ने के प्रमाण मिलते हैं। दाराशिकोह को 60,000 जात व 40,000 सवार का मनसब दिया गया।

500 तक के मनसबदार, **मनसबदार** कहलाते थे। 500 से 2500 तक के मनसबदारों को **अमीर** कहा जाता था और 2500 से ऊपर के मनसबदारों को **अमीर-ए-आजम** कहा जाता था।

जात व सवार मुगल मनसब दोहरा था और इससे दो पदों का बोध होता था-

1. जात
2. सवार

इन पदों से क्या अभिप्राय था, इसके विषय में इतिहासकारों ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किए हैं। **ब्लाकमैन** के अनुसार जात सैनिकों की वह संख्या थी जिसके रखने की मनसबदारों से आशा की जाती थी किन्तु मनसबदार वास्तव में उतने सैनिक नहीं रखते थे। जितने सैनिक वे रखते थे उसका बोध **सवार** मनसब से होता था। **इरविन** के अनुसार सवार पद एक अतिरिक्त सम्मान था तथा प्राप्तकर्ता के जात की सूचित संख्या के अतिरिक्त सवार पद की संख्या से सूचित सैनिक भी रखने पड़ते थे। इरविन के विचार से सहमत होना मुश्किल प्रतीत होता है क्योंकि यदि जात और सवार दोनों के आधार पर सैनिक रखना था तो सवार मनसब की आवश्यकता क्या थी? यदि यह सम्मान था तो फिर सैनिक रखने का भार क्यों दिया गया? इसके अतिरिक्त यदि इस मत के आधार पर सैनिकों की गणना करें तो मुगल सेना की संख्या एक अविश्वसनीय अंक तक पहुँच जाएगी। **मौरलैण्ड**

का विचार है कि अकबर के काल में जब सवार मनसब प्रारंभ हुआ, उस समय जात को मानसूचक तथा वेतन का मापदण्ड स्वीकार किया गया तथा सवार मनसब वास्तविक संख्या में रखे जाने वाले घुड़सवार सैनिकों का परिचायक था। बाद में पूरे सवार संख्या के घुड़सवार नहीं रखे जाते थे जिसका संशोधन कर नियमानुकूल करने के लिए शाहजहाँ ने नए नियम चलाए जिससे सवार संख्या से कम घुड़सवार सैनिक रखने का नियम बना। **अब्दुल अजीज** के अनुसार जात मनसब एक निश्चित संख्या में हाथी, घोड़े, भारवाहक पशु और गाड़ियाँ रखने का बोधक था। सवार मनसब इसका सूचक था कि वास्तव में मनसबदार को कितने घोड़े रखने पड़ेंगे और इसके लिए उसे अतिरिक्त धन प्राप्त होता था।

ए. एल. श्रीवास्तव (अकबर महान) का मत है कि मनसबदारी प्रथा की स्थापना के कई वर्षो बाद भी मनसबदार अपने मनसबदार के अनुसार निर्धारित संख्या में घुड़सवार नहीं रख सके थे और न निरीक्षण करने के लिए उन्हें प्रस्तुत कर सके। इसके साथ ही घोड़ो, घुड़सवारों, हाथी, ऊँट, बैल आदि को एक साथ रखना गड़बड़ी उत्पन्न कर देता था। संभवतः इस गड़बड़ी को दूर करने के लिए अकबर ने जात से प थक सवार पद की 1594 -95 में स्थापना की। इसके पश्चात् से जात पद से घुड़सवारों का बोध नहीं होता था, बल्कि यह पता चलता था कि कितनी संख्या में हाथी, घोड़े व समान ढोने के लिए बैलगाड़ियाँ आदि किसी मनसबदार को रखनी है जबकि सवार का पद केवल घुड़सवारों की संख्या को निश्चित करता था।

उपरोक्त मतों से यह प्रतीत होता है कि जात मनसब लोक प्रशासन में मनसबदार के स्थान एवं पद का सूचक था। इसके आधार पर प्राप्त वेतन से वह अपनी पद एवं प्रतिष्ठा के अनुरूप अपने परिवार का पालन करता था। सवार मनसब के आधार पर वह नियमानुकूल अश्वारोही रखता था। किन्तु मनसबदार सदा निश्चित अश्वारोही नहीं रखते थे। ऐसी स्थिति में सम्राट को नए-नए नियम लागू करने पड़ते थे।

श्रेणियाँ

जात और सवार पद को प्रारंभ करने के साथ-साथ अकबर ने 5000 और उसके नीचे के मनसबदारों को तीन श्रेणियों में बाँट दिया था। श्रेणी का विभाजन जात व सवार की संख्याओं के अनुपात पर आधारित था।

1. वह मनसबदार जिसका जात व सवार मनसब समान होते, प्रथम श्रेणी का मनसबदार कहलाता था।
2. वह मनसबदर जिसका सवार मनसब जात मनसब के आधे से अधिक होता, द्वितीय श्रेणी का मनसबदार कहलाता था।
3. वह मनसबदार, जिसका सवार मनसब जात मनसब के आधे से कम होता, त तीय श्रेणी का मनसबदार कहलाता था।

इन मनसबदारों की नियुक्ति, उन्नति तथा पदच्युति केवल सम्राट की इच्छा पर निर्भर करती थी। किसी भी पद का कोई भी भाग वंशानुगत नहीं था।

इसके अतिरिक्त एक अन्य प्रकार के सैनिक थे जिन्हें अहदी कहा जाता था। **आइन** के अनुसार "सम्राट अशोक वीर एवं योग्य पुरूषों को कोई मनसब प्रदान नहीं करता था व उनको अन्य व्यक्तियों के आज्ञापालन से मुक्त रखता था। ये सम्राट के निजी सेवक होते थे। इनका व्यय राज्य वहन करता था व इनकी भर्ती मनसबदार नहीं कर सकते थे। प्रारंभ में प्रत्येक अहदी घोड़े रखता था पर बाद में कोई भी अहदी 5 घोड़ों से अधिक नहीं रख सकता था। इन्हें एक आज्ञापत्र दिया जाता था, जिसे देखकर कोषाध्यक्ष इन्हें वेतन देता था।"

अबुल फजल के अनुसार अकबर ने मनसबदारों की 66 श्रेणियाँ बनायी थी। किन्तु **आईन** में मनसबदारों की जो श्रेणियाँ और नामतालिका है, उनमें केवल तेंतीस श्रेणियों का उल्लेख है। **ब्लाकमैन** के अनुसार मनसबदारों की श्रेणियों की वास्तविक संख्या तेंतीस ही थी। **कुरैशी** का मानना है कि मनसबदारों की वास्तविक श्रेणियाँ 33 थी, व बाकी 33 श्रेणियाँ सैद्धान्तिक थी। **ए. एल. श्रीवास्तव** इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार अबुल फजल की यह सूची अपूर्ण है। यह सूची 1595 में बनाई गई इसलिए इसमें अकबर के शासन के अन्तिम वर्षो में जो नियुक्तियाँ तथा पदव द्धियाँ की गई, उनका इस सूची में उल्लेख नहीं है। इसके अतिरिक्त अबुल फजल 66 श्रेणियों के सभी मनसबदारों को जितने घोड़े, हाथी, ऊँट व बैलगाड़ियाँ रखनी पड़ती थी, उनका पूरा-पूरा विवरण देता है। वह इन 66 श्रेणियों के मनसबदारों के अलग-अलग वेतन भी देता है। इसलिए श्रीवास्तव उपरोक्त विचारों से सहमत नहीं है।

दागप्रथा

सेना की दक्षता एवं कार्यकुशलता के लिए यह आवश्यक था कि सैनिकों के पास अच्छे घोड़े रहे। अमीर जागीर तथा वेतन तो प्राप्त करते थे किन्तु सही मात्रा में सैनिक और घोड़े नहीं रखते थे। निरीक्षण के समय भाड़े के घोड़े, उधार की जीन व

कपड़ों आदि से निरीक्षण करा लेते थे। ऐसी स्थिति में युद्ध के समय सेना की स्थिति बड़ी दयनीय हो जाती थी। इन दोषों को दूर करने के लिए 1573 में अकबर ने दाग प्रथा चलाने का निश्चय किया। यह प्रथा अलाऊद्दीन व शेरशाह के समय में भी प्रचलित थी किन्तु उस समय घोड़ों पर केवल एक निशान लगाया जाता था। एक निशान होने के कारण निरीक्षण के समय एक ही घोड़ा कई अमीरों द्वारा प्रयोग किया जा सकता था। दाग महाली नामक एक प थक विभाग घोड़ों तथा हाथियों पर दाग लाने का कार्य करता था। प्रत्येक घोड़े पर दो निशान लगाए जाते थे-सरकारी निशान सीधे पुट्ठे पर व मनसबदार का निशान बाएं पुट्ठे पर। प्रत्येक मनसबदार का निशान प थक-प थक होता था जिससे मनसबदार अपने घोड़े एक दूसरे से न बदल सके। यह निरीक्षण वर्ष में प्रायः एक बार होता था। दाग की इस नई प्रथा से अमीरों को वेतन या जागीर पाने के लिए सैनिक रखना आवश्यक हो गया।

जहाँगीर के काल में - अकबर के शासन के अंत में एक, दो और तीन घोड़े रखने वाले सैनिकों का अस्तित्व था। ऐसे भी सैनिक थे जो नीम अस्पा सैनिक कहलाते थे। ऐसे दो सैनिकों के बीच एक घोड़ा रहता था।

अकबर की यह व्यवस्था जहाँगीर के शासन के नवें वर्ष तक चलती रही पर शासन के दसवें वर्ष में मनसब के साथ दुह अस्पा, सेह अस्पा जोड़ा जाने लाग। दुह अस्पा, सेह अस्पा का शाब्दिक अर्थ दो घुड़सवार व तीन घुड़सवार था किन्तु दुह अस्पा, सेह अस्पा को जब एक साथ प्रयुक्त किया जाता था तब इसका अर्थ सवारों की दुगुनी संख्या से होता था। उदाहरणस्वरूप 4000 जात 4000 सवार के मनसबदार के यदि 1000 सवारों को दुह अस्पा, सेह अस्पा कर दिया जाता तो इसका अर्थ होता था- 4000/4000+1000। यदि सवार पद के किसी हिस्से को दुह अस्पा, सेह अस्पा बना दिया जाता था तो बाकी के सवारों को **बाराउदी** कहते थे।

अथरअली ने इसके आरंभ करने का कारण यह बताया है कि जब बादशाह किसी व्यक्ति विशेष पर क पा करता था अथवा उसकी यह इच्छा होती थी कि उस व्यक्ति के नीचे उसके जात पद के बढ़ाए बिना ही ज्यादा घुड़सवारों की सेना रखनी चाहिए तो वह उसे दुहअस्पा, सेहअस्पा पद प्रदान करता था। जहाँगीर के समय यह बढ़ोत्तरी गिने-चुने मनसबदारों के सवार पर में की गई थी परन्तु शाहजहाँ के काल में उसे उदारता से दिया जाने लगा।

17वीं शताब्दी मनसब के साथ मशरूत मनसब भी जोड़ा जाने लगा। मशरूत का अर्थ है जो किसी शर्त के साथ निर्धारित हो। जब तक इसका अधिकारी उस शर्त की पूर्ति करता था तबतक इस अतिरिक्त मनसब का उपभोग करने का अधिकारी था। उदाहरणतया यदि किसी मनसबदार को ऐसे भूभाग या अन्य पद पर ऐसे क्षेत्र में भेजा जाता था जहाँ उसके कार्यपालन के लिए उसे अधिक सवारों की आवश्यकता पड़ती थी, उस समय उसका मनसब अल्पकाल के लिए उस पद के आवश्यकतानुसार बढ़ा दिया जाता था और उसके अनुसार उसे जागीर अथवा वेतन भी प्राप्त होता था। इस प्रकार यह अतिरिक्त मनसब (मशरूत) सवार पद के साथ दिया जाता था। स्थानांतरण होने के बाद साधारणतया अतिरिक्त मनसब (मशरूत) वापिस ले लिया जाता था जिसके परिणामस्वरूप उसकी जागीर भी वापिस ले ली जाती थी। कभी-कभी मशरूत मनसब पूरा का पूरा या उसका कुछ भाग और उसकी समकक्ष जागीर उसे प्रदान कर दी जाती थी। तब इसे उस मनसबदार के पद में बढ़ोत्तरी स्वीकार किया जाता था। ऐसा तब किया जाता था जब किसी मनसबदार के पक्ष में कुछ करना होता जब किसी को अतिरिक्त मनसब (मशरूत) बढोत्तरी के रूप में वापिस दिया जाता था तो यह जात मनसब के साथ ही दिया जाता था।

शाहजहाँ के समय में - शाहजहाँ के शासनकाल में मनसबदारी प्रथा में मासिक वेतन (Month Scale) का समावेश हुआ। **अथरअली** बताते हैं कि इसे आरंभ करने का प्रमुख कारण जागीर भूमि की जमा तथा हासिल में अन्तर होना था। इस प्रकार जब एक मनसबदार को एक जागीर मिलती थी तो उसकी जमा (वसूल की जाने वाली रकम) सरकारी दस्तावेजों में उसके वार्षिक वेतन के बराबर होती थी, परन्तु वास्तव में उसकी हासिल (वसूल की हुई रकम) उसके वेतन का आधा अथवा चौथाई होती थी। ऐसी स्थिति में उसकी जागीर को छमाही या तिमाही कहा जाता था। इस प्रकार मनसबदारों की जागीरें जमा व हासिल के अन्तर के कारण मासिक वेतन के हिसाब से कर दी गई। इसमें अब किसी भी मनसबदार को पूरे बारह महीने का वेतन न मिलकर आठ या छह या तीन महीने का वेतन ही मिलता था। **लाहौरी** (बादशाहनामा) बताता है कि बादशाह शाहजहाँ ने यह नियम बना दिया कि यदि कोई मनसबदार उसी प्रांत में नियुक्त है जहाँ उसकी जागीर है तो उसे अपने सवार पद के 1/3 सैनिक प्रस्तुत करने चाहिए और यदि उसकी जागीर दूसरे प्रांत में है तो 1/4 सैनिक प्रस्तुत करे। इसका अर्थ यह है कि यदि कोई मनसबदार 6000 जात 6000 सवार का है तो अपनी नियुक्ति के प्रांत में जागीर होने पर उसे 2000 घुड़सवार व दूसरे प्रांत में जागीर होने पर 1500 घुड़सवार पेश करेगा।

औरंगजेब के शासनकाल में - औरंगजेब के शासनकाल में मनसबदारी व्यवस्था में व्यवस्था की गई कि मनसबदार के स्थानान्तरण के साथ उसकी जागीर भी स्थानान्तरित कर दी जाती थी व उसने यह सामान्य नियम बना दिया कि सभी मनसबदार सवार मनसब का 1/4 सैनिक अवश्य रखें। इसके अतिरिक्त औरंगजेब के काल में मनसबदारों की संख्या बहुत बढ़ गई थी। इसका कारण साम्राज्य का विस्त त होना तथा दक्षिण के लम्बे युद्धों के कारण दक्षिणी अमीरों को अपनी ओर मिलाने के लिए मनसब देना। इससे अच्छी जागीरें प्राप्त करने के लिए दरबार में गुटबाजी शुरू हो गई और जागीर प्राप्त करने के लिए होड़ सी लग गई।

वेतन

मनसबदारों को वेतन नकद या उसके अनुरूप जागीर के रूप में दिया जाता था। मनसबदारों को अपने वेतन से ही राज्य की सेवा के लिए घोड़े, हाथी, भारवाहक पशु, बैलगाड़िया आदि रखनी पड़ती थी। इनका खर्च काटकर जो वेतन बचता था वह उनके तथा उनके परिवार के खर्च के लिए होता था। **अबुल फजल** ने **आइन-ए-अकबरी** में मनसबदारों की जो सूची दी है उसमें विभिन्न श्रेणियों के मनसबदारों को किस प्रकार के घोड़े, हाथी, भारवाहक पशु, गाड़ियाँ आदि रखनी पड़ती थी, इसका उल्लेख है। इसमें केवल जात मनसबदारों की ही वेतनतालिका है क्योंकि जैसा कि **ब्लाकमैन** कहते हैं क्योंकि उस समय तक सवार मनसब का प्रचलन आरंभ नहीं हुआ था।

आइन के अनुसार एक अस्पा (एक घोड़े वाला) घुड़सवार का वेतन अगर ईरानी होता था तो तीस रूपये प्रतिमास वेतन मिलता, यदि तुर्की होता तो बीस रूपये, याबू होता तो अठारह रूपया और जंगला हुआ तो बारह रूपया दिया जाता था।

अब्दुल अजीज के अनुसार अकबर के काल में साधारण अश्वारोही का औसत वार्षिक वेतन 9600 दाम (240 रूपये) था। जहाँगीर के काल में भी यह प्रचलित रहा। **दस्तरूलमअल** के आधार पर **इरविन** बताते हैं कि औरंगजेब के काल में प्रत्येक घुड़सवार को 8000 दाम प्रतिवर्ष वेतन प्राप्त होता था।

अकबर नकद वेतन पर जोर देता था पर जहाँगीर के काल से जागीर प्रथा ने जोर पकड़ना शुरू कर दिया। जब शाहजहाँ के काल से छमाही व नौमाही जागीरों का प्रचलन हुआ तो यह प्रथा नकद वेतन में भी प्रचलित हुई। जब कभी किसी मनसबदार को शशमाही मनसबदार नियुक्त किया जाता तो उसी अनुपात में वेतन प्राप्त होता था अर्थात् उसका वेतन जागीर के हासिल के आधार पर, न कि जमा के आधार पर निश्चित किया जाता था।

अबुल फजल बताता है कि हर वर्ष घोड़े के साज-सामान के लिए एक महीने का वेतन काट लिया जाता था जिसकी कीमत उसके वास्तविक मूल्य से 50 प्रतिशत अधिक बढ़ा दी जाती थी लेकिन चूँकि घोड़ों को खरीदने में बड़ी सावधानी बरती जाती थी इसलिए इस व द्धि से सैनिकों को कोई हानि नहीं होती थी। शाहजहाँ व औरंगजेब के काल में मनसबदारों के अधीन जानवरों के चारे का खर्च मनसबदारों के वेतन से काट लिया जाता था।

अबुल फजल ने आइन में जो जात पद के वेतन की सूची दी है, इसमें प्रथम, द्वितीय व त तीय श्रेणी के मनसबदारों के वेतन रूपयों में बताए गए हैं। जात पद के एक मनसब के वेतन का दूसरे मनसब के वेतन से अनुपात का कोई हिसाब न था। 1595 में अकबर ने एक आदेश जारी किया जिसके अनुसार जिन मुगलों, अफगानों, हिन्दुस्तानियों के पास तीन घोड़े थे उन्हें 1000 दाम, जिनके पास दो घोड़े थे उन्हें 800 दाम व जिनके पास एक घोड़ा था उन्हें 600 दाम वेतन के रूप में दिए जाएँ। राजपूतों के दो घोड़े वाले सवार को 600 दाम व तीन घोड़े वाले सवार को 800 दाम प्रतिमाह वेतन दिया जाता था।

आइन से पता चलता है कि अकबर के राज्यकाल में दस के घुड़सवार वाले मनसबदार को 20 घोड़े इस प्रकार रखने पड़ते थे:

3 सेह अस्पा	= 9 घोड़े
4 दुह अस्पा	= 8 घोड़े
3 यक अस्पा	= 3 घोड़े
10 सवार	= 20 घोड़े

उपरोक्त नियम के अनुसार 3 सेह अस्पा के 36000 दाम $(3 \times 12 \quad 1000)$, 4 दुह अस्पा के 38,4000 दाम $(4 \quad 800 \quad 12)$ तथा 3 यक अस्पा को 21000 दाम $(3 \quad 12 \quad 600)$ दाम प्रति वर्ष वेतन मिलता था।

गुण एवं दोष

इस प्रकार मनसबदारी प्रथा मुगल प्रशासन तथा सेना संगठन का प्रमुख आधार थी। मनसबदार मुगल साम्राज्य का अभिजात वर्ग था। राजपूत राजवंशों को छोड़कर यह वंशानुगत नहीं था। इस व्यवस्था से अब साम्राज्य के सभी वर्गो व क्षेत्रों के योग्य व्यक्तियों को सेना में प्रवेश पाने की सुविधा मिल गई तथा देश के प्रत्येक स्थान की रणशक्ति से लाभ उठाने का अवसर मिल गया। इस व्यवस्था से एक विशाल सेना के दिन प्रतिदिन के अनुशासन का भार केन्द्र के ऊपर नहीं रहा एवं इस व्यवस्था से मनसबदारों में सम्राट के प्रति स्वामिभक्ति और कर्त्तव्यनिष्ठा की भावना भी बढ़ी क्योंकि उनकी पदोन्नति सम्राट की क पा पर निर्भर करती थी।

मनसबदार कला तथा साहित्य के पोषक भी थे। सम्राट की तरह इनके पास भी साहित्यकार तथा कलाकार रहते थे। दरबार के शानोशौकत तथा रहन-सहन की तरह ही इनका अपना जीवन था।

मनसबदारी प्रथा में कुछ दोष भी थेः

सैनिकों की भर्ती मनसबदार करता था। वे ही उसका वेतन देते थे। इससे प्रत्येक मनसबदार के सैनिक की स्वामिभक्ति मनसबदार के प्रति रहती थी। सैनिक अपने को मनसबदार का सेवक समझते थे और यदि युद्ध में उसकी म त्यु हो जाए तो साधारणतया वह किसी का नेत त्व स्वीकार न करके युद्ध करना बंद कर देते थे।

भिन्न-भिन्न मनसबदारों की सेनाओं के अनुशासन तथा रखरखाव में भी अंतर था। सैनिकों में राष्ट्रीय भावना का अभाव था। सेना का केन्द्रीयकरण न होने से भी इसमें कमजोरी आ जाती थी। कबायली आधार पर संरचना के कारण मनसबदारों की सेनाओं में स्वभावतः वैमनस्य रहता था। इससे राष्ट्रीय सेना सम्भव न हो सका।

इस व्यवस्था में एक मनसबदार जीवन पर्यन्त एक ही सैनिक दल का संचालन करता था और एक रेजीमेन्ट से दूसरे रेजीमेन्ट में सैनिक अधिकारियों की बदली नहीं होती थी। अतः मनसबदार विभिन्न प्रकार के सैनिकों का नेत त्व करने के अनुभव से वंचित रह जाता था। फिर सम्राट की इच्छा पर पदोन्नति होने से मनसबदारों में आपसी ईर्ष्या व द्वेष भी हो जाता था। इस कारण वे मिलकर कार्य नहीं कर पाते थे।

मनसबदार की म त्यु के बाद नियमानुसार उसका मनसब समाप्त हो जाता था और राज्य उनकी सम्पत्ति जब्ती प्रथा के आधार पर अधिक त कर लेता था। इस कारण मनसबदार समस्त धन अपने जीवनकाल में ही समाप्त कर देना चाहता था जिससे वे विलासी हो गए।

मनसबदार पूर्णतया सैनिक अधिकारी नहीं थे। साधारणतया प्रत्येक मनसबदार में सैनिक तथा सिविल दोनों कार्य करने की क्षमता नहीं होती थी। सैनिक अभियानों से अचानक उन्हें सिविल कामों व सिविल कामों से अचानक सैनिक अभियानों में भेज दिया जाता था। इससे दोनों कार्यो की दक्षता तथा कार्यक्षमता में कमी आ जाती थी।

कमियाँ होने के बावजूद यह प्रथा मुगल शासन की आवश्यकताओं के अनुरूप थी। शुरू-शुरू में तो इसने मुगल साम्राज्य को स्थिरता प्रदान की पर बाद में इसमें दोष उत्पन्न होने से यह व्यवस्था चरमरा गई व मुगल साम्राज्य के पतन के लिए भी उत्तरदायी सिद्ध हुई।

सहायक ग्रन्थ सूची

Abdul Aziz - The Mansabdari System and the Mughal Army.

Ather Ali - Mughal Nobility under Aurangzeb.

Satish Chandra - **उत्तरमुगल कालीन भारत**

J.F. Richards - The Mughal Empire

Irfan Habib - 'The Mansab System, 1595 - 1637' P.I.H.C. Patiala, 1967.

Shireen Moosvi - 'The Evolution of the Mansab System under Akbar 1596 - 97' JRAS, 1978.

Irfan Habib (ed.) - **मध्यकालीन भारत** vol. 2&3.

अध्याय-13
औपनिवेशिक राज्यः राजनैतिक अर्थव्यवस्था; राज्य संयंत्र; एवं वैधीकरण के उपकरण
(Colonial State: Political Economy; State Appartus; Instruments of Legitimation)

मुगल साम्राज्य के बिखराव और विघटन के वर्षों में सत्रहवीं-अठाहरवीं शताब्दी का भारत अनेक स्थानीय सत्ता केंद्रों और छोटे प्रांतीय राज्यों में विभाजित हो गया था। इस इतिहास के विश्लेषण के आधार पर यह सरलता से कहा जा सकता है कि यदि सिक्ख और मराठे आपसी तालमेल और संतुलन से कार्य करते तो वे विशाल व अखंड भारत के एकछत्र शासक बनते। परंतु इसके अभाव में वे स्थानीय शासक ही रहे और ब्रिटिश प्रभाव को रोकने में भी असमर्थ रहे। परिणामस्वरूप 1757 ई० के प्लासी के युद्ध और 1765 ई० में बंगाल के नवाब के समपर्ण और ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा दीवानी अधिकार प्राप्त करने के साथ ही भारतीय राज्य की प्रकृति में मौलिक परिवर्तन का आधार तैयार हो गया। 1773 ई० के 'नियंत्रणकारी अधिनियम' (Regulating Act) तथा 1793 ई० के स्थायी बंदोबस्त (Permanent Settlement) ने आधुनिक ब्रिटिश भारतीय राज्य का सूत्रपात किया जो न केवल एक प्रशासनिक राज्य (Administrative State) था अपितु एक हस्तक्षेप करने वाला नियमनवादी (Interventionist) तथा घेराबंदी करने वाली परिवेष्टक राज्य (Encircling State) भी सिद्ध हुआ।

1773 ई० के अधिनियम से बंगाल के शासन को केन्द्रीय शासन के रूप में परिवर्तित करते हुए एक चार सदस्यीय परिषद की स्थापना की गई तथा वारेन हेस्टिंग्स को गर्वनर जनरल बनाया गया जिन्होंने एक प्रशासनिक विशिष्ट वर्ग को संस्थागत किया और भारत में आधुनिक नागरिक प्रशासन की नींव रखी। अंततः यह प्रशासन इतना व्यापक हुआ कि एडमंड बर्क ने भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन को "पूर्णतः दंडाधिकारियों द्वारा विनिर्मित राज्य" (A State made up wholly of magistrates) तथा "अधिकारियों के अनुक्रमिक पदारोहण का धर्मप्रशिक्षणालय" (A seminary for succession of officers) के रूप में वर्णित किया। यह राज्य भारतीय जनमानस के लिए एक नया अनुभव था।

प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था व मध्ययुगीन भारतीय राज्य मूलतः ऐसे राज्य थे जो आम भारतीय के जीवन को व्यापक तौर पर प्रभावित नहीं करते थे। सुरक्षा व कराधान के अतिरिक्त राज्य नागरिकों के जीवन को नियंत्रित नहीं करता था अतः अधिकांश व्यक्ति मत व सामाजिक क्रियाकलापों में भारतीय जनसमुदाय एक बड़ी सीमा तक स्वतंत्र व स्वायत्व था। उनके भूमि के साथ संबंध व अन्य व्यक्तियों व समुदायों के साथ संबंध स्थानीय प्रथाओं, आवश्यकताओं व पारिपाटियों पर आधारित रहे।

परंतु अठाहरवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ब्रिटिश प्रशासन ने एक सुविचारित नीति के अंतर्गत इस प्रशासनिक राज्य की नींव भारत में रखी थी ताकि एक विदेशी शोषणकारी शासन-व्यवस्था को ऐसे राष्ट्र में सुरक्षित किया जा सके जहाँ का बहुमत व जन-मानस उसे स्वीकार न कर रहा हो। परिणामस्वरूप भारत में एक इतना व्यापक प्रशासनिक-तंत्र विकसित किया गया जिसकी पहुंच हर वर्ग व हर स्थान तक थी। मैकाले के शब्दों से इस प्रशासन की व्यापकता का स्पष्ट आभास होता है। "कोई ऐसा गाँव नहीं है, कोई ऐसी बस्ती नहीं है जहाँ एक अच्छे और बुरे कलैक्टर (जिला प्रशासनिक अधिकारी) के बीच के अंतर का अर्थ प्रसन्नता और कष्ट के बीच का अंतर न बन जाए।''

अनेक उतार-चढ़ावों के पश्चात 1870-71 ई० तक कलक्टर अर्थात् जिला अधिकारी का पद जिले की संपूर्ण प्रशासनिक क्रियाओं की धुरी बन चुका था तथा जिला अधिकारी राज्य की सत्ता का एकमात्र व सक्रिय प्रतीक बन कर उभरा जिसका कार्य राजस्व कर संग्रह, भू-अधिकारों का वितरण, अकाल से बचाव, कृषि में सुधार, सार्वजनिक रख-रखाव, विद्रोह का दमन, विधि-निर्माण,

अपराधों की जांच, मुकद्मों का निर्णय, नगरपालिकाओं, विद्यालयों, अस्पतालों, सहकारी संस्थाओं इत्यादि का निरीक्षण था जिसमें अन्य अनके कार्य भी शामिल हो सकते थे। इस प्रकार एक व्यापक सर्वशक्तिशाली प्रशासनिक राज्य का आधार तैयार हुआ जिसका प्रशासन वायसराय लार्ड कर्जन (1898-1905) के शब्दों में 'हाथी' की भांति विशालकाय, अत्यंत भव्य व अत्यंत शक्तिशाली था परंतु चाल में राजसी मंथरता यानी मंदगति से युक्त था।

ब्रिटिश औपनिवेशक शासन का सर्वाधिक उपयुक्त चित्रण 'केंद्रीकृत अधिकारीतंत्र' (Centralized Bureaucracy) ही हो सकता है। यह एक पूर्णतः पदसोपानयुक्त व्यवस्था थी जिसमें निम्न अधिकारी उच्च अधिकारी का एजेंट तथा पूर्णतः उसके प्रति उत्तरदायी था। वह पूरी व्यवस्था नीचे से ऊपर तक सुगंठित, अत्यधिक केंद्रीकृत तथा अटूट लौह-दीवार की भांति अवस्थित थी। विदेशी शासक होने के कारण प्रशासक यहाँ की वास्तविक समस्याओं और यथास्थितियों से अनभिज्ञ थे, अस्थायी तौर पर भारत आते थे और भारतीय मामलों में रूचि लेते थे। परंतु वस्तुतः यहाँ के लोगों का कल्याण उनके सैन्यवाद और ब्रिटिश व्यापारी वर्ग के हितों के सामने गौण रहता था। ब्रिटिश शासन के दौरान समय-समय पर उभरे अकाल (यथा 1769-70 ई० में बंगाल में, 1861 ई० में मध्य व उत्तरी भारत में, 1996 ई० उड़ीसा, 1873-74 ई० बिहार, 1877-78 ई० मद्रास व बंबई और 1900 ई० में लगभग संपूर्ण भारत में व्याप्त अकाल) और महामारियां तथा इनमें हुए जान-माल की हानि इस तथ्य का पर्याप्त परिणाम प्रस्तुत करते हैं। वोल्पर्ट के अनुसार इन अकालों का मुख्य कारण कृषिगत अर्थव्यवस्था की उपेक्षा और मात्र राजस्व के लिए उनका शोषण था।

इस शासन का निरंकुश चरित्र इसकी भू-राजस्व व्यवस्था, उसकी वसूली की कठोरता तथा उसमें शारीरिक यंत्रणा की व्यापकता से भी प्रतिबिंबित होता है। 19 वीं शताब्दी में कार्ल मार्क्स ने अंग्रेजी की राज व्यवस्था और किसानों को शारीरिक यंत्रणा देकर लगान वसूल करने की पद्धति पर लिखे लेख में, उन सरकारी दस्तावेजों को उद्घ त किया जो भारत में शारीरिक यंत्रणा देने पर 'हाउस ऑफ कामन्स' के सम्मुख 1856-57 ई० में ही पेश किए गए थे। इन दस्तावेजों से यह स्पष्ट था कि प्रतिवर्ष अपराध करने वालों को इतनी बड़ी संख्या में यंत्रणा नहीं दी जाती थी जितनी संख्या में लगान न देने वालों की दी जाती थी। सबसे शोचनीय बात यह थी कि उनकी सुनवाई भी नहीं होती थी क्योंकि अंततः उनकी शिकयतें और प्रतिवेदन उसी अधिकारी-तहसीलदार अथवा कलक्टर के पास जाँच के लिए भेज दी जाती थी जो उस यंत्रणा के लिए उत्तरदायी होता था। ब्रिटिश शासन में निहित सर्वाधिकारवाद (Authoritarianism) के इस तथ्य को स्वयं ब्रिटिश इतिहासकारों ने भी स्वीकारा है।

अनेक भारतीय तथा यूरोपीय प्रशासनिक व्याख्याकारों ने ब्रिटिश प्रशासनिक केंद्रीकरण की जड़ें भारतीय परंपरा व इतिहास में खोजने का प्रयास किया है। यथा बी० बी० मिश्रा ने इस प्रशासनिक व्यवस्था की भारतीय समाज के ब्राह्मणवादी निरंकुशतंत्र से समानता प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। तो वी० सुब्रामणियम ने औपनिवेशिक जिला अधिकारी का पर्याय कौटिल्यकालीन पारंपरिक भारतीय जिला अधिपति को माना है। इसी प्रकार एरिक स्टोक्स ने प्रादेशिक कर्मचारी के हाथों में शक्ति के संकेद्रण की ब्रिटिश प्रशासनिक विशेषता को 'मुगल परंपरा' में खोजा है। तो प्रिगंले कैनेडी ने अधिकारी तंत्र का प्रारंभ अकबर के समय में मानते हुए भी यह मत व्यक्त किया है कि इसे यथार्थ स्वरूप अंग्रेजों ने ही प्रदान किया। औपनिवेशिक जिला अधिकारी और कौटिल्यकालीन जिले के स्वामी में कुछ हल्की सी समानता देखी जा सकती है। परंतु ब्रिटिश प्रशासनिक नियंत्रण और भारतीय सामाजिक स्तरीकरण तथा मुगल केंद्रीकृत नियंत्रण के बीच साम्य स्थापित करने के शेष प्रयास वस्तुतः विषय की अत्यंत सतही समझ अथवा पूर्वाग्रहों पर आधारित हैं।

जहाँ सामाजिक स्तरीकरण (हिंदू समाज) और राज्य नियंत्रण अथवा प्रभुत्व (ब्रिटिश औपनिवेशिक राज्य) एक जैसी अथवा समान प्रक्रियाएँ नहीं कही जा सकतीं वहीं मुगलकालीन केंद्रीकरण और ब्रिटिश प्रशासनिक केंद्रीकरण भी भिन्न जन प्रतिक्रियाओं के कारण बने। मुगल साम्राज्य का केंद्रीकरण जन सामान्य के जीवन को प्रत्येक कदम पर प्रभावित नहीं करता था जबकि ब्रिटिश प्रशासन का जिला अधिकारी (D.M) और राजस्व प्रशासक (Collector) प्रत्येक ग्रामीण के जीवन को सीधे प्रभावित करता था। यही कारण है कि जिस प्रकार का निरंतर विद्रोह व जन-असंतोष ब्रिटिश शासन के दौरान उभरा वह मध्यकालीन भारत की विशिष्टता नहीं था।

भारत में ब्रिटिश राज्य-संयंत्र की स्थापना का इतिहास ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा 31 दिसंबर 1600 ई० को चार्टर प्राप्ति व उनके भारत आगमन से प्रारंभ होता है। चार्टर द्वारा कंपनी के गर्वनर व 24 सदस्यों को प्रबंध के अधिकार दिये गए, पूर्वी भारतीय व्यापार पर कंपनी को एकाधिकार दिया गया तथा एक सीमित आकार (6 जलपोत, 6 अस्त्रशस्त्र सहित लघु नौका और 500 नौ सैनिकों) की नौसेना रखने की अनुमति दी गई थी। कंपनी के प्रारंभिक उद्देश्य भारतीय व्यापार पर एकाधिकार प्राप्त करना

तथा यहाँ के प्राकृतिक व वित्तीय संसाधनों पर नियंत्रण स्थापित करना थे। भारत आगमन पर यह कार्य कंपनी ने मुगल बादशाहों तथा अन्य स्थानीय शासकों की सेवा खुशामद एवं कूटनीति से किया परंतु मुगल साम्राज्य के बिखराव से उन्होंने भारतीय राज्य-सत्ता पर अपना नियंत्रण स्थापित करने को एक अधिक अच्छा समाधान समझा क्योंकि इससे अनेक कार्य एक साथ संपन्न हो सकते थे। अन्य विदेशी कंपनियों को भारत व्यापार करने से रोका जा सकता था, भारतीय व्यापारियों पर नियंत्रण लगाए जा सकते थे और भारतीय राजस्व पर सीधा नियंत्रण प्राप्त किया जा सकता था। 1757 में कंपनी को प्रथम उल्लेखनीय सफलता प्राप्त हुई जिससे एक निजी व्यापारिक कंपनी द्वारा अपनी सैन्य शक्ति व कूटनीति से एक स्वायत्त औपनिवेशक राज्य सत्ता स्थापित करने का रोचक परंतु भारत के लिए दुर्भाग्यपूर्ण इतिहास प्रारंभ हुआ।

शीघ्र ही बंगाल और दक्षिण भारत कंपनी के राजनीतिक नियंत्रण में आ गए जिससे व विजित क्षेत्रों के राजस्व पर सीधा नियंत्रण स्थापित करने और स्थानीय शासकों, सामंतों तथा जमींदारों की संचित संपत्ति हस्तगत करने की स्थिति में आ गई। अपनी राजनीतिक सत्ता का प्रयोग करते हुए कंपनी ने भारतीय व्यापार और उत्पादन पर अपना एकाधिकारवादी नियंत्रण स्थापित किया परंतु भारत की तत्कालीन आर्थिक प्रणाली, उत्पादन-पद्धति, प्रशासनिक ढांचे एवं सामाजिक संगठन एवं संस्कृति को बदलने का प्रयास नहीं किया गया। जो प्रशासनिक परिवर्तन किए गए वे राजस्व वसूली के ढांचे के ऊपरी भाग तक ही सीमित रहे। किए गए परिवर्तनों का एकमात्र लक्ष्य राजस्व वसूली को अधिक कुशल बनाना था। उसकी पुष्टि बंबई के तत्कालीन गर्वनर जेराल्ड आंजियर के उस पत्र से हो जाती है जो उन्हों ईस्ट इंडिया कंपनी के निर्देशकों को लिखा था। इसी के आधार पर कंपनी के निर्देशकों ने मद्रास के गर्वनर को सलाह दी थी कि वह "नागरिक और सैनिक सत्ता की ऐसी नीति कायम करें और राजस्व की इतनी बड़ी राशि का स जन कर उसे प्राप्त करें कि दोनों को सदा के लिए भारत पर एक विशाल स द ढ़ सुरक्षित आधिपत्य के आधार के रूप में बनाए रख सकें।"

शीघ्र ही कंपनी और उसके कर्मचारियों ने अपनी 'नव प्राप्त सत्ता और संपदा' का दुरूपयोग करना प्रारंभ कर दिया। अधिकाधिक धन प्राप्ति के लिए नवाब के अधिकारियों और बंगाल की सामान्य जनता पर अत्याचार किए गए। भारतीय अधिकारियों और जमींदारों को भेंट और रिश्वत देने के लिए मजबूर किया गया। भारतीय दस्तकारों, किसानों और व्यापारियों को विवश किया गया कि वे अपना माल उन्हें सस्ता बेचे और उनसे महंगे दामों पर उनका माल खरीदें। ऐसा करने से इन्कार करने वालों को बहुदा कोड़े लगाए जाते अथवा जेल में डाल दिया जाता। स्वयं अंग्रेज शासकों व इतिहासकारों ने कंपनी के शासन के इस काल को 'खुली और शर्महीन लूट का काल' वर्णित किया। रोबर्ट क्लाइव, जो कंपनी के क्लर्क की अपनी अवस्थिति से भारत में जागीरों के स्वामी बन गए थे, जब 1765 में दोबारा भारत आए तो बंगाल की दशा देखकर ब्रिटिश संसद के समक्ष यह विचार व्यक्त किए, "ऐसी अव्यवस्था, अराजकता, गडबड़ी, रिश्वतखोरी, लूट खसोट और भ्रष्टाचार बंगाल के अतिरिक्त किसी देश में न देखी न सुनी गई होगी और न ही ऐसे अनुचित उपायों से इतनी संपत्ति और धन कहीं जमा किया गया होगा। बंगाल, बिहार और उड़ीसा यह तीन प्रांत जिनकी आय तीस लाख पौंड है, मीर जाफर के काल में कंपनी के प्रभुत्व में है। कंपनी के नौकरों ने जिनमें सैनिक और नागरिक दोनों ही हैं, नवाब से लेकर छोटे जमींदारों तक सभी से जबरदस्ती रूपया ऐंठा है। कंपनी के कर्मचारियों के कारनामे इतने गिरे हुए हैं कि प्रत्येक हिंदू व मुसलमान उनके नाम तक से घ णा करता है।

इस प्रकार यह कथन अनुचित नहीं प्रतीत होता कि "आधुनिक भारतीय प्रशासन का आरंभ एक अत्यंत भ्रष्ट और अनुत्तरदायी शासन के साथ हुआ।" वस्तुतः कपंनी के अधीन भारतीय राज्य का वर्णन स्वयं लार्ड मैकाले और बाद में चार्ल्स बेली ने "विदेशी सैन्य निरंकुशवाद" के रूप में और 1858 कें तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री लार्ड पामर्स्टन ने 'अनुत्तरदायी शासन' के रूप में किया।

परिणामस्वरूप कंपनी के कार्यों पर ब्रिटिश सरकार का नियंत्रण 1773 ई० के रेग्यूलेटिंग एक्ट के द्वारा स्थापित किया गया। उसकी कमियों की पूर्ति के उद्देश्य से 1781 ई० के अधिनियम से गवर्नर जनरल व उसकी परिषद की स्थिति को मज़बूत किया गया। 1783 ई० में कंपनी के शासक निकाय कोर्ट्स आफ डायरेक्टर्स एण्ड प्रोप्राइटर्स को समाप्त करने के लिए ब्रिटिश संसद में पिट का भारतीय अधिनियम (Pitt's India Bill) पारित किया गया। जिसका उद्देश्य कंपनी को भारतीय मामलों के प्रबंध के सर्वोच्च व अंतिम नियंत्रण के अधिकार से वंचित करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति एक नियंत्रक बोर्ड (Board of Control) और निदेशक मंडल (Court of Directors) के द्वैध शासन की स्थापना के माध्यम से हुई जिसमें कंपनी की सभी वास्तविक शक्तियां नवगठित नियंत्रक बोर्ड के अध्यक्ष को प्राप्त हो गई जो व्यवहार में भारत मंत्री के रूप में कार्य करने लगा और ब्रिटिश मंत्रिमंडल का सदस्य भी था। निदेशक मंडल और कोर्ट ऑफ प्रोप्राइटर्स (Court of Proprietors) इस नये बोर्ड व उसके अध्यक्ष के नियंत्रण में आ गए। मोटे तौर पर यही व्यवस्था 1858 ई० तक चलती रही जब एक भारत सचिव की नियुक्ति की गई। 1788 ई० में

वारेन हेस्टिंगन पर महाभियोग चलाया गया। एडमंड बर्क ने संसद की कंपनी के शासन की आलोचना की और यह प्रक्रिया 1813 ई० में कंपनी के एकाधिकार की समाप्ति से 1858 ई० कंपनी के शासन की समाप्ति तक चलती रही।

1857 ई० में ब्रिटिश संसद द्वारा भारत सरकार अधिनियम 1858 पारित किया गया जिसके अनुसार 1 नवबंर 1858 ई० को महारानी विक्टोरियो ने एक शाही घोषणा द्वारा भारत का शासन अपने हाथों में ले लिया और भारत पर प्रत्यक्ष ब्रिटिश शासन प्रारंभ हो गया। इस दौरान 1833, 1853 और 1854 ई० के अधिनियमों द्वारा क्रमिक तौर पर कंपनी के शासन पर ब्रिटिश नियंत्रण सशक्त किया गया और ब्रिटिश सरकार के एजेंट अथवा ट्रस्टी के रूप में गर्वनर जनरल और परिषद में अधिकांश विधायी व कार्यकारी शक्तियां केंद्रित कर दी गई। अंततः 1873 ई० में एक अधिनियम पारित कर ब्रिटिश संसद द्वारा 1 जनवरी, 1874 ई० से ईस्ट इंडिया कंपनी को औपचारिक तौर पर भंग कर दिया गया और इस प्रकार इस व्यापारिक कंपनी का भारत से 274 वर्ष लंबा संपर्क और सत्ता संघर्ष का इतिहास समाप्त हुआ तथा 1858 ई० के भारत सरकार अधिनियम से भारत में क्राउन का सीधा शासन आरंभ हो गया।

भारत सरकार अधिनियम, 1858

1858 ई० के भारत सरकार अधिनियम की मुख्य धाराएं निम्नलिखित थीं:

1. भारत का गर्वनर जनरल वायसराय कहलाने लगा। शासन ईस्ट इंडिया कंपनी के स्थान पर ब्रिटिश सम्राट के अधीन हो गया तथा कंपनी की सेना पर भी ब्रिटिश सम्राट का नियंत्रण हो गया।
2. ईस्ट इंडिया कंपनी की शासक संस्थाओं नियंत्रक मंडल (Board of Control) और निदेशक मंडल (Court of Directors) को निरस्त कर दिया गया। उनके स्थान पर भारत सचिव (Secretary of State for India) और उसकी परिषद (India Council) भारत के सर्वोच्च शासक हो गए।
3. भारत सचिव ब्रिटिश मत्रिमंडल के सदस्य की हैसियम रखता था और ब्रिटिश संसद की कार्यवाही में भाग लेता था। वह भारत परिषद का सभापति था और निर्णायक मत देने का अधिकार रखता था।
4. भारत परिषद 15 सदस्यों की समिति थी। यह एक असैनिक और अराजनैतिक संस्था थी। जिसके सात सदस्य निदेशक मंडल द्वारा चुने जाते थे और शेष 8 सम्राट द्वारा नियुक्त किए जाते थे। आचरण ठीक रहते तक उन्हें अपने पद पर रहने का अधिकार था।
5. भारत में गर्वनरों और वाइसराय की परिषद के सदस्यों की नियुक्ति का अधिकार भारत परिषद को प्राप्त था।
6. भारत सचित का यह दायित्व था कि प्रति वर्ष भारत में राजस्व, रेलवे, विधि-निर्माण इत्यादि के विषय में एक रिपोर्ट हाउस ऑफ कामन्स के समक्ष प्रस्तुत करे।
7. इस अधिनियम के द्वारा सपरिषद भारत सचिव को एक कंपनी अथवा निगमित (Corporate) संस्था के रूप में संगठित किया गया जो भारत में और इंग्लैण्ड में दावा कर सकती थी और उस पर दावा किया जा सकता था।

इस प्रकार इस अधिनियम के अधीन 1858 ई० से भारत सचिव का पद अत्यंत शक्तिशली होकर उभरा जो कंपनी की अधिकांश शक्तियों का व्यवहार में उत्तराधिकारी बन गया। भारत सचिव संसद के प्रति उत्तरदायी था और मंत्रिमंडल का सदस्य होने के कारण उसकी नीति और परामर्श को संसद में भी महत्व प्राप्त था। परंतु भारत के प्रशासन के क्षेत्र में स्थानीय परिस्थितियों के प्रत्यक्ष अनुभव व ज्ञान के अभाव में भारत सचिव गवर्नर जनरल पर निर्भर था। 1870 ई० में तार-संचार (Telegraph) की सुविधा का अविष्कार होने के पश्चात भारत सचिव और उसके माध्यम से ग ह सरकार का नियंत्रण वास्तविक व कठोर भी हो गया।

महारानी विक्टोरियो की घोषणा, 1858

1858 ई० के भारत सरकार अधिनियिम के पूरक के रूप में उसी वर्ष 1 नवंबर को ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया का एक घोषणापत्र भी निकला जिसके द्वारा भारतीय राजाओं और जन-साधारण को सूचित किया गया कि तत्पश्चात् भारत की शासन-सत्ता की स्वामी ब्रिटिश महारानी होंग । इस घोषणा की मुख्य धाराएं निम्नलिखित थीं।

1. महारानी की भारतीय प्रजा को जाति, रंग व धर्म इत्यादि के भेदभाव के बिना सरकारी नौकरियों में शिक्षा, योग्यता और कार्य-दक्षता के आधार पर नियुक्त किया जाएगा।

2. ब्रिटिश सरकार भारतीयों के धार्मिक विचारों, विश्वासों और पूजा के तरीकों में कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगी और उनके रीति-रिवाजों को उचित सम्मान दिया जाएगा।
3. देशी राजवाड़ों और भारतीय नरेशों को आश्वासन दिया गया कि ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा उनके साथ की गई संधियों और समझौतों का पालन किया जाएगा तथा उनके अधिकारों और मान-मर्यादा की रक्षा की जाएगी।
4. जिन लोगों ने ब्रिटिश नागरिकों की हत्या नहीं की, उन्हें क्षमा दान दे दिया जाएगा।
5. भारत में सर्वांगीण विकास के लिए और जन-कल्याण के लिए सुविधाएं प्रदान करते हुए सरकार का प्रबंध संपूर्ण जनता के हित की भावना से किया जाएगा।

यह घोषणा और अधिनियम लगभग 60 वर्षों तक भारत में ब्रिटिश राज्य के आधार स्तंभ बने रहे। इनके आधार पर एक ओर तो भारत के शासन को प्रत्यक्ष तौर पर ब्रिटिश सरकार के अधीन लाने का प्रयास किया गया वहीं निम्न श्रेणी की नौकरियों के भारतीयकरण और देशी राजाओं के प्रति मित्रता का हाथ बढ़ाने का प्रयास किया गया ताकि भारतीय जन-सामान्य के बड़े और प्रभावशाली वर्गों को ब्रिटिश शासन का समर्थक बनाया जा सकें। एक प्रकार से यहीं से ब्रिटिश साम्राज्यवाद की 'फूट डालों और राज्य करो' की नीति का सूत्रपात हो गया था क्योंकि मन्मथनाथ गुप्त के अनुसार, "रिसायतों को कायम रखने और कठपुतली बनाने की इस नीति से ब्रिटेन ने सामंतों के एक बड़े तबके को शांत कर दिया। केवल यही नहीं, यह तबका साम्राज्यवाद का स्थायी मित्र तथा भारतीय स्वतंत्रता और हर तरह की प्रगति का स्थायी दुश्मन हो गया।" अन्यथा जैसा कि सर जान स्टीफन का विचार था-"यह घोषणा पत्र केवल दरबार में सुनाए जाने के लिए था। यह कोई संधि नहीं थी जिसके अनुसार कार्य करने के लिए अंग्रेजों पर कोई उत्तरदायित्व होता।" वस्तुतः इस घोषणा के पश्चात् देशी, राजाओं, जमींदारों इत्यादि को अंग्रेज शासकों ने अपना मित्र और सहयोगी बनाने का कार्य आरंभ किया तथा समाज में विभाजन कर उसे दुर्बल बनाने प्रक्रिया आरंभ कर दी ताकि ब्रिटिश शासन को दूसरे विद्रोह का सामना न करना पड़े।

इस प्रकार अठाहरवीं शताब्दी के आरंभ तक भारत पूरी तरह से ब्रिटिश उपनिवेश और अधीनस्थ आर्थिक सहयोगी बन चुका था। 1858 ई० में जब भारत में ब्रिटिश सम्राज्ञी का औपचारिक शासन घोषित किया गया, उस समय तक भारत के एक बड़े भाग पर अंग्रेजी विधि और नई प्रशासनिक भाषा अंग्रेजी पर आधारित तंत्रीय निरंकुश सत्ता की स्थापना ही चुकी थी। यद्यपि सैद्धांतिक रूप से 1858 ई० के पश्चात् ब्रिटेन ने भारत के बचे हुए भाग पर अपना शासन स्थापित नहीं किया और वहां भारतीय राजाओं और रजवाड़ों की सत्ता बनी रही परंतु व्यवहार में अप्रत्यक्ष रूप से रजवाड़े भी ब्रिटिश नियंत्रण में ही आ गए थे।

1857 ई० के स्वतंत्रता संग्राम से अंग्रेजी ने यह सबक लिया कि भारतीय नरेश अंग्रेजी राज के महत्वपूर्ण स्तंभ हो सकते थे अतः उनको समाप्त करने के बजाय यह बेहतर समझा गया कि उनको अपने अधीन अपना समर्थक बना कर रखा जाए। इसी नीति के अंतर्गत भारतीय नरेशों को यह विश्वास दिलाया गया कि उनके सीमा क्षेत्रों को कोई खतरा नहीं है क्योंकि ब्रिटिश सरकार की अपने साम्राज्य में विस्तार करने की कोई अभिलाषा नहीं है। यद्यपि उनकी सेनाओं को सीमित कर दिया गया और उनके लिए विदेशी शक्तियों से संबंध रखने की मनाही कर दी गई। इस नीति का आधार केनिंग का यह मत था कि 1857 ई० के उग्र आंदोलन में देशी राज कुमार ही विद्रोह की लहर को रोकने में सहायक सिद्ध हुए। परिणामस्वरूप 1859 ई० में केनिंग ने ही स्खलन के सिद्धांत (Doctrine of Lapse) की समाप्ति की घोषणा करते हुए भारतीय राजाओं को यह विश्वास दिलाया कि उनके द्वारा गोद लिए गए पुत्र भविष्य में उनके राज्यों के उत्तराधिकारी के रूप में मान्य होंगे।

परंतु 1858 ई० के अधिनियम की इस कमी को 1876 ई० के शाही पद अधिनियम (Royal Titles Act) द्वारा दूर करते हुए महारानी विक्टोरिया को भारत की महारानी भी घोषित कर दिया गया। परिणामस्वरूप भारतीय राजाओं की कानूनी स्थिति सर्वोच्च शक्ति के सहयोगियों के स्थान पर अधीनस्थ राजाओं की हो गई। भारतीय राज्यों पर उसके बाद अंतर्राष्ट्रीय विधि के नियम लागू नहीं हो सकते थे। 1919 ई० के अधिनियम से भारतीय राजाओं को भी शासन में अधीनस्थ की भूमिका में सक्रिय रूप से सम्मिलित करने का प्रयास किया गया। 1921 ई० में नरेन्द्र-मंडल (Chamber of Princes) तथा उनकी स्थायी समिति का निर्माण इसी दिशा में उठाए गए कदम थे ताकि नीति निर्माण के कार्य में उनसे परामर्श किया जा सके तथा ब्रिटिश सरकार द्वारा उनसे सीधें संपर्क किया जा सके। ब्रिटिश शासन की इस मित्रतापूर्ण नीति के परिणाम भी स्पष्ट थे। देशी राजा और नवाब उनके साथ रहे फिर चाहे वह 1857-58 ई० का बंगभंग हो, 1914 ई० और 1939 ई० के विश्वयुद्ध हो अथवा 1942 ई० का भारत छोड़ों आंदोलन। भारत का कोई अन्य वर्ग इतनी निरंतरता से ब्रिटिश शासन का मित्र शायद ही रहा है।

1858 ई० के अधिनियम एवं घोषणा भारत में ब्रिटिश राज्य अथवा सरकार के ढांचे की एक व्यापक रूपरेखा से संबद्ध थे परंतु प्रत्यक्ष तौर पर उनके द्वारा भारत सरकार के ढांचे में कोई विशेष परिवर्तन नहीं लाया गया था। अतः 1861 में भारतीय परिषद अधिनियम, भारतीय असैनिक सेवा अधिनियम (Indian Civil Service Act), भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम (Indian High Courts Act) तथा सेना पुनर्गठन संबंधी अधिनियम (The Army Reorganisation Act) इत्यादि ब्रिटिश संसद द्वारा पास किए गए जिससे भारतीय शासन के ढांचे में कुछ परिवर्तन लाने का प्रयास किया गया। वस्तुतः इन सबका मूल उद्देश्य भारतीयों को महत्वपूर्ण तथा शक्तियुक्त व गोपनीय पदों से दूर रखना था।

1861 ई० के भारतीय परिषद अधिनियम द्वारा सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन यह किया गया कि वायसराय को यह अधिकार दिया गया कि वह विधि-निर्माण के कार्य में भारतीयों का सहयोग ले सकता था। परंतु यह वायसराय को दिया गया विशेषाधिकार मात्र था, भारतीयों का अधिकार नहीं। इस अधिनियम द्वारा वायसराय की कार्यकारिणी परिषद के सदस्यों की संख्या (6 से 12 अतिरिक्त सदस्य) में व द्धि की गई परंतु उनको मनोनीत करना और उन्हें कार्य व विभाग सौंपना भी वायसराय के ही अधिकार थे। साथ ही इन परिषदों के पास केवल विधायी शक्तियां थीं और उन पर भी अनेक नियंत्रण थे जो उन्हें वायसराय के अधीन परंपरागत भारतीय राज-दरबार जैसी शक्तिहीन अवस्थिति प्रदान करते थे।

अधिनियम के मुख्य प्रावधान निम्नलिखित थेः

1. वायसराय की कार्यकारिणी परिषद में कानूनी व्यवसाय से संबद्ध एक और पांचवां सदस्य सम्मिलित किया गया।
2. कार्यकारिणी परिषद में कम से कम 6 और अधिक से अधिक 12 अतिरिक्त सदस्यों को सम्मिलित कर परिषद के अधिकारों में व द्धि की गई। इन सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार वायसराय का था तथा सदस्यों का कार्य विधि -निर्माण में वायसराय की सहायता करना था।
3. इन मनोनीत अतिरिक्त सदस्यों में कम से कम आधे गैर सरकारी सदस्य होने अनिवार्य थे। इन का कार्यकाल दो वर्ष रखा गया था।
4. मद्रास और बंबई के गवर्नर को विधि निर्माण व उनमें संशोधन की शक्तियां पुनः प्रदान की गई जिन पर गवर्नर जनरल को वीटों तथा पूर्वानुमति का अधिकार प्राप्त था।
5. गर्वनर जनरल को विधायन पर पूर्वानुमति तथा वीटो का पूर्व अधिकार तो था ही, अध्यादेश जारी करने का अधिकार तथा बिल को क्राउन की स्वीकृति के लिए भेजने का अधिकार भी दिया गया था।
6. गवर्नर जनरल को विधायन के उद्देश्य से नए प्रांतों का निर्माण करने, वहां उपराज्यपाल नियुक्त करने तथा निवर्तमान प्रांत, प्रेजीडेंसी इत्यादि की भूसीमा में परिवर्तन का अधिकार भी दिया गया।

इसी वर्ष अर्थात् 1861 ई० में ही नागरिक सेवाओं के लिए अधिकतम आयु सीमा घटा कर 21 वर्ष कर दी गई जिसके परिणामस्वरूप 1858 ई० की घोषणा के विपरीत यह सेवा भारतीयों के लिए लगभग निषिद्ध हो गई क्योंकि उस समय की परिस्थितियों में इतनी कम आयु में लंदन जाकर प्रतियोगिता में भाग लेना भारतीयों के लिए लगभग असंभव ही था। 1869 ई० में सभी सार्वजनिक सेवाओं को तीन वर्गों में बांट दिया गया शाही (Imperial), प्रांतीय (Provincial) तथा अधीनस्थ (Subordinate)। सभी महत्वपूर्ण पद शाही सेवाओं के वर्ग से बाहर रखा जा सके तथा वे अधीनस्थ सेवाओं तक ही सीमित रहे यद्यपि भारतीय नागरिक सेवा के लिए अधिकतम आयु-सीमा को दो वर्ष बढ़ा कर उसे 23 वर्ष कर दिया गया। ब्रिटिश शासकों का मन्तव्य जॉन स्ट्रेची के शब्दों से स्पष्ट हो जाता है, "हमें यह बिना छल कपट मान लेना चाहिए कि हम वे कार्यकारी पद अपने हाथ में रखना चाहते है जिन पर देश का वास्तविक नियंत्रण निर्भर है।" 1870 ई० के अधिनियम से गर्वनर जनरल को यह अधिकार भी दिया गया कि वह भारतीयों को नागरिक सेवाओं में बिना परीक्षा पास किए भी उनकी योग्यता के आधार पर नियुक्त कर सकता था। परिणामस्वरूप 1879 ई० में स्टेचुटरी सिविल सर्विस (Statutory Civil Service) का निर्माण किया गया जिसमें राजाओं व जमींदारों को मनोनीत किया जाने लगा।

सैन्य प्रशासन व संगठन

1857 ई० की घटनाओं की पुनराव त्ति से निपटाने के लिए गंभीर प्रयास 1858 ई० से ही आंरभ किए हुए थे परिणामस्वरूप 1861 ई० में ही 'पील आयोग' की सिफारिशों के आधार पर सेना का पुनर्गठन किया गया जिसका उद्देश्य ईस्ट इंडिया कंपनी की अलग सेना के अस्तित्त्व को समाप्त करने के साथ ही सेना पर ब्रिटिश नियंत्रण मज़बूत करना था। अतः अंग्रेज सैनिकों की संख्या बढ़ाई गई तोपखानों पर ब्रिटिश एकाधिकार रखा गया और सैन्य गठन की प्रांतीय व नस्लीय व्यवस्था को इस प्रकार

नियंत्रित किया गया कि भारतीय सैनिकों को भारतीय सैनिकों से संतुलित किया जाए जिनमें अंतर व स्पर्धा एकदम स्पष्ट हो। परिणामस्वरूप जातियों को लड़ाकू और गैर लड़ाकू जातियों और समुदायों में विभाजित किया गया और प्रत्येक वर्ग के सैनिकों को अलग-अलग कंपनियों में रखा गया। अधिकांश नियुक्तियां उत्तरी भारत से की गई। 1878-80 ई० के अफगान युद्ध के पश्चात 1879 ई० में एक और भारतीय सेना पुनर्गठन आयोग-ईडन आयोग की नियुक्ति की गई जिसकी सिफारिश के आध ाार पर भारतीय सेना की संख्या घटा दी गई, ब्रिटिश अफसर बढ़ाए गए तथा धीरे-धीरे सेना पर नियंत्रण को संगठित व एकीकृत कर दिया गया।

1861 ई० में ही पुलिस प्रशासन में भी पुप्रनर्गठन किया गया जिसका आधार पुलिस के प्रति जन-असंतोष और 1960 ई० के पुलिस आयोग की सिफारिशें थीं। इन सिफारिशों के आधार पर 1861 ई० में विधायन द्वारा आतंरिक शांति एवं सुव्यवस्था के लिए पुलिस का एक अलग विभाग बना दिया गया जिसे स्थानीय सरकार के अनुशासन में रख दिया गया। इस विभाग का प्रधान इंस्पेक्टर जनरल कहा जाने लगा। उसकी सहायता के लिए डिप्टी इंस्पेक्टर जनरल नियुक्त किए गए। प्रत्येक जिले में एक सुपरिंटेडेंट की नियुक्ति की गई जो जिला मजिस्ट्रेट की अधीनता में काम करता था। जिला कई क्षेत्रों में विभक्त कर दिया गया और प्रत्येक क्षेत्र (सर्किल) में डिप्टी इंस्पेक्टर की श्रेणी के भारतीय अफसरों की नियुक्ति की गई जिनके अधीन कुछ सिपाही रखे जाते थे। सब उच्च अधिकारी अंग्रेज रखे जाते थे जिनकी भर्ती भी इंगलैंड में होती थी। शेष निम्न पदों को जिलों और सर्किलों के आधार पर बांटा गया परंतु पर्यवेक्षण और प्रबंध की सामान्य शक्तियां जिला मजिस्ट्रेट के अधीन रहीं।

1902 ई० मे ंएक और पुलिस आयोग फ्रेजर आयोग की स्थापना की गई जिसकी सिफारिशों के आधार पर 1905 ई० में जो परिवर्तन किए गए उनसे पुलिस प्रशासन पर आने वाला खर्च लगभग दो गुना हो गया, अपराधी जांच के लिए एक प थक विभाग की स्थापना की गई, पुलिस बल की संख्या में व द्धि हुई परंतु उसका तात्पर्य उनकी कार्यक्षमता में अथवा लोकप्रियता में व द्धि कदापि नहीं था। यहां तक कि खर्च में व द्धि के बावजूद निम्नतम स्तर अर्थात् पुलिस के सिपाही का वेतन यद्यपि आयोग ने आठ रूपए प्रतिमाह की सिफारिश की थी परंतु सरकार ने केवल 7 रूपए प्रति माह पर सुनिश्चित किया। अधिकांश भारतीयों को इन्हीं पदों पर नियुक्ति मिलती थीं

1905 ई० में ही रेल व्यवस्था व रेलवे प्रशासन में सुधार के लिए रेलवे बोर्ड का गठन किया गया। 1908 ई० में इस बोर्ड को उसके सहायकों सहित एक प थक रेलवे विभाग में परिणत कर दिया गया जिसके अध्यक्ष का वायसराय से सीधा संपर्क रहता था।

नागरिक प्रशासन

1870-76 ई० से भारत सचिव और ग ह सरकार के बढ़ते हुए नियंत्रण का परिणाम अनके दमनकारी व स्वतंत्रता-विरोधी अधिनियमों में देखने को मिला। जैसे 1871 ई० का देशी भाषा प्रेस अधिनियम (Vernacular Press Act) तथा इसी वर्ष का भारतीय शस्त्र अधिनियम (The Indian Arms Act)। जहां प्रेस अधिनियम द्वारा ब्रिटिश शासन को यह शक्ति प्रदान की गई थी कि किसी भी अवांछनीय लेख के छपने पर चेतावनी देकर जमानता के साथ ही प्रेस को भी जब्त किया जा सकता था वहां शस्त्र अधिनियम द्वारा भारतीयों के लिए बिना लाइसेंस हथियार रखना एक फौजदारी अपराध घोषित कर दिया गया। जबकि यूरोपीय तब भी बिना लाइसेंस हथियार रख सकते थे। दोनों अधिनियम समानता विरोधी तो थे जी, भारतीय जन-आक्रोश के विस्तार और ब्रिटिश शासकों द्वारा उसके दमन के प्रतीक भी थे। ये इस बात का प्रतिबिंब भी थे कि उनका भारत में स्वतंत्र अथवा लोकतांत्रिक शासन स्थापित करने का कोई इरादा नहीं था।

यह एक प्रकार से ईस्ट इंडिया कंपनी के अधीन प्रेस की स्थिति का पुनर्स्थापन और थॉमस मुनरो द्वारा 1822 ई० के विस्त त प्रलेख (Minute) में अभिव्यक्त संशय की पुष्टि था कि एक स्वतंत्र प्रेस और अनजान व्यक्तियों का प्रभुत्व अथवा शासन ऐसी चीजें हैं जो असंगत हैं और लंबे समय तक एक साथ नहीं रह सकती हैं। इसी की प ष्टि 1908 ई० में पारित समाचार पत्र अधिनियम (News Paper (Incitement to Offences) Act), विध्वसक सामग्री अधिनियम (Explosive Substances Act) तथा 1910 ई० में पारित भारतीय प्रेस अधिनियम (India Press Act) द्वारा हुई जिनसे विभिन्न समाचारपत्रों को अपराध एवं हत्या के लिए उकसाने के आरोप लगा कर विध्वंयक सामग्री अधिनियम के अंतर्गत दंडित करना, जब्त करना व प्रेस को बंद करना इत्यादि वैध कार्य हो गए थे। तिलक को इसी अधिनियम के अंतर्गत दंडित किया गया था। इस प्रकार धीरे-धीरे भारतीय जनता

के नागरिक अधिकारों को परिसिमित कर दिया गया।

न्यायिक प्रशासन

न्यायिक प्रशासन के क्षेत्र में भी 1861 ई० में ही उच्चतम न्यायालय और सदर दिवानी और फौजदारी अदालतों को समाप्त कर कलकत्ता, मद्रास और बंबई में उच्च न्यायालयों की स्थापना का प्रावधान भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम 1861 द्वारा किया गया। इन न्यायालयों ने उच्चतम न्यायालय (1773 ई०) और कंपनी के न्यायालयों सदर दिवानी व निजामत अदालतों का स्थान ले लिया। 1861 ई० में ही इन न्यायालयों के न्यायाधीशों की संख्या, योग्यता, कार्यकाल व पदमुक्ति की शर्तें भी निर्धारित कर दी गई। इन न्यायालों के क्षेत्राधिकारों में परिवर्तन का अधिकार सपरिषद वायसराय (Viceroy in Council) को भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम 1865 के माध्यम से प्राप्त हो गया।

परंतु प्रचलित व्यवहार व विधि के अनुसार प्रेसीडेंसी नगरों के बाहर रहने वाले यूरोपीय व्यक्तियों पर केवल यूरोपीय मजिस्ट्रेट अथवा जज ही मुकदमा चला सकते थे। इसमें परिवर्तन का निर्णय तब लॉर्ड रिपन ने इल्बर्ट बिल के माध्यम से 1883 ई० में कार्यन्वित करने का प्रयास किया तो उसका अभूतपूर्व विरोध यूरोपीय समुदाय द्वारा किया गया जिससे विधि के शासन की अंग्रेजी मान्यता का खोखलापन स्पष्ट हो गया और अतंतः एक वर्ष के विरोध के बाद 1884 ई० में जो समझौता हुआ तो केवल भारतीय जिला मजिस्ट्रेट व सेशन जजों को यूरोपीय समुदाय पर मुकदमा चलाने का अधिकार दिया गया, अधीनस्थ निम्न स्तर के मजिस्ट्रटों को नहीं और वह भी इस शर्त पर कि यूरोपीय छोटे से छोटे मामले में भी ज्यूरी (निर्णायक मंडल) की मांग कर सकते थे।

नई विधि व्यवस्था के आधार के रूप में नागरिक प्रक्रिया संहिता (Code of Civil Procedure) 1859 ई० में विधि के रूप में स्थापित हुई, भारतीय दंड संहिता (Indian Penal Code) 1860 ई० में तथा फौजदारी प्रक्रिया संहिता (Code of Criminal Procedure) 1861 ई० में विधि के रूप में स्थापित हो गए। 1908 ई० और 1913 ई० के संशोधनों फौजदारी कानून (संशोधन) अधिनियम 1908 तथा फौजदारी कानून संशोधन अधिनियम 1913 के द्वारा राष्ट्रवादियों पर अराजकता व आतंकवाद के अभियोग लगाकर तुरंत कार्यवाही करने तथा अनेक स्वयंसेवी संस्थाओं तथा सभाओं के अस्तित्व को निषिद्ध करने तथा षडयंत्र को एक स्वतंत्र अपराध के रूप में दंडनीय घोषित करने की व्यवस्था की गई। इन दोनों अधिनियमों से ब्रिटिश शासकों को औपनिवेशक चरित्र तथा उपनिवेशवादी प्रशासन की जन विरोधी तथा स्वंतत्रता विरोधी प्रकृति भी स्पष्टतः झलकती है। दोनों के उद्देश्य भी तुरंत स्पष्ट हो गए जब बंगाल की स्वयंसेवी संस्थाओं को अवैध घोषित कर दिया गया तथा बंगाल के 9 मान्य सार्वजनिक व लोकप्रिय व्यक्तियों को देशनिकाला दे दिया गया।

1911 ई० में एक और भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम पारित किया गया जिससे 1915 ई० में पटना और 1919 ई० में लाहौर में उच्च न्यायालय स्थापित किए गए तथा न्यायाधीशों की संख्या में भी व द्धि की गई।

अंततः 1935 में एक संघीय न्यायालय (Federal Court) की स्थापना दिल्ली में की गई जो बाद में वर्तमान सर्वोच्च न्यायालय का आधार बना। यद्यपि यह न्यायालय सवैधानिक अधिनियम की अंतिम तथा निर्णायक व्याख्या का अधिकार नहीं रखता था क्योंकि अपील सुनने का अधिकार प्रिवी कांउसिल की न्यायिक समिति को प्राप्त था, फिर भी बड़ी सीमा तक इसी संघीय न्यायालय ने भारत में संघीय न्यायपालिका और सर्वोच्च न्यायालय के लिए एक आधार तैयार किया।

नई केंद्रीकृत विधायी-संहिताओं के बावजूद भारतीय पंरपरागत विधि विशेष तौर पर मुस्लिम विधि में परिवर्तन नहीं किए गए। हिन्दू विधियों में भी सुधारों की मांग और स्वीकार्यता को देखते हुए विवाह, सती, उत्तराधिकार, विवाहित महिलाओं के रख-रखाव और संपत्ति के अधिकार, बालिका वध इत्यादि के क्षेत्र में कुछ विधियां बनाई गई।

कृषि के क्षेत्र में, चूंकि वह राजस्व का प्रमुख स्रोत था, अनेक अधिनियमों के माध्यम से नई भू-राजस्व प्रणाली, जमींदारी, रैयतवाड़ी, महालवाड़ी इत्यादि व्यवस्थाओं को प्रारंभ किया गया और इन्हीं के अनुरूप भू अधिनियम विभिन्न प्रांतों में विभिन्न समयों पर पारित किए गए। इन सबका उद्देश्य मुख्य तौर पर अधिक से अधिक शोषण व राजस्व वसूली था।

वित्तीय प्रशासन

ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन काल के दौरान 1833 ई० से ही सारी वित्तीय शक्तियां गवर्नर जनरल व उनकी परिषद में केन्द्रित थी। प्रांतीय सरकारों के पास वित्तीय संसाधन जुटाने अथवा कर लगाने की कोई शक्तियाँ नहीं थी और केन्द्रीय सरकार को स्थानीय आवश्यकताओं और स्थानीय स्रोतों को विकसित करने के तरीकों का बहुत कम ज्ञान था। 1870 ई० में लॉर्ड मेयो ने इस प्रकार की केंद्रीकृत व्यवस्था की कमी को समझते हुए कुछ संशोधन प्रारंभ किए जिनसे वित्तीय क्षेत्र में विकेंद्रीकरण की

प्रक्रिया आरंभ हुई। लॉर्ड मेयो के संशोधन द्वारा निश्चित वार्षिक केंद्रीय अनुदान के अतिरिक्त कुछ ऐसे मद, जो राजस्व के स्रोत थे, प्रांतीय सरकारों को हस्तांतरित कर दिए गए। रिपन ने इस व्यवस्था को आगे बढ़ाते हुए 1882 ई० में निश्चित अनुदान देने की व्यवस्था को समाप्त कर दिया और राजस्व के कुछ स्रोतों को पूरी तरह और कुछ को अंशतः प्रांतीय सरकारों को सौंप दिया गया। 1882 की व्यवस्थ को ही 1887, 1892 और 1897 ई० में नवीकृत किया गया परंतु मूल परिवर्तन नहीं किए गए।

1909 ई० में भारतीय विकेंद्रीकरण आयोग (Indian Decentralisation Commission) द्वारा विस्त त प्रतिवेदन प्रस्त त किया गया जिसके अनुसार केंद्र द्वारा दिए जाने वाले अनुदान के लिए नए नियम निश्चित किए गए। आयोग की सिफारिशें थ कि (1) प्रांतीय सरकारों की इच्छाओं का सम्मान किया जाए (2) विभिन्न प्रांतों को अनुदान देने के लिए आवश्यक नहीं कि एक ही प्रकार के नियमों का अनुसरण किया जाए, (3) अनुदान के साथ केंद्र द्वारा अधिकाधिक हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए।

इस प्रकार 1858 से 1946 ई० के बीच भारत में विकसित शासन व्यवस्था के आधार पर ब्रिटिशकालीन राज्य-तंत्र का वर्णन निम्नलिखित प्रारूप में किया जा सकता है।

औपनिवेशिक राज्य का शासन संयंत्र (1858-1946)

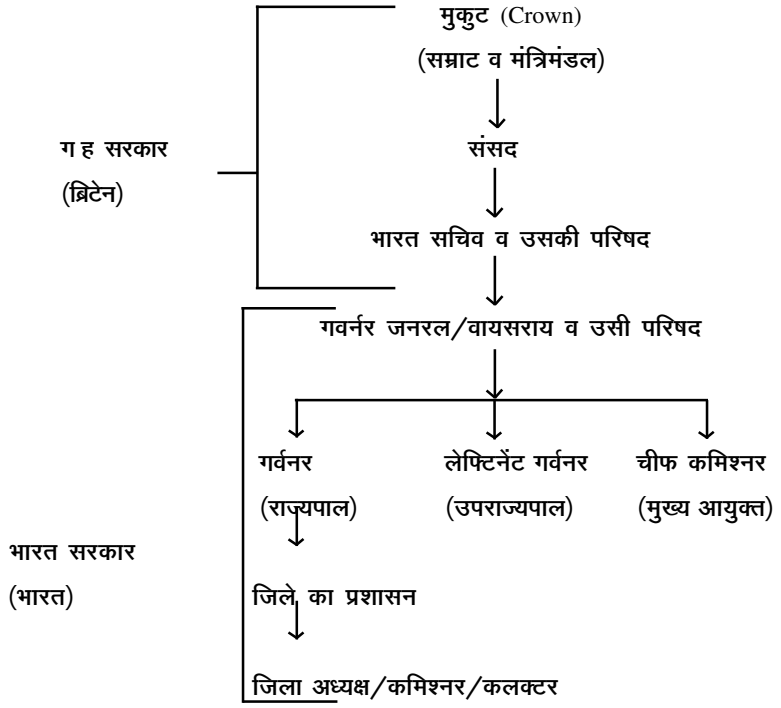

ग ह सरकार

भारत में ब्रिटिश औपनिवेशक शासन दो भागों में विभाजित था। एक भाग इंग्लैण्ड में कार्य करता था और दूसरा भारत में। शासन का जो भाग इंग्लैण्ड में कार्य करता था वह ग ह सरकार (Home Government) कहलाता था। इसके पांच मुख्य अंग थे सम्राट, मंत्रिमंडल, संसद, भारत सचिव तथा उसकी परिषद। इन संस्थाओं को सामूहिक तौर पर 'ग ह सरकार' का नाम दिया गया था। इनमें भारत सचिव का पद सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। भारत सरकार के विधायी और प्रशासकीय तथा आर्थिक मामलों पर उसका पूर्ण नियंत्रण था। उसकी सहायता के लिए एक परिषद थी। चूंकि ग ह सरकार के अन्य सब अंग प्रशासन के वास्तविक द श्य से बहुत दूर थे उनका नियंत्रण और निरीक्षण अप्रत्यक्ष था तथा भारत सचिव को भारत सरकार से संबंधित सब विषयों पर नियंत्रण, निरीक्षण तथा निर्देश की शक्तियां प्राप्त थी। वहीं वह भारत के शासन संबंधी मामलों के लिए ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी भी था।

1919 ई० के अधिनियम से भारत की शक्तियां प्रांतीय शासन के क्षेत्र में कुछ कम अवश्य हुई, उसकी परिषद में कुल सदस्यों की संख्या कम हुई, भारतीय सदस्यों की संख्या बढ़ी। परंतु भारत सचिव की आरक्षित विषयों से संबंधित शक्तियों के नियंत्रण में कोई व्यावहारिक कमी नहीं हुई। इंग्लैण्ड में भारत के लिए उच्चायुक्त (High Commissioner) के एक नए पद का स जन

भी इस अधिनियम से किया गया जिसकी नियुक्ति गर्वनर जनरल/वायसराय के हाथों में थी परंतु स्वीकृति प्रदान करना भारत सचिव का काम था। भारत सचिव के कुछ कार्य जैसे भारतीय व्यापार की देखभाल इंग्लैण्ड में भारतीय विद्यार्थियों की सुविधाओं एवं आवश्यकताओं का ध्यान रखना, भारतीय शासन से संबंधित सामान की खरीदारी करना इत्यादि कार्य उच्चायुक्त को हस्तांतरित कर दिए गए जिन्हें भारत सचिव की शक्तियों में कुछ कटौती माना जा सकता है।

1935 ई० के अधिनियम से भारत सचिव की परिषद का अंत कर दिया गया तथा उसके स्थान पर कुछ परामर्शदाताओं की नियुक्ति की व्यवस्था रखी गई थी। साथ ही, जिन विषयों में गवर्नर अपने मंत्रियों की सलाह से कार्य करता था, उन पर से भारत सचिव का नियंत्रण हटा दिया गया था। परंतु तब भी ग ह सरकार की सर्वोच्चता बनी रही और भारत का शासन व्हाइट हाल (White Hall) से चलता रहा। भारतीय मामलों का अंतिम नियंत्रण और निर्देशन ग ह सरकार के हाथों में रहा और भारत में गर्वनर जनरल और उसकी सरकार के सभी सदस्य ग ह सरकार के एजेंट के रूप में कार्य करने और आदेश मानने के लिए बाध्य थे। उल्लेखनीय और विचारणीय तथ्य यह है कि उस ग ह सरकार में कोई भारतीय कभी नहीं था जिससे प्रतिनिधि और उत्तरदायी सरकार का ब्रिटिश सरकार का दावा झूठा साबित हो जाता है। जबकि इस ग ह सरकार का संपूर्ण खर्च भारत द्वारा देय था। यह इतना अधिक था कि 1900-91 ई० में ग ह सरकार का व्यय भारत के कुल वार्षिक भू राजस्व जितना था।

भारत सरकार

शासन का जो भाग भारत में अवस्थित रह कर कार्य करता था उसे भारत सरकार का नाम दिया गया था।

भारत सरकार में केंद्रीय स्तर पर एक विधायिका विधान सभा के रूप में तथा कार्यपालिका गवर्नर जनरल व उसकी परिषद के रूप में थे। 1833 ई० से ही संपूर्ण विधायी शक्तियां गवर्नर जनरल और उसकी परिषद में संकेद्रित कर दी गई थी। बाद में 1909 व 1919 ई० के अधिनियम से कुछ सुधार शासन के इस भाग में किए गए थे। 1919 ई० के अधिनियम के अंतर्गत केन्द्रीय विधान सभा को द्विसदनात्मक बनाया गया। जिसके दो सदन विधान सभा तथा राज्य सभा कहलाए। इन सदनों में भारतीयों के प्रतिनिधित्व में उत्तरोत्तर व द्धि की गई। केंद्रीय विधान सभा में जहाँ 1909 ई० के अधिनियम से 69 सदस्यो ंकी संख्या निश्चित की गई थी जिनमें 37 सरकारी और 32 गैर-सरकार सदस्य थे, वहीं 1919 में इस सभा के सदस्यों की संख्या 145 निश्चित की गई। इनमें 26 सरकारी, 14 मनोनीत गैरसरकारी तथा 105 निर्वाचित सदस्य थे। निर्वाचित सदस्यों में 53 सामान्य, 30 मुसलमान, 9 यूरोपीय, 7 भूमिपति, 4 भारतीय वाणिज्य वर्ग के तथा 2 सिख सदस्य थे। चुनाव प्रत्यक्ष होते थे परंतु मताधिकार सबको प्राप्त नहीं था। केवल 2000 से 5000 रूपए वार्षिक आय पर कर चुकाने वाले 50 से 150 रूपए तक भूमिकर चुकाने वाले भूमिपतियों तथा 180 रूपए वार्षिक किराया चुकाने वाले किराएदारों को मत का अधिकार दिया गया था। सदन की कार्य अवधि 3 वर्ष थी।

द्वितीय सदन यानी राज्य सभा 1919 ई० में प्रथम बार स्थापित किया गया। इसकी सदस्य संख्या अधिकतम 60 निर्धारित की गई। जिनमें 20 सरकारी, 6 मनोनीत गैर सरकारी तथा 34 निर्वाचित सदस्य थे। 34 निर्वाचित सदस्यों में से 19 सामान्य चुनाव क्षेत्रों में से, 11 मुस्लिम, 1 सिख तथा 3 यूरोपीय वाणिज्य हितों का प्रतिनिधित्व करते थे। इस सदन की कार्यावधि 5 वर्ष रखी गई थी। चुनाव प्रत्यक्ष रखे गए थे। परंतु मताधिकार की शर्तें इतनी कड़ी थीं कि 1925 ई० तक भारत में केवल 1,500 व्यक्ति ही राज्य सभा के लिए मतदान का अधिकार रखते थे। केवल 10 हजार से 20 हजार रूपए वार्षिक आय पर कर चुकाने वाले अथवा 750 से 5000 तक भूमि कर चुकाने वाले संपन्न व्यक्तियों को मताधिकार प्राप्त था। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालय सीनेट के सदस्यों को नगरपालिका व जिला बोर्डों के प्रधानों अथवा उप-प्रधानों को और विशिष्ट उपाधियों से सम्मानित व्यक्तियों को भी मताधिकार प्रदान किया गया था। स्त्रियों को यह अधिकार प्राप्त नहीं था। मताधिकार इतना सीमित था कि 1946 ई० के प्रांतीय विधान सभाओं के चुनावों में भी कुल वयस्क जनसंख्या का केवल 48.5 प्रतिशत भाग ही मतदान कर सकता था।

द्विसदनीय व्यवस्थापिका में आंशिक प्रतिनिधित्व को कुछ विस्त त करने के बावजूद विधायन की वास्तविक शक्तियां 1935 ई० के अधिनियम के पश्चात भी अत्यंत सीमित थी। यद्यपि 1935 ई० के अधिनियम से केंद्रीय विधायिका के सदस्यों की संख्या में व द्धि की गई, मताधिकार का विस्तार किया गया, स्त्रियों के लिए 30 प्रतिशत स्थान सुरक्षित किए गए परंतु "सरंक्षण और आरक्षण" की योजना के अतंर्गत विधान मंडल की शक्तियों पर अंकुश लगा दिए गए और गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों को विशिष्ट

उत्तरदायित्वों जैसे भारत में सुरक्षा, शांति एवं व्यवस्था कायम रखना, अल्पमतों, सार्वजनिक सेवाओं, देशी रियासतों के शासकों तथा अंग्रेजों के आर्थिक हितों की सुरक्षा इत्यादि की पूर्ति के लिए विशिष्ट शक्तियां भी सौंप दी गई जिससे अनेक परिस्थितियों में उन्हें मनमाने ढंग से कार्य करने का अधिकार मिल गया था और आपात स्थिति में संपूर्ण शासन ही उनके अधीन आ जाता था।

1935 के अधिनियम में संशोधन का अधिकार भी केंद्रीय विधान मंडल को नहीं था। यह अधिकार ब्रिटिश संसद के लिए सुरक्षित था। संरक्षण और आरक्षण के विशिष्ट अधिकारों के माध्यम से भारतीय संघ और इसकी इकाइयों के दिन प्रति दिन के प्रशासन में भी गवर्नर जनरल/वायसराय तथा भारत सचिव हस्तक्षेप कर सकते थे। इसके अतिरिक्त गवर्नर जनरल विधान मंडल द्वारा पास किए गए किसी भी प्रस्ताव को अस्वीकार कर सकता था और किसी ऐसे प्रस्ताव को कानून का रूप दे सकता था जिसे विधान मंडल ने पास न किया हो। गवर्नर जनरल को यह भी अधिकार प्राप्त था कि वह विधान सभा द्वारा अस्वीकृत किसी अनुदान की मांग को विशेष दायित्वों के निर्वाह के लिए आवश्यक घोषित कर उस खर्च को प्राधिकृत कर दे। इस प्रकार 1833 ई० में ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन काल में कंपनी के अधिकारों को कम करने के उद्देश्य से विधि निर्माण की जो शक्तियां गवर्नर जनरल व उसकी परिषद में केंद्रीत की गई थ वे ब्रिटिश शासन के संपूर्ण काल में सभी अधिनियमों के बावजूद बनी रहीं। बी० आर० अबेंडकर के विचार में "इस अधिनियम से ब्रिटिश भारत को कुछ नहीं मिला था। केवल उत्तरदायित्वों की ऐसी व्यवस्था को छोड़कर जो दो भागों में विभाजित थी और शर्तों और सीमाओं के द्वारा सारतः क्षत-विक्षत थी।

स्थानीय प्रशासन

अनेक वर्षों के केंद्रीकृत शासन के पश्चात् 1877 ई० लॉर्ड मेयो द्वारा यह प्रयास भी किया गया कि नगरपालिकाओं को मजबूत किय जाए, स्थानीय स्वशासन के अवसर बढ़ाए जाएं ताकि अधिक से अधिक लोगों को सरकारी कार्य में सहभागी बनाया जा सके। लॉर्ड रिपन ने इस प्रयास को मूर्त स्वरूप प्रदान करते हुए 1882 ई० के अधिनियम द्वारा संपूर्ण देश में स्थानीय बोर्ड विकसित किए तथा उनके अधिकार और कार्यक्षेत्र बढ़ा दिए। ग्रामीण क्षेत्रों में उनके लिए धनराशि सुनिश्चित की गई। स्थानीय सलाहकार समितियों के स्थान पर भी नए बोर्डों का निर्माण किया गया। इन बोर्डों के चुनाव के ढंग स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप निर्धारित किये जाने थे तथा अध्यक्ष के पद पर जहाँ तक संभव हो, गैर सरकारी सदस्यों की नियुक्ति का प्रावधान रखा गया था ताकि वे स्थानीय कार्यों में वास्तविक रूचि लें और सरकार से भयभीत न हों। प्रतिष्ठित लोगों को आकर्षित करने के लिए बोर्डों के भारतीय सदस्यों के नामों के साथ उनकी कार्यावधि के दौरान राय बहादुर तथा खान बहादुर जैसी उपाधियां लगाने की प्रथा भी आरंभ की गई। इस अधिनियम से भारतीय जनता को स्थानीय शासन में भाग लेने का अवसर देने की घोषणा को क्रियान्वित करने का प्रयास किया गया। अतः गुरूमुख निहाले सिंह ने 1882 ई० के अधिनियम को भारत में स्थानीय स्वशासन का प्रभावी प्रारंभ माना है।

परंतु इस अधिनियम में भी स्थानीय बोर्डों पर स्थानीय कार्यकारी अधिकारियों तथा प्रशासनिक अधिकारियों के नियंत्रण का प्रावधान रखा गया था। कुछ महत्वपूर्ण विषयों जैसे ऋण लेना, नए कर लगाना, धार्मिक अथवा सार्वजनिक शांति से संबंधित मामलों में हस्तक्षेप इत्यादि पर इन अधिकारियों की स्वीकृति आवश्यक थी। द्वितीय, गंभीर लापरवाही बरतने पर ये अधिकारी स्थानीय बोर्डों को स्थायी तौर पर निलंबित तक कर सकते थे।

परंतु लार्ड रिपन के विकेंद्रीकरण के इन प्रयासों को लार्ड कर्जन ने न केवल समाप्त कर दिया अपितु फिर से केंद्रीकरण और स्थानीय प्रशासन के सरकारीकरण की प्रक्रिया भी आरंभ कर दी। परिणामस्वरूप 1899 ई० का कलकत्ता निगम अधिनियम (Calcutta Corporation Act) पारित किया गया जिसके द्वारा निगम व उसकी समितियों में भारतीयों की संख्या 75 से घटाकर 50 कर दी जिससे वे अल्पसंख्या में हो गए और ब्रिटिश बहु संख्या में। इसी प्रकार 1904 ई० के भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम (Indian Universities Act) द्वारा विश्वविद्यालयों की प्रशासनिक संस्थाओं सीनेट और सिंडिकेट इत्यादि में यूरोपीय सदस्यों के माध्यम से विश्वविद्यालयों का यूरोपीयकरण और शिक्षा प्रणाली का सरकारीकरण किया गया।

1909 ई० के विकेंद्रीकरण आयोग ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिफारिशें स्थानीय प्रशासन के विषय में दी जिससे स्थानीय निकायों को प्रतिनिधि व सशक्त संस्थाओं के रूप में विकसित किया जा सके। आयोग के प्रस्ताव थे कि (1) स्थानीय निकायों-नगरपालिकाओं व ग्रामीण बोर्डों के 3/4 सदस्य निर्वाचित होने चाहिए और अल्पसंख्यकों को मनोनयन के माध्यम से प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए। मतदान की योग्यता कुछ कम निर्धारित की जानी चाहिए। (2) नगरपालिकाओं के अध्यक्ष ग्रामीण बोर्डों द्वारा निर्वाचत गैर-सरकारी व्यक्ति होने चाहिए। (3) बोर्डों की कराधान की शक्ति कुछ विस्त त की जानी चाहिए ताकि कुछ सीमाओं के भीतर

रहते हुए ये बोर्ड कर व शुल्क लगा सकें। (4) गांवों में निगमित जीवन विकसित करने के लिए प्रशासनिक व न्यायिक शक्तियों से युक्त पंचायतों का गठन किया जाना चाहिए। यह कार्य जिला अधिकारियों की विशेष देख-रेख में संपन्न किया जाना चाहिए। 1919 ई० के अधिनियम द्वारा इन प्रस्तावों को लागू करने का प्रयास भी किया गया और प्रांतीय विधायिकाओं ने अस्तित्व में आने के तीन वर्षों के भीतर ही स्वशासन अधिनियम पारित किए। परंतु इन सबसे वास्तविक सत्ता का विकेंद्रीकरण नहीं हुआ क्योंकि वह ब्रिटिश राज्य का उद्देश्य भी नहीं था। ऐसे प्रयास ब्रिटिश संसद और जनमत के उन वर्गों को शांत करने के लिए किए जाते रहे जो भारत के प्रति एक वैकल्पिक द ष्टिकोण रखते थे।

1935 ई० तक आते-जाते भारत में एक संघीय व्यवस्था का भी प्रारंभ किया गया था जिसमे लिखित संविधान, शक्तियों का विभाजन तथा संघीय न्यायपालिका की व्यवस्था के माध्यम से संघ की अनिवार्य शर्तों को पूरा करने का प्रयास भी किया गया था। परंतु अंततः यह एक अनूठा संघ बना जिसमें संघ की इकाइयों में क्षेत्रफल, महत्व तथा शासन पद्धति आदि की भारी असमानता थी। संघ के अंतर्गत तीन प्रकार की प्रांतीय इकाईयां रखी गई थीं।

1. ब्रिटिश भारतीय प्रांत
2. चीफ कमिश्नरों के प्रांत
3. देशी रियासतें

इनमें से प्रांतों के लिए संघ में सम्मिलित होना अनिवार्य था जबकि देशी रियासतों के लिए ऐच्छिक था। ऐसा वे स्वीकृति लेख (Instrument of accession) पर हस्ताक्षर के माध्यम से करते थे। ब्रिटिश प्रांतों में आंशिक प्रतिनिधित्व पर आधारित आंशिक उत्तरदायी शासन की स्थापना हो चुकी थी। जबकि देशी रियासतों में अधिकांशतः वंशनुगत राजतंत्रीय साम्राज्य ही थे। इन इकाइयों पर संघ का प्रभुत्व भी एक समान नहीं था। चीफ कमिश्नर के प्रांतों पर संघीय सरकार का नियंत्रण सबसे अधिक था। यहाँ तक कि इनके लिए विधिनिर्माण भी संघीय विधायिका का अधिकार था। देशी रियासतों पर संघ की सत्ता सबसे कम थी। यही नहीं, प्रत्येक रियासत पर भी संघ को समान सत्ता प्राप्त नहीं थी क्योंकि यह देशी रियासतों की इच्छा पर निर्भर था कि वे स्वीकृति-लेख द्वारा किन विषयों पर संघ की सत्ता स्वीकार करें।

संघीय विधायिका में भी संघ की इकाइयों को समान प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं था औन न ही प्रतिनिधित्व की प्रणाली एक समान थी। जहाँ प्रांतों के प्रतिनिधि निर्वाचन के आधार पर संघीय विधान मंडल के सदस्य बनते थे, वहीं देशी रियासतों के प्रतिनिधि मनोनीत किए जाते थे। इस प्रकार भारत के 45 प्रतिशत भाग के लिए एक भिन्न शासन, प्रशासन व नियमों की प्रणाली थी तो 55 प्रतिशत के लिए भिन्न। वस्तुतः इस संघीय योजना से यह भी स्पष्ट होता है कि इस अंतर को ब्रिटिश सरकार ने जानबुढ कर, अपने हितों की रक्षा के लिए कायम किय था। रजनी पाम दत्त के शब्दों में, "इन प्रस्तावों का केवल एक मकसद था जो बहुत स्पष्ट था इनके जरिए प्रतिक्रियावादी पुरावशेषो को और मजबूत बनाना था और उन्हें भारत की केंद्रीय सरकार के मर्मस्थल तक लाना था ताकि ब्रिटिश भारत के साम्राज्यवादियों के कमजोर पड़ते जा रहे प्रभुत्व को मजबूत बनाया जा सके और राष्ट्रीय आंदोलन अर्थात एकीकरण के आंदोलन का मुकाबला किया जा सके। यह तथ्य अधिनियम में प्रस्तावित संघीय विधानमंडल के दोनों सदनों में देशी रियासतों को दिए गए प्रतिनिधित्व से और भी स्पष्ट हो जाता है जहाँ उन्हें उच्च सदन में 2/5 और निम्न सदन में 1/3 के अनुपात में प्रतिनिधित्व दिया गया था जबकि भारत की कुल जनसंख्या का मात्र 28 प्रतिशत अर्थात लगभग 1/4 ही इन देशी रियासतों में रहता था।

इस संघीय योजना में प्रांतों का केंद्र पर अत्यधिक नियंत्रण था। आपालकाल में तो गवर्नर व गवर्नर जनरल/वायसराय को असाधारण शक्तियां प्राप्त हो जाती थी साधारणतः भी वे अपने विशेष दायित्वों के नाम पर दैनिक प्रशासन में हस्तक्षेप का अधिकार रखते थे। अवशिष्ट शक्तियां न तो प्रांतों के पास थी न संघ के पास। उनके विषय में अंतिम निर्णय का अधिकार गवर्नर जनरल को दिया गया था। गवर्नर जनरल अपनी इच्छा से किसी अवशिष्ट विषय पर विधि-निर्माण का अधिकार केंद्रीय अथवा प्रांतीय व्यवस्थापिका को दे सकता था। प्रांतीय अथवा केंद्रीय विधि में किसी प्रकार का विरोध उत्पन्न होने की स्थिति में, जब तक प्रांतीय कानूनों को विचारार्थ संरक्षित न किया गया हो और गवर्नर जनरल ने उस पर अपनी स्वीकृति न दे दी हो, केंद्रीय कानून को ही मान्य समझा जाता था। इस प्रकार केंद्रीय कार्यपालिका और उसमें भी गवर्नर जनरल को अत्यंत शक्तिशाली स्थान प्रदान किया गया था जबकि उसके चयन, नियुक्ति तथा पदमुक्ति में भारतीय जन-साधारण की कोई भूमिका नहीं थी।

इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि भारतीय शासन व प्रशासन पर अंतिम नियंत्रण व निर्देशन ब्रिटेन स्थित ग ह सरकार के हाथ में रहा जो भारतीयों की प्रतिनिधि अथवा उनके प्रति उत्तरदायी होना तो दूर की बात थी, उनके साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क में भी नहीं थी। ग ह सरकार की सर्वोच्चता का तथ्य लार्ड मेयो के समय में ही भारत-सचिव द्वारा स्पष्ट कर दिया गया था। लार्ड मेयो को लिखा गया था कि 'भारतीय मामलों को अंतिम नियंत्रण और निर्देशन ग ह सरकार के हाथ में है, भारतीय अधिकारियों के हाथ में नहीं। गवर्नर जनरल और उसकी सरकार के सभी सदस्यों को ग ह सरकार का आदेश मानना होगा। 1870 ई० में स्वेज नहर के खुल जाने तथा आवागमन सरल तथा तीव्र हो जाने के पश्चात यह नियंत्रण व तदोत्पन्न हस्तक्षेप और भी बढ़ गया था।

इस प्रकार 1858 ई० से विकसित हुआ औपनिवेशिक भारतीय राज्य अत्यधिक केंद्रीकृत था। इसके तीन मुख्य आधार थे जो गैरेट द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किए गए है प्रथम, एक यूरोपीय का जीवन अनेक भारतीयों के जीवन के समान था। द्वितीय, पूर्वी व्यक्ति यानी भारतीय केवल 'भय' को समझता था और त तीय, अंग्रेज भारत में जनकल्याण के लिए नहीं अपितु अपने त्याग का फल चखने और अपने लाभ के लिए आए थे।

स्वाभाविक ही इसका उद्देश्य ब्रिटिश औपनिवेशिक व्यवस्था के बनाए रखना, साम्राज्य की जड़ों को सशक्त बनाना तथा उसका निरंतर विस्तार करना था। यह तथ्य 1858, 1861, 1892, 1909, 1919 और 1935 ई० के सुधार अधिनियमों तथा इस अवधि में ब्रिटिश संसद तथा भारतीय प्रशासन द्वारा परित व लागू किये गए अन्य अधिनियमों से स्पष्ट व पुष्ट हो जाता है। यद्यपि इन सुधार अधिनियमों से कुछ विकेंद्रीकरण और प्रतिनिधित्व के तत्त्व शासन में आरंभ किए गए परंतु वे इतने सतही और आंशिक थे कि ब्रिटिश कालीन भारतीय राज्य की औपनिवेशिक प्रकृति को बदलने में अक्षम सिद्ध हुए।

इंग्लैण्ड की संसद और अन्य अनेक मंचों पर भारत के ब्रिटिश शासकों द्वारा दिए गए वक्तव्यों से यह साफ हो जाता है कि उनका उद्देश्य भारत में प्रजातंत्र की स्थापना करना नहीं था। यहाँ तक कि ब्रिटिश अधिकारी और राजनीतिज्ञ भारतीयों को स्वशासन, स्वतंत्रता अथवा यूरोपीय प्रजातांत्रिक संस्थाओं के योग्य ही नहीं समझते थे। ब्रिटिश प्रधानमंत्री लार्ड सैलिसबरी ने 1892 ई० के भारतीय परिषद अधिनियम में चुनाव के सिद्धांत की अनुपस्थिति को उचित ठहराते हुए कहा था कि चुनाव का सिद्धांत अथवा प्रतिनिधि सरकार पूर्वी विचारधारा नहीं है और न ही यह पूर्वी परंपराओं अथवा पूर्वी मानस के संदर्भ में सही बैठती है। जो प्रजातांत्रिक अथवा प्रतिनिधिक तत्व प्रारंभ किए गए उनका उद्देश्य भी भारतीय समाज को प थक खंडों में बांट कर उपनिवेशवादी व्यवस्था को और मजबूत बनाना था।

ब्रिटिश शासकों की भारत के प्रति नीति मूलतः विभाजनकारी थी इस नीति का एक स्पष्ट उदारहण उनके द्वारा प्रयुक्त सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली थी। इसका उपयोग किस कुशलता से उन्होंने किया इसका प्रमाण लार्ड माउटबैटन की राजनीति थी। वह पाकिस्तान के संस्थापक थे और स्वतंत्र भारत के प्रथम गवर्नर जनरल भी। यूं इस विभाजन के बीज 1905 ई० मे कर्जन द्वारा बो दिए गए थे। बंगाल का विभाजन प्रत्यक्षतः तो बंगाल का आकार प्रशासनिक प्रबंध के योग्य बनाने के लिए किया गया था। परंतु उसका वास्तविक उद्देश्य एक तरफ तो बंगाल में तीव्र गति से बढ़ते हुए राष्ट्रवाद को कमजोर करना था और दूसरी तरफ ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करना था जो हिंदू और मुस्लिम समुदायों के बीच निरंतर वैमनस्य और कूटता का आधार बनतीं। इस निंरतर कटुता और वैमनस्य का फल भारत के विभाजन और पाकिस्तान के निर्माण के रूप में देखने को मिला। इस विभाजन और भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम ने इस सिद्धांत का भी आधार तैयार कर दिया कि जहाँ तक हो सके धार्मिक आधार पर प्रादेशिक सीमाओं के अनुरूप ही राजनीतिक सीमाएं भी होनी चाहिए तथा भारत के राष्ट्रीय राजनैतिक अस्तित्व को पहला परंतु अत्यंत गहरा धक्का भी लगा।

1880 ई० में ही बंबई के गवर्नर रिचर्ड टेंपल ने यह स्वीकार किया था कि इंग्लैण्ड के लिए भारत को अधीन रखना अनविार्य है क्योंकि ब्रिटिश पूंजी का एक बड़ा भाग इस देश में इस शर्त पर लगाया गया है। कि ब्रिटिश शासन बहुत वर्षों तक बना रहेगा तथा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए औपनिवेशिक शासन की सर्वाधिकारवादी प्रकृति को बनाए रखना आवश्यक था। केवल ब्रिटिश शासकों ने इस स्वेच्छाचारी सर्वाधिकारवाद को सैद्धांतिक तौर पर प्रतिनिधित्व (1909 तथा 1919 ई०) तथा संघवाद व प्रांतीय स्वायत्तता (1935 ई०) के आकर्षक व भ्रामक आवरण पहनाने का प्रयास किया था। परंतु इन सुधारों से कही अधिक तीव्र गति से दमनकारी अधिनियमों व प्रशासनिक संयंत्रों का विकास हुआ था।

अधिकाश सुधार अधिनियम परिस्थितिगत उद्देश्यों से चालित थे तथा उनका उद्देश्य मूलतः सभी क्षेत्रों का सरकारीकरण तथा शक्ति का केंद्रीकरण था। उदाहरणार्थ 1858 और 1861 ई० के अधिनियम 1857 ई० जैसी विस्फोटक अथवा विद्रोही स्थिति को रोकने के उद्देश्य से चालित थे तथा उनके द्वारा स्थापित की गई परिषदों की अवस्थिति भारतीय राजाओं के दरबारों जैसी

ही थी जिनका उद्देश्य मात्र जनता को प्रभावित करना था। 1861 ई० के अन्य सब अधिनियम भी भारतीयों को उच्च पदों से दूर रखने तथा भारतीयों को भारतीयों से संतुलित करने के उद्देश्य से प्रेरित थे। देशी भाषा प्रेस अधिनियम, भारतीय शस्त्र अधिनियम, इल्बर्ट-बिल विवाद, भारतीय प्रेस अधिनियम, फौजदारी कानून, (संशोधन) अधिनियम व रालट एक्ट से ब्रिटिश शासकों की भेदभावपूर्ण नीति, अपनी नस्लगत श्रेष्ठता का दंभ और भारतीय असंतोष के दमन की नीति और भी स्पष्ट हो जाती है तथा ब्रिटिश सरकार के न्यायप्रियता और उत्तरदायी शासन के दावों का खोखलापन भी स्पष्ट हो जाता है।

1909 के अधिनियम को भारतीय संविधानिक इतिहास में प्रतिनिधित्व के सिद्धांत का प्रारंभ कहा जाता है। वास्तव में इस अधिनियम द्वारा उत्तरदायित्व व प्रतिनिधित्व की मांग के प्रत्युत्तर में 'परोपकारी निरंकुशता' (benevolent despotism) की स्थापना की गई थी। क्योंकि जहाँ कुछ प्रतिनिधि और संसदीय ढांचा स्थापित किया गया वहाँ उत्तरदायित्व तथा वास्तविक शक्ति दोनों का अभाव था। निर्वाचन अप्रत्यक्ष था तथा अत्यंत सीमित था यहाँ तक कि किसी-किसी निर्वाचन क्षेत्र मे मतों की संख्या मात्र 9 से 10 होती थी जिन्हें सरलता से प्रभावित किया जा सकता था अथवा खरीदा जा सकता था। निर्वाचित सदस्यों की संख्या इतनी कम थी कि सरकारी व मनोनीत गैर-सरकारी सदस्य मिल कर उन्हें प्रभावहीन बना सकते थे। वस्तुतः इस अधिनियम से भारत में सर बार्टल फ्रेरे के शब्दों में, "संसदीय परिपाटियां इसी सीमा तक अपनाई गई जिस सीमा तक वे अधिकतम संघर्ष को जन्म देती तत्कालीन भारत मंत्री लार्ड मार्ले द्वारा इस सुधार योजना की घोषणा के समय ब्रिटिश सरकार का मंतव्य और भी स्पष्ट हो जाता है। उनके शब्द थे, "यदि मैं भारत में एक संसदीय व्यवस्था की स्थापना कर रहा हूँ या यदि यह कहा जा सके कि सुधार से संसदीय प्रणाली की स्थापना होती है तो मैं यह कहूँगा कि मेरा इस प्रक्रिया से कोई संबंध नहीं है इस तरह के कार्य की शुरूआत में भाग लेने का मेरा कोई इरादा नहीं है। यदि भारत में मेरा अस्तित्त्व अधिकारी अथवा भौतिक द ष्टि से 20 गुना बढ़ भी जाता है-जो कि संभव नहीं है- तो भी भारत में संसदीय प्रणाली की स्थापना करने के बारे में एक मिनट के लिए सोचना भी मेरा उद्देश्य नहीं होगा।

इसी प्रकार जहाँ 1919 ई० के भारतीय शासन अधिनियम को भारत में 'उत्तरदायी शासन की प्रगति' का सूचक घोषित किया गया था, वहीं इस अधिनियम के माध्यम से भारत के उच्च शासक गवर्नर जनरल/वायसराय को इतने व्यापक अधिकार प्रदान किए गए थे कि वह इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री अथवा अमरीका के राष्ट्रपति से भी अधिक व्यापक शक्तियों का स्वामी बन गया था। उसके विषय में यह कहा जाता था कि इंगलैण्ड का सम्राट राज्य करता है पर शासन नहीं, फ्रांस का राष्ट्रपति न राज्य करता है और न ही शासन, परंतु भारत का गवर्नर जनरल राज्य भी करता है और शासन भी। भारत सचिव के लंदन मे अवस्थित होने और गवर्नर जनरल के भारतीय प्रशासन से प्रत्यक्ष तौर पर जुड़े होने से उसको इतने व्यापक एवं विस्त त अधिकार प्राप्त थे कि वह एक स्वेच्छाचारी शासक के रूप में कार्य करता था। उसको परामर्श देने के लिए एक कार्यकारिणी परिषद भी थी परंतु इसके सदस्य भी गवर्नर जनरल तथा भारत सचिव के प्रति उत्तरदायी थे अतः वे कभी गवर्नर जनरल के विरूद्ध नहीं जा सकते थे। गवर्नर जनरल परिषद के परामर्श को मानने के लिए बाध्य भी नहीं था।

1935 ई० के अधिनियम द्वारा जहाँ भारत सचिव के अधिकार-क्षेत्र अथवा नियंत्रण में कुछ कमी आई, वहीं गवर्नर जनरल को सरंक्षण और आरक्षण के माध्यम से कुछ विशिष्ट उत्तरदायित्व सौंपे गए जो विशिष्ट शक्तियों का भी आधार बने। इस अधिनियम द्वारा यद्यपि प्रांतीय स्वायत्तता पर आधारित संघीय व्यवस्था भी आरंभ की गई परंतु उससे भी गवर्नर जनरल का अधिकार-क्षेत्र संकुचित नहीं हुआ था। अपितु प्रांतीय शासन में हस्तक्षेप के व्यापक अधिकार उसे प्राप्त थे जैसे प्रांत में संविधानिक तंत्र की विफलता की घोषणा करने पर वहां गवर्नर का शासन लागू हो जाता था जो वह गवर्नर जनरल के आदेशों के अनुसार ही करता था। गवर्नर अपनी स्वविवेक की शक्तियों का प्रयोग भी गवर्नर जनरल के नियंत्रण में रहकर ही कर सकते थे। प्रांतीय कानूनी क्षेत्र में भी गवर्नर जनरल को नियंत्रण के व्यापक अधिकार थे। जैसे कुछ बिल गवर्नर द्वारा गवर्नर जनरल की स्वीकृति के लिए संरक्षित किए जा सकते थे। गर्वनर जनरल उस बिल को स्वीकार कर सकता था, अस्वीकार कर सकता था, पुनर्विचार के लिए विधान सभा को लौटा सकता था अथवा ब्रिटिश सम्राट की स्वीकृति के लिए संरक्षित कर सकता था। इतना ही नहीं जो विषय मंत्रियों को दिए गए थे वे भी गवर्नर जनरल के नियंत्रण से बाहर नहीं थे। उदाहरणार्थ, प्रांत में शांति और व्यवस्था तथा कानून का नियंत्रण मंत्रियों को दिया गया था परंतु इन्हीं विषयों को गवर्नर तथा गवर्नर जनरल का विशेष उत्तरदायित्व भी बनाया गया।

यह सर्वव्यापक व विशाल प्रशासनिक राज्य एकदम स्थापित नहीं हुआ था। धीरे-धीरे विकसित किया गया था जिसके मूल में औपनिवेशिक राजनीतिक अर्थव्यवस्था थी। अपने राजनीतिक नियंत्रण के प्रारंभिक वर्षों में ईस्ट इंडिया कंपनी के रूप में ब्रिटिश शासन परंपरागत साम्राज्यों की भांति ही दूरवर्ती उपनिवेश से कर वसूलने तक सीमित रहा। इस समय अपने पूर्ववर्तियों के पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए अंग्रेजों ने गांवों में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप करने की आवश्यकता महसूस नहीं की और न ही आर्थिक प्रशासनिक व सामाजिक ढांचे को अस्त-व्यस्त किया परंतु शीघ्र ही कर अथवा राजस्व वसूली सीमित लाभ प्रतीत होने लगे और उनमें परिवर्तन अनिवार्य महसूस हुए। शोषण को प्रभावी बनाने तथा देश के अंदर छोटे शहरों और गांवों में ब्रिटिश वस्तुओं को पहुँचाने तथा वहां से निर्यात के लिए कृषि उत्पादों को प्राप्त करने के लिए प्रशासन को विस्त त एंव व्यापक बनाना आवश्यक हो गया। पुलिस, विधि व्यवस्था एवं राजस्व प्रशासन को इतना व्यापक बनाया गया कि वे भारत के प्रत्येक ग्राम व प्रत्येक बस्ती तक पहुँच सकें।

वाणिज्य तथा व्यापार के सुचारू संचालन के लिए संपत्ति के निजी अधिकार और अनुबंध की पवित्रता पर आधारित नए नैतिक नियम व कानून संपूर्ण देश में लागू किए गए। इस प्रकार समान कानूनों और संहिताओं जैसे भारतीय दंड संहिता, दंड प्रक्रिया संहिता और दीवानी प्रक्रिया संहिता के एक पूर्णतः नए (विदेशी) विधि समूह पर आधारित एकीकृत वैधानिक एवं न्यायिक व्यवस्था का विकास हुआ। इन लिखित विधियों पर आधारित वैधानिक व्यवस्था व न्याय प्रणाली ने भारत की प्रथाओं और परंपराओं को बड़ी सीमा तक स्थानांतरित कर दिया। इसी आधार पर ब्रिटिश शासक इस का श्रेय लेते हैं कि उन्होंने भारत में एक आधुनिक राज्य की स्थापना की और आधुनिक राष्ट्र की आधारशिला रखी जिसमें एक सामान्य विधि व्यवस्था, एक व्यापक व कुशल प्रशासन तथा एकल समन्वित न्यायिक प्रणाली थी। परंतु यह याद रखना आवश्यक है कि ब्रिटिश शासकों की इन तथाकथित उपलब्धियों के बावजूद भारत में लगभग 500 देशी रजवाड़े स्वतंत्रता तक थे और अंत में भारत भी विभाजित हो गया, एक सामान्य विधि व्यवस्था थी परंतु उसमें धार्मिक व्यक्तिगत विधियां कायम रहीं, एक व्यापक कुशल प्रशासन में ऐसे अधिकारी थे जिनकी मानसिकता शासक की थी, जन सेवकों की नहीं, अंग्रेजी भाषा और शिक्षा ने एक ऐसे विशिष्ट वर्ग को जन्म दिया था जो भारत से उतना ही दूर था जितना ब्रिटिश शासक वर्ग, प्रतिनिधि शासन व चुनावों का आरंभ की गैर-लोकतांत्रिक था क्योंकि यह सीमित व सांप्रदायिक निर्वाचन प्रणाली के साथ आरंभ हुआ था और अंततः ब्रिटिश शासक भारत की गरीबी और अशिक्षा में कोई सुधार नहीं ला सके।

प्रायः यह माना जाता है कि ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने भारत में एक अंशतः सामान्य कानून, प्रशासन तथा न्यायिक व्यवस्था की स्थापना कर इसे एक राजनीतिक व प्रशासनिक ढांचा प्रदान किया। परंतु यह सब औपनिवेशिक व्यापार तथा राजनीति के लक्ष्यों एवं तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया गया था और अंततः यह औपनिवेशिक विधि व न्याय व्यवस्था तथा प्रशासनिक ढांचा इतनी कठोरता से भारत में स्थापित हो गए कि स्वतंत्रता के पश्चात् भी इन्हें हटाना एक दुष्कर कार्य हो गया और भारत में आधुनिक राष्ट्र-राज्य की एक गलत नींव रखी गई। परिणामस्वरूप आज भी भारत में विकास तथा जनकल्याण के प्रति वचनबद्ध राज्य व्यवस्था का तंत्र तथा आधार वहीं उपनिवेशवादी प्रकृति वाला प्रशासनिक तथा वैधानिक ढांचा है जो राष्ट्र निर्माण तथा सामाजिक आर्थिक विकास के लक्ष्यों तथा आकांक्षाओं के प्रति न्याय करने में बड़ी सीमा तक असमर्थ व असफल सिद्ध हुआ है। यदि भारत में शिक्षा के प्रसार, सामाजिक परिवर्तन एवं सुधार, मुक्त व्यापार, सीमित आधुनिकीकरण व औद्योगीकरण, प्रशासन, विधि व न्याय के क्षेत्र में ब्रिटिश नीतियों की प्रगति, समय-समय पर होने वाले परिवर्तन और भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों के साथ उसके संबंध का मूल्यांकन एवं विश्लेषण किया जाए तो यह बात एक दम स्पष्ट हो जाती है कि प्रशासन की रूचि, विकास, परिवर्तन अथवा सुधार में नहीं था। इस प्रशासन में भारतीय जनमत के लिए भी कोई स्थान नहीं था। इस तथ्य की पुष्टि इस आधार पर हो जाती है कि 1858 ई० तक गवर्नर जनरल की विधान परिषद (Legislative Council) में कोई भी गैर-सरकारी व्यक्ति-यूरोपीय अथवा भारतीय नहीं था। परिणामतः यह परिषद भारत के विभिन्न भागों की वस्तुस्थिति से अनभिज्ञ थी। इसी प्रकार भारतीय मामलों पर अंतिम निर्णयकारी शक्ति रखने वाली भारत सचिव की परिषद व मंत्रिमंडल में 1947 ई० तक भी कोई भारतीयों का प्रतिनिधि नहीं था।

निस्संदेह अंग्रेजों के शासन से पूर्व भारत अनेक भागों में बंटा हुआ था जिनमें अनके प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाएं स्थापित थ और अनेक राजनैतिक सत्ता केंद्र थे। इन्हें एक प्रशासनिक इकाई में बांधने का श्रेय ब्रिटिश उपनिवेशिक शासकों को जाता है और यही प्रशासनिक इकाई आधुनिक भारतीय राज्य का आधार बनी परिणामस्वरूप स्वाभाविक ही इस राज्य में एक व्यापक

प्रशासन तंत्र व कार्यपालिका अत्यंत शक्तिशाली तत्व बनकर उभरे। यद्यपि न्यायपालिका की स्वतंत्रता, स्वायत्तता पर भी बल दिया गया परंतु न्यायपालिका की यह स्वतंत्रता भी ब्रिटिश विधियों के अंतर्गत ही थी और जब भी न्यायाधीशों विशेष तौर पर मुख्य न्यायधीश एलिजाह इंपे (Sir Elijah Impey) अथवा न्यायपालिका ने 'विधि का शासन' अथवा 'न्याय संरक्षण' भारतीय जनता तक पहुँचाने का प्रयास किया तभी उनकी शक्तियों को सीमित कर कार्यपालिका की सर्वोच्चता को पुनर्स्थापित किया गया।

इसी प्रकार प्रशासन में भी आवश्यक शिक्षा, योग्यता, प्रशिक्षण तथा निरपेक्षता को महत्व देकर उसे एक आधुनिक अधिकारी तंत्र के रूप में विकसित किया गया तथा सुद ढ़ शासकीय तंत्र के रूप में स्थापित किया गया। यह अधिकारी तंत्र पुरानी व्यवस्था के मुकाबले अधिक कुशल और निष्पक्ष प्रशासनिक तंत्र था परंतु इसकी प्रमुख भूमिका कानून और व्यवस्था बनाए रखना था न कि जन कल्याण अथवा आर्थिक विकास। इसकी वास्तविक प्रकृति शोषण, प्रतिक्रियावादी एवं नकारात्मक थी। इसके कारण भारत को आर्थिक एवं सामाजिक विकास न केवल धीमा पड़ा अपितु इसमें अनेक ऐसे तत्व उत्पन्न हो गए जो भारतीय हितों के अनुकूल नहीं थे और जो स्वातंत्रयोत्तर भारत की राजनीतिक एवं सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के लिए भी समस्या बने रहे।

स्पष्ट ही, ब्रिटिश औपनिवेशक राज्य व्यवस्था ब्रिटिश साम्राज्य के अभियंत्र के रूप में विकसित हो गई थी जिसका मूल सिद्धांत परोपकारी निरंकुशतंत्र (Benevolent despoitsm) था। साम्राज्यवादी एवं निरकुंशवादी होने के कारण उस राज्य में एक उच्च शक्तियुक्त सरकारी अधिकारी गवर्नर जनरल/वायसराय को जन-कल्याण का उत्तरदायित्व सौंपा गया था जिसमें जन-सहभागिता के लिए कोई स्थान नहीं था। 1773 के अधिनियम से भारत ब्रिटिश संसदीय संरचना के अधीन लाया गया था और ईस्ट इंडिया कंपनी एक मान्य राजनीतिक संस्था के रूप उभरी जिसके पास भारत के बड़े भू-प्रदेश की औपचारिक एवं अनौपचारिक सत्ता थी। इस अधिनियम द्वारा बंगाल, बंबई और मद्रास को एकत्रित कर गवर्नर जनरल के अधीन रखा गया था तो कलकत्ता में अवस्थित था। इस गवर्नर जनरल को भारत में 'अच्छी व्यवस्था व नागरिक प्रशासन' के लिए उत्तरदायी बना कर भारतीय प्रशासन को ब्रिटिश राजनीतिक व्यवस्था के नियंत्रण में रखा गया। अच्छे शासन का सीधा तात्पर्य ब्रिटिश राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना था। इसी अधिनियम के द्वारा कलकत्ता में सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना भी की गई जिसका सीधा-साधा तार्किक परिणाम भारतीय जनता के लिए 'विधि का शासन' तथा 'न्यायिक संरक्षण' भी होना चाहिए था। परंतु ऐसा नहीं हुआ। यह परोपकारी साम्राज्यवादी शासन कितना सतही रूप से लाभकारी था इसका प्रमाण इसी तथ्य से मिल जाता है कि जब सर्वोच्च न्यायालय के प्रथम मुख्य न्यायाधीश एलिजाह इंपे ने विधि का शासन और न्यायिक संरक्षण भारतीय जनता को प्रदान करते हुए कार्यकारी निर्णयों का पर्यवेक्षण आरंभ किया तो इसे खतरनाक माना गया क्योंकि भारत में ब्रिटिश शासन का मुख्य दायित्व तत्कालीन गवर्नर जनरल एवं उनके सहायकों के अनुसार न्याय प्रदान करना नहीं अपितु राजस्व एकत्र करना था। परिणामस्वरूप इंपे को मुख्य न्यायाधीश के पद से हटा दिया गया और 1781 ई० में ब्रिटिश संसद ने कानून बना कर गवर्नर जनरल और उसकी परिषद के साथ-साथ जमींदारों और सब राजस्व-मामलों को सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार से बाहर कर दिया।

1935 ई० का अधिनियम ब्रिटिश राज्य का शासन संबंधी सर्वाधिक विस्त त प्रलेख था जिसमें प्रांतीय स्वायत्तता व संघीय व्यवस्था के नाम पर प्रांतों में उत्तरदायी शासन की स्थापना की बात की गई थी। परंतु उसमें भी स्वराज्य के विषय में कोई आश्वासन नहीं था। प्रतिनिधित्व के नाम पर सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व को विस्त त व सशक्त करते हुए उसे हरिजनों के लिए भी अपनाया गया। केंद्र में उत्तरदायी शासन के स्थान पर उस द्वैध शासन की व्यवस्था को अपनाया गया जो प्रांतों में पहले ही असफल सिद्ध हो चुकी थी। यह अधिनियम भारतीय जनता के नागरिक अधिकारों अथवा मूल अधिकारों के विषय में सर्वथा मौन था।

इस प्रकार ब्रिटिश औपनिवेशिक राज्य एक केंद्रीकृत अधिकारीतंत्रीय निरंकुश तथा सर्वाधिकारवादी प्रशासनिक राज्य था। विदेशी शासक और प्रशासक न तो जन-प्रतिनिधि थे और न ही जनता के प्रति उत्तरदायी। विदेशी होने के कारण वे यहाँ की वास्तविक समस्याओं से भी अनभिज्ञ थे। अस्थायी तौर पर भारत आते थे और ब्रिटिश आर्थिक हितों को संरक्षण प्रदान करते थे। भारतीय जन-साधारण का कल्याण उनके लिए प्राथमिकता नहीं था। यह राज्य एक पूर्णतः पदसोपान युक्त व्यवस्था थी जिसमें निम्न अधिकारी उच्च अधिकारी का एजेंट तथा उसके प्रति उत्तरदायी था परंतु जनहितों के प्रति उत्तरदायी नहीं था।

यह औपनिवेशिक राज्य अपने पूर्ववर्ती मुगल राज्य की तरह परंपरागत, सीमित अथवा परिधि पर टिका हुआ राज्य नहीं था क्योंकि औपनिवेशिक राजनीतिक अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सीमित राज्य असुविधाजनक था। अतः यह एक सर्वव्यापी और सर्वाधिकारवादी सत्ता के रूप में विकसित हुआ जो एक नए विश्व का मार्गदर्शक और उसकी सत्ता की स्थापना में सक्षम उच्चतम सत्ता का स्वामी भी था। यह नया विश्व औपनिवेशिक सांस्कृतिक नीति का परिणाम था और वैधीकरण का उपकरण भी था। शिक्षा के माध्यम से सांस्कृतिक एकाधिकार स्थापित करने में असफलता के पश्चात् शक्ति, दमनकारी कानून तथा अति-वैधानिक बल का प्रयोग करने में भी यह राज्य हिचका नहीं। अतः इसकी चारित्रिक विशिष्टता निरंकुशता, सैन्यवाद, अनुत्तरदायित्व, साम्राज्यवाद, भ्रष्टाचार तथा अनुचित बल प्रयोग थे जो सेना पर होने वाले खर्च, पुलिस के अमानुषिक व्यवहार तथा दमन कारी विधियों में स्पष्टतः प्रतिबिंबित थे।

समाज को भीतर से कमजोर करने के लिए सुधारों की अपरिहार्यता पर बल दिया गया तथा राष्ट्रीयता एकबद्धता को तोड़ने के लिए राजनीतिक नैतिकता के नए सिद्धातों का अविष्कार किया गया जिनके अनुसार धार्मिक समुदायों की सुरक्षा के लिए धर्म निरपेक्ष राज्य सत्ता और उदार संविधानवाद पर्याप्त नहीं थे अपितु सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व, प थक्करण और विभाजन अनिवार्य थे। भारत की निर्धनता और अशिक्षा उतनी बड़ी समस्या नहीं थे जितनी धार्मिक, जातीय व न जातीय विविधता जिनका सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली तथा विभाजन में खोजा गया था।

अंततः इस औपनिवेशिक राज्य ने ऐसी मानसिकता को जन्म दिया और सशक्त बनाया जिसके अनुसार आधुनिकता, प्रगति और विकास पाश्चात्यीकरण का पर्याय बन गया। महात्मा गांधी का विचार था कि इस औपनिवेशिक इतिहास ने हमें राजनीतिक तौर पर तो दास बनाया ही, हमारी संस्कृति के मूल आधार को भी खोखला कर दिया और आशीष नंदी के मत में पश्चिम सर्वव्यापी हो गया। हमारी संरचनाओं और हमारे मस्तिष्क सब जगह पश्चिम की पश्चिम ही गया।

अध्याय-14

भारत में राष्ट्रीय राज्य के विकास की अवस्थाएँ

(Stages of Development of Nation – State in India)

आधुनिक युग राष्ट्रीय राज्यों (Nation States) का युग है। एक राज्य में भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक प ष्ठभूमि वाली भिन्न-भिन्न राष्ट्रीयताएं (Nationalities) तो हो सकती हैं, परन्तु किसी राज्य में सैद्धांतिक पक्ष से एक से अधिक राष्ट्र (Nation) नहीं हो सकते। आधुनिक युग में कोई भी ऐसा राज्य नहीं है जहां एक ही राष्ट्रीयता (Nationality) के लोग रहते हैं। विभिन्न राष्ट्रीयताओं को एक ही राष्ट्र के रूप में ढालना आधुनिक युग के राज्य की एक महत्वपूर्ण समस्या है। अन्य शब्दों में, वास्तविक रूप में राष्ट्र का निर्माण करने के लिए आधुनिक राज्य को महत्वपूर्ण भूमिका निभानी पड़ती है। यह जानने के लिए कि राज्य राष्ट्र के निर्माण के कार्य में किस प्रकार की भूमिका अभिनीत करता है, हमें पहले यह जानना आवश्यक होगा कि राष्ट्र (Nation) का क्या अर्थ है? अन्य शब्दों में, जब तक यह स्पष्ट नहीं किया जाता कि इसके कौन-से सैद्धान्तिक या निर्धारित तत्व हैं, तब तक राष्ट्र निर्माण के कार्य में राज्य की भूमिका को वास्तविक रूप से नहीं जाना जा सकता।

राष्ट्र की परिभाषा
(Definition of Nation)

राष्ट्र की परिभाषा सम्बन्धी राजनीति शास्त्रियों की एक राय नहीं है। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने इस शब्द की परिभाषा भिन्न-भिन्न द ष्टिकोणों के आधार पर की है। कई विद्वानों ने इसकी परिभाषा इस शब्द की उत्पत्ति की द ष्टि से, कई राजनीतिक शास्त्रियों ने राजनीतिक द ष्टिकोण से और कई विचारकों ने सांस्कृतिक और मानसिक द ष्टिकोण से की है। इन सभी परिभाषाओं का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

1. **शब्द की उत्पत्ति की द ष्टि से राष्ट्र की परिभाषा (Definition of Nation from the Point of the Origin of the World Nation):** राष्ट्र शब्द अंग्रेजी के नेशन (Nation) शब्द का हिन्दी अनुवाद है। अंग्रेजी भाषा का 'नेशन' शब्द लातीनी भाषा में 'नेशियों' शब्द का अर्थ जन्म या जाति है। शब्द की उत्पत्ति की द ष्टि से राष्ट्र को उन व्यक्तियों का समूह माना जाता है तो किसी एक ही जाति से सम्बन्धित हों। जिन विद्वानों ने जाति को आधार मान कर 'राष्ट्र' की परिभाषा की है उनमें ब्रगेस, लीकॉक, परेडियर फोडरे आदि के नाम विशेषतया प्रसिद्ध हैं। इन विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाएं इस प्रकार है।

   (i) **ब्रगेस** के अनुसार, "राष्ट्र भौगोलिक एकता वाले निश्चित इलाके में रहती हुई एक ही जाति की जनसंख्या है। नस्ली एकता की व्याख्या करते हुए मिस्टर ब्रगेस लिखते है कि "नस्ली एकता से उनका अभिप्राय ऐसी जनसंख्या से है जिसकी सांझी भाषा और सांझा साहित्य है, जिसकी संयुक्त परम्परा का संयुक्त इतिहास है, जिसके रीति-रिवाज संयुक्त हैं और जिसकी उचित, अनुचित की चेतना भी संयुक्त है।

   (ii) **लीकॉक** के शब्दों में, "यद्यपि राष्ट्र शब्द का प्रयोग बहुत ढीले रूप में किया गया है, परन्तु इसको नस्ल सम्बन्धी अर्थ में समझना अधिक उचित है। यह लोगों के एक ऐसे समूह की ओर संकेत है। जिसकी एकता सांझी भाषा पर आधारित है।"

   (iii) **फ्रांसीसी विद्वान प्रेडियर फोडरे** के कथानुसार, "नस्ल की सांझ और भाषा, आदतें, रीति-रिवाज़ और धर्म की समानता ऐसे तत्व हैं जो राष्ट्र का निर्माण करते हैं।"

आलोचना (Criticism): प्राचीनकाल में किसी भी सीमा तक जाति की एकता राष्ट्र के आधार पर मानी जा सकती थी क्योंकि उस समय यातायात के साधन इतने अधिक विकसित नहीं हुए थे और इसी कारण भिन्न-भिन्न देशों के लोगों में परस्पर सामाजिक सम्पर्क (Social Intercourse) बहुत कम था। वर्तमान युग में नस्ल की एकता को राष्ट्र का आधार मानना उचित नहीं है क्योंकि वर्तमान समय में यातायात के साधनों का इतना अधिक विकास हुआ है कि भिन्न-भिन्न देशों के लोग अन्य देशों में प्रायः जाते-आते हैं और पर्याप्त मात्रा में ऐसे लोग भी हैं जो सदा के लिए अन्य देशों में बस गए हैं। इस कारण भिन्न-भिन्न देशों के लोगों का सामाजिक सम्पर्क भी बढ़ा है और पर्याप्त मात्रा में अन्तर्जातीय विवाह (Inter-racial marriages) भी देखने में आते हैं। ऐसी अवस्था में नस्ल और जाति की विशुद्धता लगभग कोरी कल्पना बन कर रह गई है। कोई भी नस्ल पूर्ण रूप से शुद्ध और पवित्र होने का दावा नहीं कर सकती।

इसलिए यह स्पष्ट है कि यदि हम जाति की एकता को ही राष्ट्र का मुख्य आधार माने तो वर्तमान युग में इसकी कटौती पर कोई भी राष्ट्र पूर्ण नहीं कर उतरेगा। इस कारण हम जाति को राष्ट्र का आधार मानने वाले विद्वानों के साथ राष्ट्र की परिभाषा के सम्बन्ध में सहमत नहीं है।

2. **राजनीतिक दृष्टिकोण से राष्ट्र की परिभाषा (Definition of Nation from the Political Point of View):** कुछ राजनीतिक शास्त्री राष्ट्र का अर्थ एक राजनीतिक संगठन के रूप में लेते हैं। उनके विचारानुसार राष्ट्र केवल सांस्कृतिक या जातीय आधार पर संगठित व्यक्तियों का समूह नहीं है अपितु उनमें राजनीतिक संगठन भी होना चाहिए। इस विचार के अनुसार यदि किसी जातीय एकता वाले या मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक भावनाओं वाले समूह को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है। तो उसे राष्ट्र नहीं कहा जा सकता। साधारण शब्दों में, ये विद्वान राष्ट्र के राजनीतिक रूप को मान्यता देते है और राजस्व (Statehood) को राष्ट्र का मुख्य तत्व मानते हैं। इस आधार पर की गई विद्वानों की भिन्न-भिन्न परिभाषाएं इस प्रकार हैं।

(i) **लार्ड ब्राइस** के अनुसार, "राष्ट्र वह राष्ट्रीयता है जिसने अपने आपको स्वतन्त्र या स्वतन्त्र होने की इच्छा रखने वाली राजनीतिक संस्था के रूप में संगठित कर लिया।"

(ii) **मिस्टर हेज़** के अनुसार, "एक राष्ट्रीयता राजनीतिक एकता और सम्पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करके राष्ट्र बन पाती है।"

(iii) **गिलक्राइस्ट** (Glichrist) के शब्दों में, "राज्य में कुछ और मिला देने से राष्ट्र का निर्माण होता है। अर्थात् एक राज्य के रूप में संगठित लोगों की एकता ही राष्ट्र है।" **गिलक्राइस्ट** ने एक बहुत छोटे वाक्य में यह परिभाषा इस तरह दोहराई है, "राष्ट्र =राज्य + राष्ट्रीयता।" ("The Nationa is the State plus nationality")

आलोचना (Criticism): राष्ट्र की परिभाषा सम्बन्धी विद्वानों के उपर्युक्त विचार भी पूर्ण रूप से उचित नहीं है। राजनीतिक संगठन को ही राष्ट्र का एकमात्र आधार मानना व्यावहारिक सत्यता के विरूद्ध है। इतिहास में अनेकों ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि एक राज्य में कई राष्ट्र (Nation) हो सकते हैं और एक राष्ट्र कई राज्यों (States) में भी फैला हो सकता है। उदाहरणस्वरूप 3 अक्तूबर, 1990 से पूर्व पूर्वी जर्मनी (East Germany) और पश्चिमी जर्मनी (West Germany) दो भिन्न-भिन्न राज्य थे परन्तु जर्मनी के लोगों का राष्ट्र एक ही था और एक ही है। इसी तरह 1948 से पहले यहूदियों का कोई राज्य नहीं था परन्तु उन्हें राष्ट्र के रूप में मान्यता प्राप्त थी और यहूदी विश्व के अनेक राज्यों में फैले हुए थे। इसलिए हम राजनीतिक संगठन को राष्ट्र का एकमात्र आधार नहीं मान सकते।

3. **सांस्कृतिक और मनौवैज्ञानिक दृष्टिकोण से राष्ट्र की परिभाषा है (Definition of Nation from Cultural and Psychological Viewpoint):** कुछ विद्वान इस विचार के समर्थक हैं कि राष्ट्र के निर्माण के लिए केवल सांझी जाति, समान भाषा आदि की आवश्यकता नहीं है अपितु इस उद्देश्य के लिए समान भावनाएं और मानसिक एकता होनी चाहिए। ऐसे विद्वान भावनात्मक और सांस्कृतिक एकता को राष्ट्र का मुख्य आधार मानते हैं। उनके विचार में ऐसी एकता की भावना समान भाषा, समान धर्म, समान इतिहास, समान परम्पराएं आदि के कारण उत्पन्न हो सकती हैं। मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक एकता को राष्ट्र का आधार मानने वाले विद्वानों के द्वारा दी गई राष्ट्र की परिभाषाएं इस प्रकार हैं।

(i) **मिस्टर ब्लंटशली** के अनुसार, "राष्ट्र ऐसे मनुष्यों का समूह है तो विशेषतया भाषा और रीति-रिवाज़ों द्वारा एक सभ्यता में बंधे होते हैं, जो उनमें एकता की भावना और समस्त विदेशियों से भिन्नता की भावना उत्पन्न करती है।

(ii) **जिमरन** के शब्दों में, "राष्ट्र ऐसे लोगों का समूह है जो विशेषतया भाषा और रीति-रिवाजों द्वारा एक सभ्यता द्वारा संलग्न होते हैं और जो एक मात भूमि से सम्बन्धित हैं।"

आलोचना (Criticism): राष्ट्र की उपर्युक्त परिभाषाओं सम्बन्धी हम इस बात से सहमत हैं कि मानसिक और सांस्कृतिक एकता राष्ट्र के निर्माण के लिए अनिवार्य तत्व है। परन्तु विद्वानों का यह विचार उचित नहीं है कि मानसिक और सांस्कृतिक एकता केवल समान धर्म, समान भाषा और समान रीति-रिवाजों द्वारा ही विकसित हो सकती है। इतिहास में हमें अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जो इस विचार का खण्डन करते हैं। रूस में लोगों की भाषाओं और रीति-रिवाजों में पर्याप्त भिन्नता मिलती है परन्तु फिर भी रूस को एक राष्ट्र माना जाता है। इसी तरह स्विट्जरलैंड में मुख्यतः फ्रांसीसी, जर्मन और इतालवी भाषाएं बोली जाती हैं और लोगों में धार्मिक भिन्नता भी है परन्तु फिर भी स्विट्जरलैंड एक राष्ट्र के रूप में स्वीकार किया जाता है। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि राष्ट्र के निर्माण के लिए आवश्यक तत्त्वों में से लोगों की मानसिक और सांस्कृतिक एकता एक अनिवार्य तत्व है परन्तु इसका विश्वास धर्म, भाषा और रीति-रिवाजों की समानता के बिना भी हो सकता है।

राष्ट्र की परिभाषाओं का सारांश
(The Essence of the Definitions of Nation)

राष्ट्र की परिभाषा सम्बन्धी उपर्युक्त भिन्न-भिन्न द ष्टिकोणों में से कोई भी द ष्टिकोण स्वतन्त्र रूप से राष्ट्र की ठीक परिभाषा नहीं देता। अपने आप में कोई भी द ष्टिकोण सम्पूर्ण नहीं है, प्रत्येक विचार में किसी न किसी बात की कमी है। इन तीनों के द ष्टिकोणों के मुख्य तत्वों को मिलाकर राष्ट्र की ठीक परिभाषा दी जा सकती है। वास्तव में, राष्ट्र कोई ठोस वस्तु नहीं जिसके सम्बन्ध में हम कोई विधिक परिभाषा निश्चित कर सकें अपितु यह तो एक अद श्य कल्पना है जिस पर हम भावनामय विचार तो कर सकते हैं, स्पष्ट रूप में इसको देख नहीं सकते हैं और इसके निर्माण के लिए इसके आवश्यक तत्व स्पष्ट रूप में निश्चित नहीं किए जा सकते हैं। यदि हम वर्तमान युग के राष्ट्रों का तुलनात्मक अध्ययन करें तो यह सच्चाई स्पष्ट हो जाती है कि विश्व के समस्त राष्ट्रों में एक जैसे तत्व नहीं है अपितु उनके तत्वों में पर्याप्त भिन्नता है। भारत के लोगों में धार्मिक एकता नहीं है परन्तु धार्मिक एकता पाकिस्तान राष्ट्र का मुख्य तत्व है। इसी प्रकार स्विट्जरलैंड के लोगों में भाषा सम्बन्धी भिन्नता है परन्तु इंग्लैंड के लोगों में पर्याप्त सीमा तक भाषा की समानता है। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि समस्त राष्ट्रों के निर्माण तत्व एक से नहीं हो सकते।

निष्कर्ष
(Conclusion)

मुख्य रूप में राष्ट्र की परिभाषा सम्बन्धी हम यह कह सकते हैं कि "राष्ट्र ऐसे लोगों का समूह है जो जाति, धर्म, भाषा, रीति-रिवाजों, इतिहास आदि की समानता की कारण आपस में जुड़े हुए हैं, जिनकी एक जैसी संस्कृति हैं, जिनमें मानसिक और आध्यात्मिक एकता की भावना विकसित हुई है, जिनके पास अपनी निश्चित मात भूमि है, जो राजनीतिक तौर से स्वतन्त्र हैं, या उनमें स्वतन्त्र होने की इच्छा है और जिनमें एकत्रित रहने और विकास करने की भावना है।" यदि इनमें से एकाध तत्व न भी हों तो भी उस समूह को राष्ट्र समूह कहा जा सकता है। **बार्कर** ने ठीक ही कहा है, **"राष्ट्र एक निश्चित भूमि पर रहने वाले लोगों का समूह है जो एक ही क्षेत्र में रहने के कारण परस्पर प्यार में बंधे हुए हैं।"**

राष्ट्र निर्माण का अर्थ
(Meaning of Nation Building)

राष्ट्र का निर्माण के अर्थों की व्याख्या करते हुए **श्री डेविड ए० विल्सन** ने कहा है कि ''नियत रूप में राष्ट्र निर्माण उस सामाजिक विधि या विधियों का आलंकारिक शीर्षक है जिनके द्वारा कुछ समूहों में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न होती है और वह समूह थोड़े

या बहुत संस्थागत सामाजिक ढांचे के द्वारा अपने समाज के लिए राजनीतिक स्वायत्तता प्राप्त करने के लिए कार्य करते हैं।" **रीनहार्ड बैन्डैक्स** के विचारनुसार, "राष्ट्र निर्माण का केन्द्रीय तत्व सम्पूर्ण राष्ट्र में जनतांत्रिक सत्ता का प्रयोग करता है।"

के० डब्लयू० ड्यूशे के विचारानुसार, "राष्ट्र-निर्माण की धारणा स्वैच्छिक और निर्माणात्मक या यान्त्रिक धारणा है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार एक महान का निर्माण लकड़ी, ईटों और मसालों के विभिन्न नमूनों, से धीमें या तीव्रता से विभिन्न जोड़ों की क्रमबद्धता के अनुसार, इसकी निश्चित योजना में थोड़ा-सा स्वतन्त्र और इसके निर्माणकारों का चयन, इच्छा और क्षमता के अनुसार होता है। उसी प्रकार राष्ट्र का निर्माण विभिन्न योजनाओं के अनुसार विभिन्न प्रकार की सामग्री से धीमे या तीव्रता से, स्तरों की विभिन्न क्रमबद्धता के द्वारा और इसके वातावरण से थोड़े से स्वतन्त्र रूप में होता है।"

रखाहरी चैटर्जी के अनुसार, "राष्ट्र निर्माण के कार्य में दो मुख्य विषय सम्मिलित हैं। पहला कार्य ऐसी जनतांत्रिक सत्ता स्थापित करना है तो उचित रूप से राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना प्रभाव कायम कर सके और दूसरा कार्य सामूहिक रूप में राष्ट्रीय सम्प्रदाय स्थापित करना है।"

सलो समोदर्जन के विचार से, "राजनीतिक स्तर पर राष्ट्रीय निर्माण का प्रमुख उद्देश्य लोगों में ऐसी स्वाभविक चेतना विकसित करना है कि उनमें से प्रत्येक अपने आपको गणतन्त्र का समान नागरिक समझे। इस राष्ट्रीय समाजीकरण की प्रक्रिया में यह महत्वपूर्ण तथ्य भी सम्मिलित है कि लोगों में ऐसी इच्छा का विकास हो जाए जिस के साथ वह अपने आप को राज्य की सत्ता और उसकी संस्थाओं के प्रति आज्ञाकारी हो।"

उपर्युक्त राष्ट्र-निर्माण के कार्य की परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि एक राज्य में रहने वाले लोगों में राष्ट्रीय चेतना विकसित करना, सम्पूर्ण राष्ट्र में एकरूपीय जनतक सत्ता का प्रयोग करना और विशेष परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न विधियों के द्वारा राष्ट्रीय भावनाएं विकसित करना राष्ट्र-निर्माण के प्रति महत्वपूर्ण पग है। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि राष्ट्र-निर्माण की धारणा को समाज या राज्य के विकास की धारणा से नहीं जोड़ा जाना चाहिए। राष्ट्र का निमार्ण तभी हो सकता है यदि लोगों में राष्ट्रीय भावनाओं की भरमार हो, लोग राष्ट्रीय चरित्र में परिपूर्ण मनुष्य हों और वे स्वयं को किसी धर्म या जाति से प थक रूप में सम्बद्ध न समझे अपितु वे किसी राष्ट्र से सम्बन्धित होने का गर्व करें।

राष्ट्र-निर्माण के मुख्य तत्व
(Main Elements of Nation Building)

राष्ट्रीय निर्माण के महत्वपूर्ण तत्त्व इस प्रकार हैं।

1. **राष्ट्रीय समुदाय का स्वतन्त्र अस्तित्व (Independent Existence of National Community):** यदि कोई राष्ट्रीय समुदाय विदेशी परतन्त्रता के अधीन हो तो ऐसे समुदाय सम्बन्धी राष्ट्र-निर्माण का प्रश्न की उत्पन्न नहीं होता। राष्ट्र-निर्माण के कार्य की पहली शर्त ही यह है कि राजनीतिक समाज बाह्य गुलामी यह नियन्त्रण से स्वतन्त्र होना चाहिए। इसीलिए 1947 से पूर्व भारत में राष्ट्र-निर्माण के कार्य-सम्बन्धी राज्य द्वारा किसी विशेष भूमिका के निभाए जाने की आशा करनी निर्मूल थी। वास्तव में, राष्ट्र-निर्माण की समस्या का प्रायः उन देशों को ही सामना करना पड़ता है जो देश बस्तीवाद या किसी साम्राज्यवादी शक्ति के अधीन रहे हों। ऐसे राज्य जब स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेते हैं तो उनके लिए राष्ट्र-निर्माण का कार्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण होता है। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि राजनीतिक स्वतन्त्रता का अस्तित्व राष्ट्र-निर्माण का अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व है।

2. **राष्ट्रीय भावना (National Feeling):** किसी राजनैतिक समाज की केवल स्वतन्त्रता ही राष्ट्र-निर्माण के लिए अनिवार्य नहीं है, अपितु इस महान कार्य के लिए लोगों के मनों में राष्ट्रीय भावना और राष्ट्रीय चेतना का अस्तित्व भी अत्यन्त अनिवार्य है। जब तक लोगों के मनों में एक राष्ट्र के साथ सम्बन्धित होने का गर्व उत्पन्न नहीं होता, तब तक उन लोगों को एक राष्ट्र के रूप में संगठित करना पर्याप्त कठिन समस्या होती है। यही कारण है कि विदेशी गुलामी से स्वतंत्र हुए लोगों के मनों में राष्ट्रीय भावना का बहुत अभाव होता है, क्योंकि विदेशी सरकार ने उनकी राष्ट्रीय चेतना को पर्याप्त सीमा तक नष्ट कर दिया होता है। 1947 में जब भारत स्वतन्त्र हुआ था तो भारत के लोगों में राष्ट्रीय भावना की अपेक्षा धार्मिक, जाति, प्रान्तीय भाषायी और भावनाएं अधिक प्रबल थीं। परन्तु धीरे-धीरे इन

भावनाओं की प्रबलता कम होती जा रही है और लोग एक ही राष्ट्र के साथ सम्बन्धित होने का अनुभव करने लग पड़े हैं। परन्तु अभी भी हमारे देश के लोगों में यह राष्ट्रीय चेतना और राष्ट्रीय भावना नहीं पाई जाती है जो कि राष्ट्र-निर्माण के कार्य की सरल सफलता के लिए अनिवार्य होती है।

3. **विभिन्नता में एकरूपता की स्थापना** (Establishment of Unitermity in Diversity): आधुनिक युग में ऐसा कोई ही राज्य होगा जहां अलग-अलग धर्मो, जातियों, संस्कृतियों और प्रान्तों के लोग बसते नहीं है। अन्य शब्दों में, लगभग प्रत्येक देश में भिन्न-भिन्न राष्ट्रीयताओं या नस्लों के साथ सम्बन्धित लोग बसते है। ऐसे देश में राष्ट्र-निर्माण के कार्य की आवश्यकता अनुभव नहीं होती। राष्ट्र-निर्माण के कार्य की विशेष महत्ता उस राज्य सम्बन्धी होती है जिस राज्य में भिन्न-भिन्न जातियों या नस्लों या राष्ट्रीयता के लोग बसते हैं। इसी कारण कहा जाता है कि जनसंख्या में विभिन्नता (Diversity in Population) का अस्तित्व राष्ट्र-निर्माण का एक अनिवार्य तत्व है। जब राज्य ऐसी विभिन्नता में राष्ट्रीय एकरूपता स्थापित करने में सफल हो जाता है तो राष्ट्र निर्माण का कार्य अपने उद्देश्य को प्राप्त कर लेता है।

4. **उचित जनहित सत्ता** (Legitimate Public Authority): राष्ट्र-निर्माण के लिए उचित जनहित सत्ता का होना बहुत जरूरी है। उचित जनहित सत्ता से अभिप्राय ऐसी संवैधानिक या कानूनी शक्ति से है। जिसकी वैधता-सम्बन्धी लोगों के मनों में कोई शंका या रोष नहीं है। यदि राजनीतिक सत्ता हिंसक कार्यवाहियों द्वारा किसी व्यक्ति या कुछेक व्यक्तियों ने अपने हाथों में ले ली हो और साधारण लोग उसकी सत्ता की वैधता को स्वीकार न करते हों तो ऐसे व्यक्ति शक्ति के बल से राष्ट्रीय-निर्माण का कार्य नहीं कर सकते। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि राष्ट्र-निर्माण के लिए ऐसी राजनीतिक प्रणाली का अस्तित्व अनिवार्य है, जिसको प्रभाविकता (Effectiveness) के बारे में कोई शंका नहीं है और जिसकी वैधता को स्वीकार करते हुए लोग उसके कानूनों आदि की पालना स्वाभाविक तौर पर ही कर सकते हैं।

संक्षेप में, हम यह कह सकते है। कि राष्ट्र-निर्माण के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता, लोगों के मनों में राजनीतिक चेतना, जनसंख्या में विभिन्नता और उचित जनहित सत्ता का अस्तित्त्व अत्यन्त आवश्यक है। इन तथ्यों का अस्तित्व राज्य की समूची जनसंख्या को एक राष्ट्र के रूप में संगठित करने के योग्य बनाता है। यह ठीक है कि संयुक्त नस्ल, संयुक्त भाषा, संयुक्त धर्म, भौगोलिक नजदीकी, संयुक्त इतिहास आदि कुछ ऐसे तत्व माने जाते हैं जो राष्ट्र का निर्माण करने में अत्यन्त सहायक सिद्ध होते हैं, परन्तु इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि वर्तमान युग में किसी भी देश में इन तत्त्वों का पूर्ण अस्तित्व संभव नहीं हो सकता। इसी कारण आधुनिक युग में राज्य को राष्ट्र-सम्बन्धी विशेष भूमिका निभानी पड़ती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि राज्य राष्ट्र-निर्माण सम्बन्धी अपनी भूमिका सफलतापूर्वक तब ही निभा सकेगा, यदि राजनीतिक समाज में उपर्युक्त तत्वों का अस्तित्त्व विद्यमान है।

राष्ट्र-निर्माण के कार्य में राज्य की भूमिका
(Role of State in Nation-Building)

सैद्धान्तिक पक्ष से यह स्वीकार किया जाता है कि समान नस्ल, समान भाषा, भौगौलिक एकता, समान धर्म, समान इतिहास, समान राजनीतिक आकांक्षाएं और समान संस्कृति राष्ट्र के निर्माण के लिए आधारभूत तत्व हैं। परन्तु यदि आधुनिक युग के राष्ट्रीय राज्यों की व्यावहारिक सत्यताओं को देखें तो यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाएगा कि किसी भी राज्य में रहते हुए लोग न तो एक ही नस्ल से सम्बद्ध हैं, न उनकी समान भाषा है, न संस्कृति और न ही संयुक्त इतिहास है। परन्तु इस बात के होते हुए भी प्रत्येक राष्ट्रीय राज्य में रहने वाले लोगों को सामूहिक रूप में राष्ट्र की संज्ञा दी जाती है। वास्तव में आधुनिक समय में न तो नस्ल की विशुद्धता रही है और न ही एक राज्य में रहने वाले समस्त लोगों का एक ही धर्म से सम्बद्ध होना सम्भव हो सकता है इसीलिए कहा जाता है कि आधुनिक समय में राष्ट्र का निर्माण करने के लिए ऐसे तत्व ही पर्याप्त नहीं हैं, अपितु इस ध्येय के लिए राज्य को विशेष रूप से भूमिका अभिनीत करनी पड़ती है। राष्ट्र के निर्माण के कार्य सम्बन्धी आधुनिक युग के राज्य द्वारा अभिनीत की जाने वाली भूमिका को हम निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत वर्णन कर सकते हैं।

1. **राष्ट्रीय संस्कृति का निर्माण** (Formation of National Culture): संस्कृति एक सर्वव्यापक शब्द है। किसी विशेष जाति की संस्कृति में उसके रीति-रिवाजों सामाजिक विचारधारा, पहरावा, कला, साहित्य, रहन-सहन के ढंग इत्यादि

आते हैं। संयुक्त संस्कृति वाले लोगों के रीति-रिवाज, रहन-सहन के ढंग, पहरावा आदि एक से नहीं होते हैं और इस कारण उनमें एक विशेष प्रकार की परस्पर समानता उत्पन्न होती है। परन्तु जिस देश में विभिन्न जातियों, नस्लों या धर्मों के लोग रहते हैं उन्हें राष्ट्रीय एकता की लड़ी में संलग्न करने के लिए राष्ट्रीय संस्कृति को विकसित करने की आवश्यकता होती है। राष्ट्रीय संस्कृति को विकसित करने का अभिप्राय यह नहीं है कि विभिन्न जातियों की संस्कृति को नष्ट कर दिया जाए। राष्ट्रीय एकता तभी विकसित हो सकती है। यदि विभिन्न संस्कृतियों को विकसित होने के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो और इसके साथ ही राष्ट्रीय संस्कृति का निरन्तर विकास होता रहे। राष्ट्रीय संस्कृति का विकास तभी हो सकता है यदि एक ही राष्ट्रीय पहरावा हो, एक ही राष्ट्रीय भाषा को मान्यता दी जाए, राष्ट्रीय त्योहारों तथा उत्सवों को समान रूप से सम्पूर्ण देश में मनाया जाए, राष्ट्र के कुछ विशेष चिन्ह हों, राष्ट्रीय गान और राष्ट्रीय झण्डा हो। उदाहरणार्थ हमारे देश में 15 अगस्त और 26 जनवरी के दिन राष्ट्रीय उत्सवों के रूप में मनाए जाते हैं, सम्पूर्ण देश के लिए एक ही राष्ट्रीय झण्डा तथा एक ही राष्ट्रीय गान है और हिन्दी को देवानागरी लिपि में राष्ट्रीय भाषा के रूप में हिन्दी भाषा को मान्यता दी गई है। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि राष्ट्रीय का निर्माण करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि विभिन्न जातियों की संस्कृतियों को स्वतन्त्रापूर्वक प्रफुल्लित होने की आज्ञा हो और इसके साथ की एक समान संस्कृति अवश्य विकसित की जाए। इस संयुक्त राष्ट्रीय संस्कृति को किसी अन्य संस्था ने विकसित नहीं करना है अपितु यह राष्ट्रीय कार्य केवल राज्य द्वारा ही किया जा सकता है और समस्त समाजों में यह कार्य राज्य की करता है।

2. **भाषाओं का विकास (Growth of Languages):** कोई भी ऐसा देश नहीं है जहाँ लोगों के द्वारा एक ही भाषा प्रयुक्त की जाती है। इसके विपरीत सत्यता यह है कि प्रत्येक देश में अनेक भाषाएं प्रयुक्त की जाती हैं। उदाहरणस्वरूप हमारे अपने देश में 8 भाषाओं को संविधान के द्वारा मान्यता दी गई है और इसके अतिरिक्त बहुत-अन्य भाषाएं भारत के लोगों द्वारा विभिन्न भागों में प्रयुक्त की जाती हैं। इसी प्रकार स्विट्जरलैण्ड के लोग प्रायः फ्रांसीसी, जर्मनी और इतालवी भाषाएं बोलते हैं। यह एक सर्वव्यापक सत्य है कि किसी देश में अल्पसंख्यकों की भाषाओं को कुचलने से देश का निर्माण नहीं होता, अपितु ऐसी दमनशील कार्यवाही राष्ट्रीय भावनाओं के विकास के मार्ग में महत्वपूर्ण बाधाएं सिद्ध होती है। राष्ट्र का कुशल निर्माण तभी हो सकता है यदि स्थानीय भाषाओं को विकसित होने का अवसर दिया जाए और इसके साथ ही एक ऐसी राष्ट्रीय भाषा विकसित की जाए तो सम्पूर्ण देशों में लोगों के लिए एक कड़ी (link) का कार्य कर। ऐसे कार्य केवल राज्य द्वारा ही किए जा सकते हैं और प्रत्येक देश में ऐसे राष्ट्र-संघटक कार्य सरकार द्वारा किए जाते हैं। हमारे देश में प्रत्येक अल्प-संख्यक को अपनी भाषा और अपनी संस्कृति को विकसित करने का पूर्णाधिकार है। इसके अतिरिक्त हिन्दी को देवनागरी लिपि में राष्ट्रीय भाषा के रूप में विकसित किया जा रहा है। स्थानीय भाषाओं और हिन्दी के विकास के लिए सरकार द्वारा विशेष यत्न किए जा रहे हैं। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि विभिन्न भागों में रहते हुए लोगों द्वारा प्रयुक्त की जाती भाषाओं को और राष्ट्रीय भाषा के विकास को उत्साहित करके राज्य राष्ट्र-निर्माण के कार्य में महत्वपूर्ण भूमिका अभिनीत करता है।

3. **जनसंख्या का अजातीयकरण (Decatecisation of Population):** यह तो सत्य है कि लगभग प्रत्येक देश में विभिन्न जातियों और नस्लों के लोग रहते हैं। परन्तु कुछ देश ऐसे हैं जिनमें रहते लोगों की जातियों या धर्मों की गणना अत्यधिक है। उदाहरणार्थ, रूस और भारत में अनेक जातियों का अस्तित्व है। यदि किसी देश की जनसंख्या जाति, नस्ल या धर्म के आधार पर संगठित होगी तो उस देश में एक अच्छे राष्ट्र का निर्माण नहीं हो सकता। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि राष्ट्र के निर्माण के लिए जनसंख्या का अजातीयकरण किया जाना अत्यन्त अनिवार्य है क्योंकि इसके बिना राष्ट्र-निर्माण केवल एक कल्पना बनकर ही रह जाती है। जनसंख्या के अजातीयकरण से अभिप्राय यह है कि किसी जाति, नसल अथवा धर्म के लोगों को विशेष सुविधाएं न दी जाएं और किसी मनुष्य से धर्म या जाति या नस्ल के आधार पर कोई पक्षपात न किया जाए। इसके अतिरिक्त लोगों के निजी जीवन में भी जाति-प्रथा का समाप्त करने के लिए राज्य को आवश्यक पग उठाने चाहिएं। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि राष्ट्र के निर्माण के लिए जनसंख्या का अजातीयकरण किया जाना आवश्यक है और यह महान् कार्य केवल राज्य द्वारा किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, हमारे अपने देश में राज्य ने इस दिशा के प्रति महत्वपूर्ण पग उठाए हैं। शताब्दियों से

चली आ रही अस्प यता (छुआछुत) की अमानवीय प्रथा को संविधान के द्वारा समाप्त किया गया है और जातीय प्रथा पर विश्वास रखने वाले या जाति-प्रथा का प्रचार करने वाले व्यक्तियों को कानून द्वारा दण्ड देने की व्यवस्था की गई है। प्रत्येक प्रकार के अधिकार समान रूप में समस्त जातियों और समस्त धर्मों के लोगों को दिए गए हैं। पिछड़ी जातियों और पिछड़े कबीलों को 2000 तक विशेष सुविधाएं देने की व्यवस्था की गई है ताकि ये लोग इन विशेष सुविध ाओं का लाभ उठाकर अन्य लोगों के समान पहुँच सकें। यदि राज्य जनसंख्या का अजातीयकरण नहीं करेगा तो वास्तविक राष्ट्र का निर्माण होना सम्भव नहीं हो सकता।

4. **नस्ली सम्प्रदायों में एकता स्थापित करना (The Assimilation of ethnic communities):** जिस देश में विभिनन जातियों तथा नस्लों के लोग रहते हैं उस देश में राष्ट्र का निर्माण तभी हो सकेगा यदि उन नस्ली या जातीय सम्प्रदायों में एकता स्थापित की जाए। ऐसी एकता तभी स्थापित हो सकती है यदि उनमें परस्पर सांस्कृतिक सम्पर्क बनाने के लिए यत्न किया जाए। हमारे अपने देश का उदाहरण हमारे सामने है। बंगाल, तमिलनाडु, केरल, कश्मीर, पंजाब आदि प्रान्तों के लोग राष्ट्रीय एकता की लड़ी में तभी ही संलग्न किए जा सकते हैं यदि इनमें किसी प्रकार की समानता होगी। इनमें और अन्य भारतीय प्रान्तों में रहते हुए लोगों की संस्कृति, ऐतिहासिक प ष्ठभूमि, धर्म और भाषा में पर्याप्त भिन्नता मिलती है। अत्यधिक दूर कबायली क्षेत्रों में रहने वाली कबायली लोग स्वयं को भारतीय राष्ट्र का अंग तभी समझ सकते हैं यदि उन्हें राष्ट्रीय जीवन में प्रवेश करने के लिए योग्य अवसर प्राप्त होंगे। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि विभिन्न नस्ली सम्प्रदायों में एकता स्थापित करने के लिए राज्य को विशेष यत्न करने की आवश्यकता होती है क्योंकि ऐसे यत्नों के बिना राष्ट्र का निर्माण सम्भव नहीं हो सकता। इस उद्देश्य के लिए देश के विभिन्न राज्यों में से सांस्कृतिक दल अन्य स्थानों पर जाते हैं और इस प्रकार लोगों में सांस्कृतिक समानता बढ़ती है। राज्य सम्पूर्ण देश में एक ही प्रकार का कानून लागू करता है और किसी विशेष जातीय सम्प्रदाय से कोई पक्षपात नहीं करता और प्रत्येक प्रकार के अधिकार समस्त जातियों के लोगों को समान रूप में प्राप्त होते है और किसी जाति या नस्ल से कोई भेदभाव नहीं किया जाता। समस्त जातियों का विकास-स्तर एक जैसे नहीं हो सकता। इसलिए पिछड़ी जातियेां के संप्रदायों के विकास के लिए राज्य को कुछ-सुविधाएं प्रदान करती पड़ती हैं और पिछड़े एवं कबायली भागों की उन्नति की ओर विशेष ध्यान देना पड़ता है। राज्य विभिन्न जातीय सम्प्रदायों की संस्कृति को नष्ट नहीं करना अपितु प्रत्येक सम्प्रदाय को अपनी संस्कृति विकसित करने की स्वतन्त्रता होती है। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि नस्ली या जातीय सम्प्रदायों में समन्वय करने से एकता की भावना विकसित होती है जो राष्ट्रीय निर्माण के लिए आधारभूत तत्व हैं। इस उद्देश्य के लिए राज्य को यह एक विशेष प्रयास करना चाहिए कि एक देश मे रहने वाली जातियों के हर प्रकार के ऐतिहासिक विरोधों में व द्धि न होने दी जाए, अपितु समस्त जातियों को सम्पूर्ण राष्ट्र का उपयोगी अंग बनाने के लिए ऐसी ऐतिहासिक घटनाओं को वर्णन करने की आज्ञा न दी जाए जो ऐतिहासिक घटनाएं विभिन्न जातियों में विरोध उत्पन्न करती है। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि राज्य उस प्रत्येक तथ्य को शक्ति से कुचल दे जो देश में रहने वाली विभिन्न जातियों में ईर्ष्या उत्पन्न करता है।

5. **धार्मिक निष्पक्षता (Secularism):** राज्य राष्ट्र के निर्माण में प्रशंसनीय एवं उत्साहजनक भूमिका अभिनीत कर सकता है यदि राज्य धर्म निष्पक्ष स्वरूप हो। अन्य शब्दों में, राज्य किसी धर्म को संरक्षण न दे अपितु धर्मनिपेक्षता राज्य की अवश्यम्भावी विशेषता होनी चाहिए। धर्म व्यक्तियों का व्यक्तिगत मामला है और इसमें राज्य का किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। धर्म के आधार पर किसी व्यक्ति या वर्ग की कोई विशेष सुविधा प्राप्त नही होनी चाहिए और न ही धर्म के आधार पर किसी के साथ कोई पक्षपात किया जाना चाहिए। राज्य राष्ट्र के निर्माण के कार्य में महत्वपूर्ण भूमिका अभिनीत कर सकता है यदि राज्य में रहने वाले समस्त लोगों को धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो और लोगों पर कोई धार्मिक विश्वास ठोंसा न जाए। जिस धर्म की शिक्षा राज्य की सुरक्षा के लिए भयावह या हानिकारक सिद्ध होती है राज्य ऐसे धर्म पर प्रतिबन्ध लगा सकता है।

6. **समान राजनीतिक आकांक्षाएं (Common Political Aspirations):** आधुनिक समय में न तो नस्ल की शुद्धता सम्भव है और न ही किसी देश में रहने वाले लोगों का समान धर्म या समान संस्कृति हो सकती है। ऐसी स्थिति में राष्ट्र

का निर्माण करने के लिए समान राजनीतिक आकांक्षाएं सहायक सिद्ध हो सकती है। इसलिए राज्यों को यह अधिकाधिक प्रयत्न करने चाहिए कि देश की सम्पूर्ण जनसंख्या में राजनीतिक उद्देश्यों के प्रति लगभग सर्वसम्पति हो। समस्त लोग तो किसी राजनीतिक उद्देश्य के प्रति सहमत हो नहीं सकते परन्तु राजनीतिक उद्देश्यों के प्रति अधिकाधिक लोगों की सहमति राष्ट्र के निर्माण के लिए सहायक तत्व के रूप में सिद्ध हो सकती है। इसलिए राज्य को यह चाहिए कि जो राजनीतिक उद्देश्य देश के लिए निश्चित किए गए हैं उन उद्देश्यों के प्रति सम्पूर्ण जनसंख्या को जाग त किया जाए, विरोधी विचारों को पूर्ण रूप में व्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो और राजनीतिक उद्देश्यों के गुणों से लोगों को परिचित करवाया जाए ताकि वे अनुभव कर सकें कि वे उद्देश्य सम्पूर्ण राष्ट्र के हितों में है। यदि लोगों में राजनीतिक प्रणाली के प्रति उनका कोई लगाव नहीं होगा तो राष्ट्रीय भावना का विकसित होना बहुत कठिन है। इसलिए राज्य को राजनीतिक उद्देश्यों के प्रति लोगों को जाग त करने के लिए विशेष यत्न करने चाहिए।

7. **भौगोलिक बाधाओं को समाप्त करना** (To remove geographical barriers): भौगोलिक एकता राष्ट्र के निर्माण के लिए अवश्य ही एक सहायक साधन सिद्ध होती है। यह सत्य है कि एक निश्चित भौगोलिक एकता वाले क्षेत्र में रहने वाले लोगों के रहन-सहन के ढंगों, परम्पराओं, संस्कृति आदि की समानता भी उत्पन्न हो जाती है। और यह सब कुछ राष्ट्र के निर्माण के लिए सहायक सिद्ध होते है। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है। कि यदि किसी राज्य के क्षेत्र भौगोलिक पक्ष से सम्बद्ध नहीं है तो उस राज्य के लोगों में संयुक्त राष्ट्र की भावना विकसित नहीं हो सकती क्योंकि आज के वैज्ञानिक उन्नति और आवागमन के साधनों के आश्चर्यनक विकास ने राष्ट्र के निर्माण के लिए भौगोंलिक एकता के तत्त्व का महत्व कम कर दिया है। फिर भी राज्य को चाहिए कि यदि उसके विभिन्न भागों में रहती जनंसख्या को भौगोलिक तत्व प थक करते हैं तो राज्य इन भौगौलिक बाधाओं को दूर करने का यत्न करे ताकि विभिन्न भागों में रहते हुए लोगों में परस्पर सम्पर्क बना रहे। इस मन्तव्य के लिए जिन क्षेत्रों में कुछ भौगौलिक कठिनाईयों के कारण आवागमन के साधनों का विकास विशाल स्तर पर नहीं हो सकता उन क्षेत्रों को राज्य के अन्य भागों से संचार के साधनों द्वारा जोड़ना चाहिए। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि राज्य अपने क्षेत्र में रहने वाले लोगों में परस्पर समानता और एकता की भावना विकसित करने के लिए भौगोलिक बाधाओं पर नियंत्रण करने का यत्न करे जो बाधाएं राज्य के विभिन्न लोगों में रहने वाले लोगों में सम्पर्क बनाने और समानता उत्पन्न करने के मार्ग में अड़चन उत्पन्न करते हैं। यदि राज्य ऐसा नहीं करेगा तो राज्य राष्ट्र के निर्माण को पूर्ण नहीं कर रहा होगा।

8. **स्थानीय कार्यों में लोगों को स्वतन्त्रता** (Independence to the People in Local Affairs): जिन देशों में विभिन्न जातियों, नस्लों, धर्मों, संस्कृतियों आदि के लोग रहते है 'उन देशों में राष्ट्र का निर्माण तभी हो सकता है यदि राज्य के विभिन्न भागों में रहने वाले लोगों को स्थानीय कार्यों में स्वतन्त्रता प्रदान की जाए। अन्य शब्दों में, ऐसे देश में संधात्मक ढांचा (Federal Set up) अधिकाशंतः सहायक सिद्ध हो सकता है। संघात्मक ढांचा होने के कारण विभिन्न प्रांतों मे रहने वाले लोगों को अपनी संस्कृति को स्वतन्त्र रूप में विकसित करने के अवसर भी मिल जाते हैं और वे सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन में भी अपना महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। संघात्मक ढांचे के द्वारा लोगों की अपनी स्थानीय आवश्यकताएं भी पूर्ण होती है। और वे केंद्रीय सरकार के अधीन होने के कारण स्वयं को सम्पूर्ण राष्ट्र का अंग भी समझते हैं। हमारे देश में भाषायी आधार पर प्रांतों का संगठन किया गया है और इस विधि ने भारत में रहने वाले विभिन्न जातियों के लोगों को एक राष्ट्र के रूप में विकसित होने के योग्य बनाया है हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि विभिन्न जातियों या प्रांतों के लोगों की स्थानीय कार्यों में स्वतन्त्रता प्रदान करके राज्य राष्ट्र-निर्माण के कार्य में महत्त्वपूर्ण भूमिका अभिनीत करता है।

9. **प्रजातन्त्रीय प्रणाली** (Democratic Set-up): लोकतन्त्रीय ढांचा राष्ट्र के निर्माण के लिए महत्वपूर्ण योगदान दे सकात है। अब वह समय तो रहा नहीं है जब नस्ल की समानता लोगों को एकता की लड़ी में संलग्न रखती थीं, अपितु आज के समय में समान नस्ल या समान धर्म से प्रजानंत्रीय प्रणाली की अवस्था लोगों में अधिकांश समानता उत्पन्न कर सकती है। लोकतंत्रीय प्रणाली के अन्तर्गन किसी भी आधार पर किसी से कोई भेदभाव नहीं किया जाता, अपितु समस्त वर्गों के लोगों को एक जैसे अधिकार प्राप्त होते हैं। सम्पूर्ण देश के लिए एक ही कानून होता है और कानून

के समक्ष सब वर्गों के लोगों को समान समझा जाता है। प्रजांतत्रीय प्रणाली में किसी एक व्यक्ति या वर्ग का शासन नहीं होता, अपितु समस्त लोगों के प्रतिनिधियों के द्वारा निर्मित कानून ही सर्वोपरि होता है। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि प्रजातंत्रीय प्रणाली की व्यवस्था करके राज्य राष्ट्र निर्माण के कार्य में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका अभिनीत कर सकता है। यदि निरंकुश अधिनायकतंत्र के द्वारा लोगों में राष्ट्रीय एकता उत्पन्न की जाए तो ऐसी एकता अधिकांश समय के लिए स्थिर नहीं रह सकती।

10. **उचित आर्थिक प्रणाली का चयन (Choice of Proper Economic System):** यदि किसी देश में अधिक निर्धनता होगी, धनी एवं निर्धन के जीवन में बहुत बड़ा अंतर होगा, श्रमिकों को पूंजीपतियों का शोषण का शिकार बनाया जाएगा और सामान्य लोगों के लिए जीवन की प्रारंभिक आवश्यकताएं पूर्ण करना भी कठिन होगा तो ऐसे देश में न तो प्रजातंत्रीय प्रणाली, न ही नस्ल की समानता और न ही कोई अन्य तत्व राष्ट्र का निर्माण करने में सफल हो सकेगा। राष्ट्र के निर्माण के लिए यह अनिवार्य है कि राज्य की जनसंख्या में पाई जाती घोर आर्थिक असमानताओं को समाप्त किया जाए और धन उत्पादन के साधन कुछेक व्यक्तियों के हाथों में केंन्द्रित न होने दिए जाएं और सामान्य लोग अपने जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकें ये सभी कुछ तभी सम्भव हो सकता है यदि राज्य के द्वारा उचित आर्थिक प्रणाली का चयन किया जाए। आर्थिक प्रणाली का पूंजीवादी या समाजवादी होना कोई अनिवार्य नहीं है बल्कि आर्थिक प्रणाली तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार होनी चाहिए। इस प्रकार राज्य राष्ट्र निर्माण के कार्य में उचित आर्थिक प्रणाली का चयन करके महत्वपूर्ण भूमिका अभिनीत करता है।

निष्कर्ष
(Conclusion)

सैद्धातिंक पक्ष में यह स्वीकार किया जाता है कि समान नस्ल, समान भाषा, समान धर्म, समान इतिहास, समान संस्कृति आदि राष्ट्र के महत्वपूर्ण निर्माणकारी तत्व है। परन्तु आधुनिक समय में इन तत्वों का महत्व उतना अधिक नहीं रहा है जितना की बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से पूर्व माना जाता था। अब तो राष्ट्र निर्माता पर्याप्त सीमा तक राज्य की भूमिका पर निर्भर करता है। समान नस्ल, समान भाषा या समान संस्कृति न होते हुए भी राज्य अपने क्षेत्र में रहती हुई जनसंख्या में अनेक साधनों के द्वारा राष्ट्रीय भावना को विकसित कर सकता है। यदि वर्तमान समय में राष्ट्रीय राज्य अस्तित्व में है और एक राज्य में रहती हुई विभिन्न राष्ट्रीयताओं या विभिन्न जातियों एवं नस्लों के लोग एक राष्ट्र के रूप में रह रहे हैं तो इसका श्रेय अवश्य ही राज्य की उस सर्वपक्षीय भूमिका को है, जो भूमिका राष्ट्र-निर्माण के लिए आधुनिक युग में प्रत्येक राज्य अभिनीत करता है।

अध्याय-15
स्वतंत्र भारत में राज्यः निरंतरता एवं परिवर्तन
(State in Independent India: Continuity and Change)

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान विकसित राजनीतिक दर्शन के परिणामस्वरूप भारत में स्वतंत्रता के पश्चात एक लोकतांत्रिक कल्याणकारी राज्य की स्थापना की गई। यह नया राज्य गांधीवादी आदर्शों से भिन्न नेहरूवादी उद्देश्यों का प्रतीक था जिसका उद्देश्य औद्योगीकरण, शहरीकरण और संसदीय लांकतंत्र पर आधारित एक नए राष्ट्रीय समाज का निर्माण करना था। यह राज्य की एक अनोखी परिकल्पना थी जिसमें समाजवाद के आदर्श को संसदीय लोकतंत्र के ढांचे में संजोने का प्रयास किया गया था। संविधान निर्माताओं ने संविधान बनाते समय जिन आदर्शों को सामने रखा, उनके अनुसार भारतीय संविधा का मुख्य लक्ष्य एक ऐसे राज्य की स्थापना थ ाजो शांत सामाजिक क्रांति का माध्यम बन सके, मौलिक अधिकारों और स्वतंत्रताओं का संरक्षण करते हुए सामाजिक न्याय और जन कल्याण की प्रतिस्थापना कर सके तथा प्रत्येक भारतीय को उसकी क्षमता के अनुकूल विकास के लिए भरसक अवसर प्रदान कर सके। इस स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राज्य द्वारा नई राजनीतिक संस्थाओं के माध्यम से एक प्राचीन समाज को लोकतांत्रिक आधार पर पुनर्गठित करने का प्रयास भी किया गया। यह प्राचीन समाज सामंतवादी, जातीय, जनजातीय एवं पंथगत निष्ठाओं व क्रमबद्धता से परिपूर्ण था जबकि नवीन राज्यतंत्र लोकतंत्र, उदारवाद, गणतंत्रवाद, संविधानवाद, समाजवाद और समतावाद पर आधारित था। राज्य का अस्तित्व संसदीय राज्य-व्यवस्था के अभिन्न अंगों- सर्वोच्च व्यवस्थापिका, उत्तरदायी कार्यपालिका, तथा स्वतंत्र न्यायपालिका के अतिरिक्त निर्वाचित राष्ट्रपति और न्यायिक पुनरीक्षण में संस्थाबद्ध हुआ। इसके अलावा संविधानिक अधिकारों के अस्तित्वें, समयबद्ध लोकप्रिय चुनावों की अनिवार्यता, संघीय शक्ति विभाजन, जन-संप्रभुता, जनमत के महत्त्व, लोक प्रशासनिक कुशलता तथा निष्पक्षता के अभिक्रम एवं दलीय हितसमूहीकरण इत्यादि में क्रियात्मक तौर पर अथवा व्यवहार में प्रतिफल हुआ।

उदारवादी पाश्चात्य संविधानों की तरह भारतीय संविधा धर्म, नस्ल, जाति, लिंग तथा जन्मस्थान के भेदभाव के बिना मूल स्वतंत्रता के संरक्षण की गारंटी प्रदान करता है। इनमें कोई भी व्यवसाय अपनाने की स्वतंत्रता भी सम्मिलित है। अस्प श्यता को समाप्त कर दिया गया है और चौदह वर्ष तक के बच्चों के लिए निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान भी रखा गया है। यह बात अलग है कि इस लक्ष्य की प्राप्ति के समय निरंतर बढ़ाया जाता रहा है। सामाजिक और आर्थिक धरातल पर संविधान का लक्ष्य और भी व्यापक है जिसके अंतर्गत राज्य सभी नागरिकों के लिए सुरक्षा, पर्याप्त आजीविका के साधन, समान कार्यों के लए समान वेतन और एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का आश्वासन देता है जिसमें राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाएं सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय के सिद्धांतों से निर्देशित होंगी।

प्रस्तावना भारतीय संघ को 'संप्रभु, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक गणराज्य' घोषित करती है जिसके अंतर्गत जनसत्ता की सर्वोच्चता, समाजवादी समाज की न्यायपरक अवस्थिति, गणराज्य के लिए प्रशसंसा व सम्मान और एक तर्कपूर्ण धर्म-सापेक्ष समाज व राज्य के आदर्श अंतर्निहित हैं। परिणामस्वरूप, भारतीय राज्य लोकप्रिय निर्वाचनों के लिए प्रतिबद्ध है और समाजवादी समाज की प्रतिस्थापना के लिए भी। निर्वाचित राष्ट्राध्यक्ष के रूप में गणराज्य की स्थापना भारती की अपनी भविष्य निर्माण की क्षमता का प्रतीक तो है ही, स्वतंत्रता की विशालतम सीमा का और यथार्थ संप्रभुता का भी प्रतीक है।

'समाजवादी' और धर्मनिरपेक्ष' लक्ष्य प्रस्तावना में १९७६ ई. में सम्मिलित किए गए यद्यपि दोनों शब्द पाश्चातय राजनीतिक परंपराओं से ग्रहण किए गए हैं तथापि उनके संप क्तार्थ भारतीय संदर्भ में पूर्णतः मौलिक हो गए हैं। समाजवाद का उद्देश्य भारतीय संदर्भ में लोकतांत्रिक साधनों के प्रयोग और योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था के माध्यम से समाज और साधारण जनता के जीवन स्तर मं एक क्रांतिकारी परिवर्तन लाना एवं गरीबी, जनंसख्या और बेरोजगारी की विशाल समस्याओं का समाधान करना

था। अधिकांश नागरिकों के लिए समाजवादी समाज कोई राजनीतिक व्यवस्था नहीं है, अपितु ऐसे आदर्श समाज की संकल्पना है जिसके सभी सदस्य समान होंगे, नियोजित अर्थव्यवस्था से आर्थि संव द्धि एवं विकास की प्राप्ति होगी जो सभी एक बेहतर जीवन उपलब्ध करा सकेगी। संक्षेप में, सामाजिक समानता, सामाजिक कल्याण और सामाजिक सुरक्षा भारतीय समाजवाद के ध्येय हैं और इससे भी अधिक आकर्षक उसकी लोकतांत्रिक साधनों से प्राप्ति का लक्ष्य है। अतः अधिकांश राजनीतिक दल इस लक्ष्य के प्रति प्रतिबद्ध हैं।

इसी प्रकार, धर्मनिरपेक्ष राज्य की संकल्पना का निहितार्थ भारतीय संदर्भ में सभी धर्मों के समान आदर और समान संरक्षण के साथ-साथ भारतीय समाज को जाति, वर्ण और धर्म के भेदभावों से मुक्त करना है। परिणामस्वरूप धर्मनिरपेक्ष भारत में धार्मिक पर्वों पर सार्वजनिक अवकाश, इन पर्वों में राजनीति नेत त्व की सहभागिता, राज्य द्वारा धार्मिक स्थलों के रख-रखाव और धार्मिक अल्पसंख्यकों को विशेषाधिकार इत्यादि धर्मनिरपेक्षता के ही अभिन्न अंग हैं।

परंतु औपनिवेशिक राज्य के मूलभूत ढांचे में परिवर्तन नहीं किया गया। यद्यपि स्वयं नेहरू ने यह विचार प्रकट किया था कि हमारी अधिकांश समस्याएं ब्रिटिश नीतियों का सीध परिणाम हैं, तो भी स्वातंत्र्योत्तर भारत की संरचना के निर्धारण हेतु जो संविधान बनाया गया, वह मूलतः ब्रिटिश शासन के अधीन पारित कानूनों 1909, 1919 और 1935 ई. के भारत सरकार अधिनियमों द्वारा निर्धारित प्रतिनिध्यिात्मक संसदीय सरकार के ढांचे पर ही आधारित था। यहा तक की भारतीय संविधान को १६३५ ई. के अधिनियम का ब्लू-प्रिंट भी कहा गया है। इस प्रकार स्वतंत्र भारत की मूलभूत संरचना उसे औपनिवेशिक मानसिकता से नहीं निकाल सकी जो एक स्वतंत्र भारतीय राष्ट्र की सत्ता के निर्माण में सबसे बड़ी बाधा थी। परिणाम यह हुआ कि सतही तौर पर राज्य तो लोकतांत्रिक बन गया क्यांकि शासकों का चुनाव सर्ववयस्क मताधिकार पर आधारित हो गया परंतु प्रशासन अधिकांशतः वही सर्वाधिकारवादी और औपनिवेशिक ही रहा क्योंकि उनके चयन तरीकों और आधारभूत मूल्यों व मान दंडों में कोई खास परिवर्तन नहीं आया। इस प्रकार जो संविधान बना उसके विषय में मैल्काम हास तो यहां तक कहते हैं कि 'प्रस्तावना से अभिसूचियों तक भारतीय संविधान अपनी लोकतांत्रिक आत्मा में ब्रिटिश है। यह बात अतिशयोक्ति भी हो तो भी यह सत्य है कि भारतीय संविधान के अनेक प्रावधान जैसे निर्वाचित संसद, विधि का शासन, राजनीतिक दलों का गठन, मौलिक अधिकार, कुशल व निष्पक्ष लोक प्रशासन, पुलिस, अर्धसैनिक बल व सेना की बढ़ती हुई भूमिका, धर्म, संप्रदाय, भाषा व न जातीय विविधता का सम्मान व संरक्षण, केंद्रीय विशेषाधिकारों से युक्त संघीय व्यवस्था इत्यादि पाश्चात्य उदारवादी राजनीतिक परंपराओं तथा ब्रिटिश औपनिवेशिक राज्य के अन्तर्गत विकसित ढांचे का मिश्रण है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि ब्रिटिश औपनिवेशिक राज्य अपने पूर्ववर्ती मुगल राज्य की तरह परंपरागत सीमित अथवा परिधि पर टिका हुआ राज्य नहीं था क्योंकि ऐसा आधुनिक संप्रभु राज्य के मूल सिद्धांतों और औपनिवेशिक राजनीतिक अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी असुविधाजनक था। अतः सर्वाधिकारवादी सत्ता की स्थापना के साथ इस राज्य भी भूमिका में तीन उल्लेखनीय परिवर्तन आए थेः प्रथम, भारतीय राजनीतिक शब्दावली में एक नए तार्किक गैर-परंगपरागत विश्व और समाज का प्रवेश हुआ, जो जनगणना, सर्वे और विधायन इत्यादि के माध्यम से व्यक्ति और समाज की नई परिभाषाओं पर आधारित था और राज्य इस नए विश्व का मार्गदर्शक और उसकी स्थापना में सक्षम उच्चतम सत्ता का स्वामी था। द्वितीय, राज्य सुधारों का अग्रदूत बन गया। ये सुधार समाज के वैयक्तिक संबंधों में उल्लेखनीय परिवर्तनों मात्र तक ही सीमित नहीं थे। अपितु इस सिद्धांत के संथापक थे कि राज्य को यह सब करने की सत्ता प्राप्त है। यह एक ऐसा सिद्धान्त था जिसका भारतीय सामाजिक इतिहास में कोई स्थान नहीं था और त तीय, जब राष्ट्रवादी आन्दोलन मजबूत हुआ तो इस राज्य ने उस राष्ट्रीय एकबद्धता को तोड़ने के लिए नए-नए राजनीतिक नैतिकता के सिद्धान्तों का आविष्कार किया जिनमें धार्मिक समुदायों और अल्पसंख्यकों के हितों के प्रति विशेष चिंता, सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व और फिर विभाजन की अनिवार्यता के निष्कर्ष सम्मिलित थे। यह सिद्धांत भी प्रतिस्थापित किया गया कि उदार संविधानवाद में भी धार्मिक समुदायों का सह-अस्तित्व संभव नहीं था तथा सामाजिक व धार्मिक विविधता की समस्याओं का एकमात्र समाधान लोकतंत्र अथवा संघवाद नहीं बल्कि प थक्करण व विभाजन था।

इस प्रकार भारत में आधुनिक उदारवादी राज्य का प्रवेश एक औपनिवेशिक राज्य सयंत्र के रूप में हुआ जिसकी अपनी सीमाएं व दुर्बलताएं थीं। परोपकार, प्रतिनिधित्व, अच्छे शासन, सामान्य भलाई जैसी शब्दवाली के बावजूद यह औपनिवेशिक राज्य

संस्थाओं और क्रियाओं के क्षेत्र में बहुत संकीर्ण था क्योंकि उसका कार्य-क्षेत्र औपनिवेशिक व्यवस्था को बनाए रखने तथा अधिकाधिक लाभांश की प्राप्ति तक ही सीमित था। इन्हीं की सुरक्षा के लिए सार्वजनिक जीवन में जिन अनेक अवधारणाओं का प्रवेश हुआ वे राष्ट्रवादियों के लिए आकर्षक युद्ध सामग्री तो बन गई, आंशिक तौर पर राजनीतिक व्यवहार का आधार भी बनीं परन्तु भारतीय राजनीति की संरचना में मूलभूत कमियों का कारण बन गईं।

सार्वजनिक सत्ता, उत्तरदायित्व, नागरिकता, लोकतांत्रिक शासन, विधायी तौर पर प्रतिबंधित सत्ता, जन-संप्रभुता इत्यादि शब्द व अवधारणाएं सामान्य भारतीय मतदाता की समझ से बाहर रहे जो इन सबका केंद्र बिंदु था। और जिसके नाम पर स्वतंत्र्योत्तर भारतीय संविधान में इन अवधारणाओं को जन-संप्रभुता और प्रतिनिधि शासन संस्थाओं के रूप में अंगीकृत किया गया। परिणामस्वरूप भारत में लोकतांत्रिक संस्थाओं के आधार के रूप में उस ऐतिहासिक समझ व तैयारी का अभाव रहा जिससे राजनीतिक बहस के माध्यम से आम भारतीय की भाषा में यह बात स्पष्ट की जाती कि राज्य की गणतांत्रिक, लोकतांत्रीय, धर्मनिरपेक्ष, सत्ता-संरचना अन्य राजनीतिक संरचनाओं से किस तरह श्रेष्ठतर है। इस बहस और स्पष्टीकरण के अभाव में भारतीय जन-मानस यह भी नहीं समझ पाया कि संविधान में अंगीकृत इन आदर्शों को जिस प्रकार नव-स्वतंत्र भारत के नेत त्व ने औपनिवेशिक प्रशासनिक व विधायी संयंत्रों के माध्यम से क्रियान्वित करने का प्रयास किया, उस मार्ग से उनकी प्राप्ति संभव नहीं थी। यह स्वाभाविक था क्योंकि भारतीय संविधान निर्माता वस्तुतः भारत की मात्र १४.३ प्रतिशत वयस्क जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधि थे। परिणामस्वरूप, सदीप्तो कविराज आशोक लोकतांत्रिक राज्य की मूल संरचना अभी तक औपनिवेशिक ही है।

इसी प्रकार डी. ए. रस्टोव, रिचर्ड पार्क और इरेन टिंकार, मैल्काम हास के. एम. पनिक्कर, मारिस-जोंस, माइरन वीनर इत्यादि अनेक विद्वानों ने भारत की नई राजनीतिक संस्थाओं को ब्रिटिश विरासत या मोटे तौर पर पाश्चात्य प्रभाव के रूप में विश्लेषित करने का प्रयास किया है। जबकि रूडोल्फ और रूडोल्फ, तथा बारबरा वार्ड इत्यादि के अनुसार यह संस्थागत ढांचा ब्रिटिश विरासत और पारंपरिक भारतीय विरासत का सम्मिश्रण है। ऊपरी तौर पर या प्रथम द ष्टि से यह बात सत्य भी प्रतीत होती है कि भारत ने संसदीय व्यवस्था के रूप में ब्रिटिश वेस्टमिंस्टर माडल (Westminster Model) के अंतर्गत प्रतियोगी राजनीतिक दलीय व्यवस्था, संसदीय चुनाव, सर्ववयस्क मताधिकार, स्वतंत्र न्यायपालिका, निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा नियंत्रित राजनीति-निरपेक्ष सेना, पुलिस, अर्धसैनिक बल व लोक-प्रशासन, एक स्वतंत्र प्रेस और हित-समूहों के निर्माण की स्वतंत्रता (जैसे श्रमिक-संगठन, कृषक-संगठन व जाति-संघ) व सांविधानिक सीमाओं इत्यादि को अपनाया। परंतु उसके साथ-साथ भारत के महाद्वीपीय आकार को ध्यान में रखते हुए रूस और अमरीका के अनुभवों को मिलाकर एक संघीय व्यवस्था भी अपनाई गई। इस प्रकार गणतंत्रवाद, लोकतांत्रिक समाजवाद, मिश्रित अर्थव्यवस्था, केंद्रीय नियोजन और सर्वधर्म समभाव की प्रतीक धर्मनिरपेक्षता इस राजनीतिक संरचना के निदेशक तत्वों के रूप में प्रतिस्थापित हुए। यद्यपि सभी किसी न किसी रूप में पाश्चात्य राजनीतिक परंपरा की देन थे, फिर भी बड़ी सीमा तक उनका भारतीयकरण हो गया है और इसी में उनकी सार्थकता और प्रासंगिकता नीहित है।

वास्तव में संस्थाएं और संकल्पनाएं ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपज तो होती ही हैं, निरंतर चलने वाली ऐतिहासिक प्रक्रिया का अभिन्न अंग भी होती हैं। अतः उनका विकास व समकालीन स्वरूप अधिकांशतः सामाजिक संबंधों, नेत त्व की क्षमता, राजनीतिक व्यवस्था, विचारधारा के प्रभाव व आर्थिक विकास की प्रक्रिया द्वारा निर्धारित होता है। राज्य का स्वरूप भी केवल संस्थाओं के स्वरूप से निर्धारित नहीं होता बल्कि उन संस्थाओं के व्यावहारिक कार्यान्वयन से निर्धारित होता है जिसमें इन प्रश्नों के विश्लेषण आवश्यक हैं कि उन संस्थाओं में नीहित सत्ता या शक्ति का प्रयोग कौन करता है, कैसे करता है और किस के लिए करता है?

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राज्य के स्वरूप और प्रकृति के समग्र विश्लेषण के लिए इस राज्य के अंगभूत प्रमुख राजनीतिक संस्थाओं का भारतीय संदर्भ में प्रकार्यात्मक अध्ययनल व विश्लेषण आवश्यक है।

संसद

भारत की नई राजनीतिक संस्थाओं में सर्वाधिक सफल और उल्लेखनीय संस्था संसद (Parliament) है। अनेक विद्वान इसे प्राचीन ग्राम पंचायतों का ही आधुनिक प्रतिरूप सिद्ध कर सकते हैं, तथापि अपने वर्तमान स्वरूप में संसद कहीं अधिक

लोकतंत्रात्मक, प्रतिनिध्यिात्मक, विशाल बहु-आयमी और बहुप्रकार्यात्मक संस्था है। यह वास्तव में ब्रिटिश काल में आरंभ की गई विधिनिर्मात्री संस्थाओं का ही अधिक प्रतिनिध्यिात्मक और लोकतांत्रिक प्रतिरूप है। नेहरूप काल में संसद एक सम्मानित और प्रभावी संस्था के रूप में उभरी जो अधिकांश अपेक्षित कार्य करने में समक्षम थी, जैसी विधि-निर्माण, सरकारी नीति की आलोचना अथवा सुरक्षा, प्रशासकीय कार्य-संपादन का निरीक्षण, जन-प्रतिनिधित्व और सर्वाधिक महत्वपूर्ण सरकारी नीतियों व क्रियाओं को जनमत के सम्मुख रखते हुए सरकार को उत्तरदायी बनाए रखना आदि। प्रारंभिक युग में भारतीय संसद यह भूमिका निभाने में सफल रही क्योंकि संसद सदस्य पहले राष्ट्रीय आंदोलन के नेता रहे थे और उस दौरान पर्याप्त राजनीतिक और वैधानिक अनुभव प्राप्त कर चुके थे। उनमें से अनेक वकील थे। अतः प्रक्रियात्मक ज्ञान, भाषा और वाद-विवाद की क्षमता रखते थे।

परिणामस्वरूप, स्वतंत्रता के पश्चात के प्रारंभिक वर्षों में भारतीय संसद वाद-विवाद, प्रतिबद्धता और सार्वजनिक उत्तरदायित्व के उच्च मापदंड स्थापित करने में प्रभावशाली भूमिका निभा सकी। नेहरूप युग के दौरान ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जब एक दलीय प्रभुत्व के बावजूद संसद ने कार्यपालिका को गलत निर्णय वापस लेने पर विवश किया, जैसे 1956 ई. का मूंदड़ा घोटाला, 1962 ई. का वी.ओ.ए. सौदा तथा 1962 ई. में ही भारत-चीन युद्ध के समय संबद्ध मंत्री द्वारा त्यागपत्र। उसके पश्चात लालबहादुर शास्त्री ने भी संसदीय गरिमा को बनाए रखने का सफल प्रयास किया परंतु उनका कार्यकाल बहुत छोटा रहा। ये दोनों नेता भी स्वस्थ संसदीय परंपराओं को मजबूत करने में असफल रहे और उसके पश्चात निरंतर संसदीय शक्ति व क्षमता का ह्रास हुआ और कार्यपालिका के अधिकारों में उत्तरोत्तर व द्धि हुई।

1978 ई. में हीरेन मुकर्जी ने यह विचार व्यक्त किया कि ऐसा प्रतीत होता है कि सरकार को संसदीय उत्तरदायित्व से निश्चित ऐलर्जी है तथा वह संसद की भूमिका को सीमित करना चाहतती है। परिणामतः पिछले दो-तीन दशकों में संसद की वार्षिक कार्य-अवधि में मात्रात्मक कमी आई है, वाद-विवाद का स्तर गिरा है, कार्य-प्रणाली के तौर-तरीकों में सरकारी अधिनायकवाद बढ़ा है, अध्यादेशों की संख्या बढ़ी है और संसदीय पदाधिकारियों जैसे अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, सभापति इत्यादि का राजनीतिकरण व दलीय चरित्र उभर कर आया है।

अध्यादेशों की बढ़ती हुई संख्या और सामान्य काल में उनके अवसर प्रयोग ने संसद को 'पुष्टि' करने वाली संस्था के स्तर तक पहुंचा दिया। इंदिरा गांधी के काल में इस प्रव त्ति ने सर्वाधिक त्वरित गति प्राप्त की और संसद को केंद्रीय स्थिति से हटा कर उसकी अधिकांश शक्तियों को कार्यपालिका द्वारा हस्तगत कर लिया गया। वस्तुस्थिति यह हो गई कि सिद्धांततः मंत्रिमंडल संसद की मर्जी तक सत्तारूढ़ रह सकता है परंतु व्यवहार में मंत्रिमंडल ने संसद के काम और उसके अधिकाधिक अधिकार हथिया लिए। यहां तक कि हेनरी हार्ट के शब्दों में मंत्रिमंडल का स्थान प्रधानमंत्री की तानाशाही ने ले लिया क्योंकि उन्होंने मंत्रिमंडल तथा संसद दोनों के अधिकार हथिया लिए। नेहरू ने यह काम चतुराई से किया और इंदिरा गांधी ने स्पष्ट रूप से। फलतः संसदीय लोकतंत्र का स्थान भीड़रंजन की राजनीति (Populistic Politics) लेती जा रही है। अब मिली-जुली/संविदा सरकारों के समय में अस्थिरता बढ़ी है, महत्वपूर्ण मसलों पर बहस से बचने तथा लोकरंजन विषयों पर अधिकाधिक समय लगाने की प्रव त्ति बढ़ती जा रही है। स्पष्टतः हमारी संसदीय कार्यप्रणाली में सुधार की आवश्यकता है। संसदीय समिति-प्रणाली को अपनाए जाने का निर्णय इस दिशा में सही कदम है, एक स्वस्थ व मजबूत विपक्ष भी संसद को मजबूत आधार प्रदान कर सकता है।

दलाली प्रणाली

संसदीय परंपरा के अनुरूप ही एक प्रतियोगी दलीय व्यवस्था भी स्वतंत्र भारतीय राज्य में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। यद्यपि यह संविधानिक संस्था नहीं है तो भी संविधान के अंतर्गत गारंटीशुदा स्वतंत्रताओं में संघ अथवा संस्था निर्माण की स्वतंत्रता ही इस व्यवस्था का आधार है और उसके बने रहने की आवश्यक पूर्वदशा भी। माइरन वीनर जैसे विचारकों का मत है कि राजनीतिक दल यद्यपि अंग्रेजों द्वारा प्रारंभ की गई संस्थाओं जैसे सेना, नौकरशाही, न्यायालय, विधि व्यवस्था, और चुनाव इत्यादि द्वारा प्रभावित अवश्य हुए, परंतु वस्तुतः वे स्थानीय प्रक्रियाओं की ही उपज थे, विदेशी प्रत्यारोपण की नहीं। एक संक्षिप्त अवधि (1975-77) को छोड़कर अधिकांश स्वातंत्र्योत्तर काल में भारत को सिद्धांततः एक बहुदलीय व्यवस्था से युक्त संसदीय राज्य कहा जा सकता है। परंतु व्यवहार में यह एक अनूठी दलीय व्यवस्था, कांग्रेस व्यवस्था इत्यादि कहा है।

इस व्यवस्था के अनेक कारणों में कांग्रेस की राष्ट्रीय आंदोलन के साथ पहचान, उसकी ऐतिहासिक भूमिका, उसका अखिल भारतीय संगठन व छवि, चमत्कारी नेत त्व, शासन या सरकार के साथ उसका अभिज्ञान, उसका सर्वग्राही स्वरूप इतयादि हैं। ऐसा नहीं है कि कांग्रेस के प्रभुत्व ने भारत में लोकतंत्र के कार्यान्वरून को स्थगित अथवा संकटग्रस्त कर दिया हो, परंतु उसे कुछ दुर्बल व कम उत्तरदायी अवश्य कर दिया और उसका दूरगामी परिणाम यह है कि लगभग 50 वर्षों के लोकतांत्रिक अनुभव के पश्चात भी भारत में एक द्विदलीय व्यवस्था या वैकल्पिक शासन पर आधारित स्वस्थ दलीय व्यवस्था नहीं उभर सकी है जो प्रतिनिधि संस्थाओं का बलशाली बनाती तथा शासन को अधिक वैध और उत्तरदायी भी बना पाती।

फिर भी भारतीय संसदीय लोकतंत्र की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि यही कही जा सकती है कि राजनीतिक दल (जो संसदीय प्रणाली के भवन का आधार स्तंभ कहे जाते हैं) राजनीतिक सत्ता के लिए संघर्ष करते हैं। कांग्रेस का अखिल भारतीय संस्थागत स्वरूप इस दलीय व्यवस्था का महत्वपूर्ण आधार था, परंतु समय के साथ-साथ उसमें परिवर्तन आया है जिसने राजनीतिक दलों की प्रकृति और दलीय व्यवस्था के स्वरूप को भी प्रभावित किया है। लोकतांत्रिक प्रक्रिया के विस्तार के फलस्वरूप उत्पन्न व विकसित नई संकीर्ण निष्ठाओं व भावनाओं ने दलीय व्यवस्था को नए आयाम प्रदान किए हैं और स्वतंत्र्योत्तर भारतीय राज्य को अधिक व्यापक लोकतांत्रिक आधार प्रदान किया है।

विपक्ष

एक संसंगठित और जागरूक व उत्तरदायी विपक्ष संसदीय लोकतंत्र के अस्तित्व का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रतीक है। ऐसा विपक्ष सरकार के अहितकर कार्यों का विरोध करता है, उसकी त्रुटियों और भ्रष्टाचार के मामलों को प्रकाश में लाता है, सरकार के कार्यों पर निगरानी रख उसे उत्तरदायी बनाता है और अंततः एक बेहतर कार्यक्रम व नेत त्व के माध्यम से जनता के सम्मुख विकल्प प्रस्तुत करता है। स्वतंत्र्योत्तर भारतीय लोकतंत्र और संसदीय शासन-तंत्र का एक चिंताजनक पहलू यह रहा है कि यहां प्रारंभिक अनेक वर्षों में विपक्ष एक सक्षम विकल्प प्रस्तुत करने में असमर्थ रहा। एक ओर तो कांग्रेस के लोकतांत्रिक चरित्र में निरंतर ह्रास के बावजूद सत्ता पर उसका प्रभुत्व कायम रहा है, वहीं दूसरी ओर विपक्षी दल अनेक हैं तथा परस्पर विभाजित हैं उनके आंतरिक तथा बाह्य मुद्दों पर मतभेद इतने गहन हैं कि वे कांग्रेस का विकल्प नहीं बन पाए हैं और न ही आम जनता का विश्वास जीत पाए हैं। इस स्थिति के चलते सत्ताधारी दल के निरंकुश बनने की संभावना रहती है और विपक्षी दल अनुत्तरदायी आलोचना और वाक्-चातुर्य में संलिप्त रहते हैं

विपक्षती दलों की संगठनात्मक कमजोरी के कारण सैद्धांतिक और विचारधारात्मक कम तथा अहंवादी अधिक हैं। अवसरवाद, सदस्यों की अस्थिर निष्ठाएं और दल-बदल विपक्षी दलों को कमजोर बनाए रखने में सहायक सिद्ध हुए हैं। परंतु वास्तव में योजनाबद्ध कार्यक्रमों, लोकप्रियता, कुशल नेत त्व और परस्पर सहनशीलता का अभाव ही विपक्ष की दुर्बलता के मुख्य कारण हैं। कांग्रेस की राष्ट्रीय आंदोलन और शासक दल की छवि ने भी इस दिशा में उल्लेखनीय भूमिका निभाई है। परिणामतः अधिकांश विपक्षी दल क्षेत्रीय दबाव-समूहों के रूप में ही कार्य कर पाते हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से अब तक केवल दो बार ही 1969-70 ई. और 1991-96 ई. की लोकसभा में कोई गैर-कांग्रेसी दल कानूनी तौर पर विपक्षी दल का दर्जा प्राप्त कर सका है।

उपर्युक्त परिस्थितियों के कारण न केवल संसदीय गरिमा प्रभावित हुई है। बल्कि विपक्षी दलों की छवि भी अच्छी नहीं रह सकी और स्वतंत्रता के प्रारंभिक पंद्रह वर्षों में लघु एवं अल्पसंख्यक विपक्ष को तत्कालीन प्रधानमंत्री से सम्मान तथा मान्यता मिली और विपक्षी ने भी संसदीय परंपराओं के विकास में अपना पूर्ण योगदान दिया। परंतु उसके पश्चात विरोधी शासक दल के सदस्यों की स्थिति, भूमिका तथा विचारों में ह्रास हुआ है, जिसके परिणामस्वरूप संसद की वैधता और प्रभावोत्पादकता भी प्रभावित हुई है। किंतु तत्कालीन परिवर्तनों से फिर यह आशा बंधती है कि इन निराशावादी परिस्थितियों में से एक उत्तरदायी दल-प्रणाली का उदय हो सकता है।

सर्ववयस्क मताधिकार तथा चुनाव

सर्ववयस्क मताधिकार पर आधारित चुनावों व चुनाव प्रक्रिया को लोकतंत्र का आधार स्तंभ माना जाता है। भारत में ब्रिटिश शासन के दौरान अप्रत्यक्ष (1909 ई.) और फिर आंशिक तौर पर विस्त त मताधिकार (1819-1935ई.) के आधार पर चुनावों का

अनुभव हुआ जिसे स्वतंत्रता के पश्चात पूर्णतः प्रत्यक्ष व सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार पर आधारित कर दिया गया इस प्रकार, भारतीय नागरिकों का एक ही समय पर बिना किसी भेदभव के यह अधिकार प्राप्त हो गया जिसके लिए पाश्चात्य राष्ट्रों ने सैकड़ों वर्षों तक संघर्ष किए। यह समझा गया था कि वोट के उपयोग से साधारण जनता में चेतना उत्पन्न की जा सकेगी और ग्रामीण स्तर से आरंभ करके संस्थापक परिवर्तन किया जा सकेंगे। इससे शांतिपूर्ण सामाजिक व आर्थिक परिवर्तन संभव हो सकेंगे।

भारतीय संदर्भ में चुनावों का महत्व इस द ष्टि से अधिक उल्लेखनीय है कि भारतीय जनता, गरीबी और अशिक्षा के बावजूद बड़े उत्साह से चुनावों में भाग लेती है। केंद्रीय संसद के निम्न सदन यानी लोकसभा और राज्य विधानमंडलों के निम्न सदनों अर्थात विधान सभाओं के चुनाव प्रत्येक पांच वर्ष के पश्चात अथवा उससे पूर्व भी प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा किए जाते हैं। जबकि राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति तथा केंद्रीय व राजय व्यवस्थापिकाओं के उच्च सदनों, क्रमशः राज्य सभा व विधान परिषदों के चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से होते हैं। इन चुनावों का संपूर्ण उत्तरदायित्व चुनाव आयोग को सौंपा गया है जिसमें मुख्य चुनाव आयुक्त व अन्य आयुक्त राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। मुख्य चुनाव आयुक्त की निष्पक्षता व स्वतंत्रता बनाए रखने के लिए उसे हटाने का तरीका वही रखा गया है जो उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के लिए है, अर्थात, संसद के दोनों सदन दो-तिहाई बहुमत से इस आशय का प्रस्ताव पास करते हुए राष्ट्रपति से निवेदन करें।

चुनावों के निरीक्षण, निर्देशन और नियंत्रण की शक्तियां चुनाव आयोग में निहित हैं। उसे देश में स्वतंत्र व निष्पक्ष चुनाव करवाने के लिए संविधान द्वारा उत्तरदायी ठहराया गया है। अतः उसे मतदाता-सूची तैयार करवाने, चुनावों के संचालन, राजनीतिक दलों को मान्यता देने, उन्हें व निर्दलीय उम्मीदवारों को चुनाव-चिन्ह प्रदान करने, चुनावों की व्यवस्था हेतु उचित नियम निर्धारित करने, सदस्यों की अयेग्यता अथवा अन्य किसी चुनाव संबंधी विवाद पर निर्णय देने के अधिकार दिए गए हैं। हाल ही में अध्यादेश को सर्वोच्च न्यायालय में दी गई चुनौती और तत्पश्चात इस आशय के विधेयक का संसदीय द्वारा पुष्टि जैसी घटनाओं से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि चुनाव आयोग का संस्थाकरण और कार्यपालिका से उसके संबंधों का निर्णय अभी पूरी तरह से नहीं हो पाया है।

नौकरशाही अथवा प्रशासनिक सेवाएं

ब्रिटिश विरासत में मिली राजनीतिक संस्थाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रशासनिक अर्थात लोक सेवाएं थीं। ब्रिटिश उपनिवेशवाद के दौरान उनका लक्ष्य कानून और व्यवस्था की स्थापना, औपनिवेशिक ढांचे का सुद ढ़ीकरण और अधिकृत क्षेत्रों पर अपनी शक्ति का विस्तार करना था। उपर्युक्त भूमिका के कारण भारतीय सामान्य जन के हृदय में उनके लिए कोई सम्मान न था अपितु संदेह, आशंका और विरोध की भावनाएं थीं।

स्वतंत्रता के पश्चात भारत में नए लक्ष्य और आदर्श अपनाए गए। अतः नई सामाजिक और आर्थिक आवश्यकताएं उत्पन्न हुईं, परंतु स्वतंत्र भारत की संविधान सभा एवं सरकार ने उस प्रशासनिक व्यवस्था को कायम रखते हुए केवल उसके नाम में परिवर्तन कर दिया। जो प्रशासनिक तंत्र पहले भारतीय नागरिक सेवा (Indian Civil Service) के नाम से जाना जाता था वही भारतीय प्रशासनिक सेवा (Indian Administrative Service) के नाम से जाना जाने लगा। इन सेवाओं का वर्गीकरण भी प्रायः वही रहा, अर्थात अखिल भारतीय सेवाएं, केंद्रीय सेवाएं और राज्य सेवाएं। उनकी भर्ती का तरीका भी लगभग वही रहा, अर्थाति प्रतियोगी लिखित परीक्षा व साक्षात्कार या व्यक्तिगत परीक्षा। परंतु भर्ती करने वाली संस्थाएं अवश्य बदल गईं। इस प्रयोजन के लिए भारतीय संविधान में ही केंद्र व राज्यों के लिए अलग-अलग लोकसेवा आयोगों की व्यवस्था की गई है जिन्हें 'संघ लोक सेवा आयोग' और 'राज्य लोकसेवा आयोग' के नाम से जाना जाता है। इनकी नियुक्ति क्रमशः राष्ट्रपति व राज्यपाल द्वारा की जाती है तथा इनका प्रमुख कार्य सक्षम, ईमानदार व परिश्रमी व्यक्तियों का प्रशासनिक पदों के लिए चयन करना है। लोक सेवा आयोगों को यह कर्तव्य भी सौंपा गया है कि वे अपने काम के विषय तथा सेवाओं में सुधार के विषय में अपने सुझाव राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल को प्रतिवर्ष रिपोर्ट के रूप में भेजें।

ब्रिटिश सेवाओं की भांति ही भारतीय प्रशासनिक सेवाओं से भी विशिष्ट प्रशासकीय योग्यता, स्थायित्व, राजनीतिक तटस्थता अथवा निष्पक्षता, अनुशासन भावना व पद-सोपान या क्रमबद्धता की अपेक्षा रखी गई है तथा उन्हें नीति-निर्माण, नीति-क्रियान्यन,

प्रदत्त व्यवस्थापन, प्रशासनिक संचालन व समन्वय तथा बजट-निर्माण के कार्य सौंपते हुए उन्हें भारतीय विकास प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की गई है। परंतु भारतीय प्रशासन के अधिकांश अधिकारी भी यह स्वीकार करते हैं कि प्रशासन स्वयं को लोकतांत्रिक विकास के लिए अपेक्षित भूमिका में नहीं ढाल पाया है तथा राष्ट्र और विकास के लक्ष्यों के प्रति प्रतिबद्धता के स्थान पर सत्ता के दुरूपयोग और भ्रष्टाचार में व द्धि हुई है।

मंत्रीमंडलीय शासन प्रणाली

ब्रिटिश संसदीय व्यवस्था के प्रतिरूप को अपनाते हुए, कार्यपालिका के धरातल पर, भारत में मंत्रिमंडलीय प्रणाली को अपनाया गया है जो प्रधानमंत्री व केंद्रीय मंत्रिपरिषद तथा राज्यों में राज्यपाल, मुख्यमंत्री व उनकी मंत्रिपरिषद के रूप में स्थापित हुई राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान नेहरू रिपोर्ट और सप्रू रिपोर्ट इत्यादि के माध्यम से इस विषय पर सहमति बनाई जा चुकी थी। केवल कुछ परिवर्तन जैसे अप्रत्यक्ष रूप से चुने गए राष्ट्रपति का पद, केन्द्र में अप्रत्यक्ष रूप से चुने गए उच्च सदन, राज्यों के लिए समानांतर सरकारों का निर्माण और वहां मनोनीत राज्यपालों की व्यवस्था इत्यादि किए गए। ये विशिष्ट भारतीय परिस्थितियों, जैसे राजतंत्र और सामंतवादी व्यवस्था का उन्मूलन तथा भारत में संघीय प्रणाली का चयन व संस्थापन इत्यादि के परिणाम थे।

मंत्रिमंडलीय प्रणाली की परंपरागत विशेषताएं, प्रधानमंत्री की समान स्थिति वालों के बीच प्रथम की स्थिति, सामूहिक तथा व्यक्तिगत उत्तरदायित्व, कार्यपालिका व विधानपालिका में घनिष्ठ संबंध, राजनीतिक एकरूपता (Political homogeneity), गोपनीयता, प्रधानमंत्री का नेत त्व, कार्यपालिका की अस्थिरता इत्यादि हैं, जो भारत में भी काफी समय तक प्रदर्शित हैं। परंतु भारत में इस प्रणाली का स्वरूप अधिकांशतः प्रमुख पदों जैसे राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, राज्यपाल और मुख्यमंत्री आदि पर आसीन व्यक्तियों के व्यक्तित्व, भूमिका और उने आपसी संबंधों द्वारा अधिक निर्धारित हुआ है। साथ ही, व्यावहारिक राजनीतिक और वास्तविक सामाजिक-आर्थिक प्रक्रिया ने भी इन संस्थाओं को प्रभावित किया है। समय के साथ जिस प्रकार इन संस्थाओं का विकास हुआ है। उससे अधिकांश राजनीतिक विश्लेषकों का यह मत है कि अधिकांश संसदीय व्यवस्थाओं की भांति ही भारत में भी प्रधानमंत्री की भूमिका व शक्तियों का अत्यधिक विस्तार हुआ है। परिणामस्वरूप संसदीय अथवा मंत्रिमंडलीय व्यवस्था के स्थान पर प्रधानमंत्रीय प्रणाली का विकास हो रहा है।

न्यायपालिका और विधि

भारतीय संविधान निर्माताओं ने संघीय ढांचे और दोहरी राजनीतिक व्यवस्था के बावजूद एकीकृत न्यायपालिका के सिद्धांत को अपनाया जिसके शिखर पर सर्वोच्च न्यायालय है। न्यायपालिका को पर्याप्त स्वतंत्रता प्रदान करने का प्रयास भी किया गया है ताकि वह कार्यपालिका के भय अथवा व्यवस्थापिका के दबाव से मुक्त रह कर कार्य कर सके, क्योंकि स्वतंत्र और सभ्य राज्य की प्रथम पहचान स्वतंत्र और निष्पक्ष न्यायपालिका होती हैं। भारत में सर्वोच्च न्यायालय हमारी एकीकृत न्याय-व्यवस्था के शिखर प स्थित है और एक मुख्य न्यायाधीश तथा कुछ अन्य न्यायाधीशों से मिलकर बनता है जिनकी भारतीय संसद समय-समय पर विधि द्वारा निर्धारित करती है।

भारत में सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार अत्यधिक व्यापक है। सर्वोच्च अखिल भारतीय अपील न्यायालय (फौजदारी तथा दीवानी दोनों क्षेत्रों में) के साथ-साथ यह संघीय शासन प्रणाली का एक अनिवार्य अंग है। इस रूप में यह संविधान की व्याख्या करना वाला उच्चतम प्राधिकारी तथा संघ और राज्यों के बीच उत्पन्न होने वाले विवादों का निर्णय करने वाला अभिन्न अभिकरण है। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका एक संतुलनकारी तक के समान है जो निष्पक्षतापूर्वक सरकार के विभिन्न अंगों में संतुलनकारी स्थगित कर सकता है। परंतु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण उसकी लोकतंत्र व जन अधिकारों के संरक्षक की भूमिका है। संविधान के अनुच्छेद 32 के अन्तर्गत यह न्यायालय संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों का अभिरक्षक है। इस प्रावधान के अन्तर्गत इस न्यायालय को यह कार्य सौंपा गया है कि वह संघीय अथवा राज्यों की सरकारों द्वारा इन अधिकारों का अतिक्रमण रोके तथा अतिक्रमण होने पर सांविधानिक उपचार प्रदान करने। संक्षेप में, कार्यपालिका की स्वेच्छाचारिता तथा विधानमंडल की सांविधानिकता से नागरिकों की रक्षा करना सर्वोच्च न्यायालय के कर्तव्य व अधिकार क्षेत्र का अभिन्न भाग है।

भारतीय संस्थात्मक ढांचे को सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता से जोड़ने का ध्यान रखते हुए सर्वोच्च न्यायालय को

सांविधानिक और असाधारण कानूनों की प्रगतिवादी व्याख्या करके सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन के अग्रदूत की भूमिका सौंपी गई है। सार्वजनिक महत्व के तथ्यों और गंभीर व जटिल कानूनी उलझनों पर राष्ट्रपति को परामर्श देने का कार्य भी सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार संविधान द्वारा दिया गय है कि वह अपनी स्वयं की स्थापना संबंधी व्यवस्था की रचना करे और उस पर पूरा नियंत्रण भी रखे, अर्थात सर्वोच्च न्यायालय के पदाधिकारियों और कर्मचारियों की नियुक्तियां व सेवा-शर्तें निर्धारित करना न्यायालय के अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत आता है। मुख्यत न्यायाधीश व न्यायाधीशों की नियुक्ति, पद-मुक्ति व उन्मुक्तियों से संबंधित प्रावधानों में भी उनकी स्वतंत्रता को सुरक्षित करने को संविधान निर्माताओं की इच्छा स्पष्अ प्रदर्शित है।

संघीय ढांचा

भारत की भौगोलिक विशालता, सांस्कृतिक व भाषाई विविधता तथा बहुलता को ध्यान में रखते हुए संविधान-निर्माताओं ने संघीय ढांचे को अपनाया जो मुख्यतः अमरीकी और रूसी संघीय व्यवस्थाओं से प्रेरित था। सोवियत संघ की नस्लीय, भाषाई व सांस्कृतिक विविधताओं, विशाल अविकसित भूखंडों तथा आर्थिक पिछड़ेपन इत्यादि समस्याओं ने भारत के सम्मुख एक ढांचा प्रस्तुत किया। परंतु उनकी साम्यवादी विचारधारा के एकीकृत और केंद्रीकृत स्वरूप ने भारतीय नेताओं को अमरीकी ढांचे की ओर आकर्षित किया और स्वतंत्रता के समय की परिस्थितियों ने उस ढांचे में परिवर्तनों को अनिवार्य बना दिया। भारतीय संघीय ढांचे का झुकाव एक शक्तिशाली केंद्र की ओर है जिसमें केंद्रीय विधायिका यानी संसद को विधायी क्षेत्र में अधिक सर्वोच्च अधिकार क्षेत्र प्राप्त हैं। वित्तीय स्रोतों तथा अधिकारों का वितरण भी केंद्र के पक्ष में झुका है, जहां केन्द्र द्वारा नियुक्त वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार वित्तीय स्रोतों का बंटवारा कर सहायता का अनुदान दिया जाता है। परिणामस्वरूप, वित्तीय संसाधनों के मामलों में राज्यों की अपेक्षा केन्द्र की स्थिति विशेष तौर पर बेहतर प्रतीत होती है। राजनीति-विज्ञान के अध्येताओं के अनुसार यह सर्वोच्चता पर आधारित संबंध हैं और राज्यों की वित्तीय निर्भरता तथा उनके असमान आर्थिक विकास से उत्पन्न स्थिति के नाजुक सवरूप को स्पष्ट करती है। इनके अतिरिक्त अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवाएं, एकीकृत न्यायिक व्यवस्था, दोहरी नागरिकता का अभाव, योजना अयोग द्वारा नियोजित राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था, आपातकालीन स्थिति संबंधी प्रावधान इत्यादि भी संघीय ढांचे की विशिष्टता की ओर संकेत करते हैं। शायद इसीलिए भारतीय संघ को 'अर्ध-संघ', 'गौण संघीय विशेषताओं से युक्त एकात्मक संघ' (के. सीऋ व्हीयर, अशोक चंदा), 'असाधारण लक्षणों वाला संघ' (डी. डी. बसु) तथा 'सहकारी संघ' (ए.एच. बिर्च, के.आर.बंबवाल, कार्ल जे फ्रैडरिक, मोरिस-जोन्स) कहा गया है।

वास्तव में, संविधान द्वारा स्थापित औपचारिक ढांचा यंत्र-मात्र होता है, उसे जीवन अनौपचारिक राजनीतिक प्रक्रिया से प्राप्त होता है। यह तथ्य भारतीय संदर्भ में भी सत्य है। चौथे आम चुनावों तक भारतीय संध कांग्रेस के एकाधिकारी प्रभुत्व में स्वाभाविक सहकारी संघ के रूप में कार्य करता रहा। परंतु उसके पश्चात संधीय संबंधों में उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ। १९६७ के पश्चात संघ के आधे से अधिक राज्यों में उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ। 1967 के पश्चात संघ के आधे से अधिक राज्यों में प्रतिद्वंद्वी गैर-कांग्रेसी दल सत्तारूढ़ हो गए। परिणामतः वित्तीय संसाधनों के वितरण और अनुदान तथा राज्यपालों की भूमिका तनाव के विषय बन गए। इस दौरान अनेक नई क्षेत्रीय इकाइयों के अस्तित्व को स्वीकार किया गया, नए राज्यों का निर्माण हुआ और प्रांतीय दलों को व्यापक वैधता प्राप्त हुई।

प्रेस व जनसंचार माध्यम

भारत जैसे विकासशील राष्ट्र में प्रेस से राजनीतिक, सामाजिक, और आर्थिक विकास तथा उन्नति का माध्यम बनने की अपेक्षा रखी जाती है। स्वतंत्रता-आंदोलन के समय समाचार-पत्रों का योगदान उल्लेखनीय ही नहीं अविस्मरणीय कहा जा सकता है, यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने उन पर अनेक प्रकार के नियंत्रण लगाने के प्रयास किए। उदार लोकतंत्र की जिस अवस्था को भारत में स्वीकार किया गया उसमें स्वतंत्र प्रेस की केंद्रीय भूमिका भी संमाविष्ट थी। लोकतंत्र में प्रेस शासकों और शासितों के बीच महत्वपूर्ण कड़ी होती है, जो जनमत को प्रभावित करती है। इसकी भूमिका और उत्तरदायित्व की व्यापकता को देखते हुए इसे सरकार का 'चतुर्थ अंग' (Fourth Estate) कहा जाता है।

भारतीय संविधान में प्रेस की स्वतंत्रता को नागरिकों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अंतर्गत अनुच्छेद 19 (1) द्वारा मान्यता दी गई है। परंतु अनुच्छेद 19(2) द्वारा इस स्वतंत्रता को अवमानना, मानहानि, शालीनता नैतिकता, राज्य की सरुक्षा, सार्वजनिक

हित जैसी न्यायसंगत सीमाओं से सीमित किया गया है। १६५१ और १६६३ ई. में संविधान-संशोधनों को माध्यम से अनुच्छेद १६(2) के अंतर्गत सीमाओं के आधार और भी व्यापक कर दिए गए। किंतु न्यायालयों ने अधिकतर प्रेस की स्वतंत्रता को संरक्षण प्रदान किया है।

आपातकालीन अल्पवाधि (1975-77) को छोड़कर अधिकांशतः भारतीय राजनीतिक नेत त्व व्यापक तौर पर प्रेस की स्वतंत्रता के प्रति उत्सुक और प्रतिबद्ध रहा है। इसका यह मतलब कदापि नहीं कि भारतीय प्रेस और सरकार के बीच स्वतंत्रता के लिए संघर्ष नहीं हुआ है। यद्यपि नेहरू काल में ही दोनों संविधान संशोधनों और प्रेस आपत्तिजनक सामग्री अधिनियम (1951) के माध्यम से प्रेस पर लगी सीमाओं को व्यापक किया गया तथापि नेहरू और प्रेस के बीच वैमनस्य की भावना नहीं आई क्योंकि नेहरूप ने स्पष्टतः यह घोषित किया था कि मैं एक पूर्णतः स्वतंत्र प्रेस को, उस स्वतंत्रता के दुरुपयोग में अंतर्निहित खतरों सहित एक दमित अथवा नियंत्रित प्रेस से कहीं ज्यादा पसंद करता हूं। प्रेस और शासकों के बीच समझ-बूझ वाले संबंधों को इंदिरा गांधी-काल में सर्वाधिक हानि पहुंची। इंदिरा गांधी ने प्रारंभ में ही भारत जैसे समस्याग्रस्त राष्ट्र में प्रेस की स्वतंत्रता के औचित्य पर शंका व्यक्त की और प्रेस उनके एक सतत आलोचक के रूप में उभरी। दोनों के बीच संघर्ष की परिणति आपातकालीन स्थिति के दौरान प्रेस सैंसरशिप और प्रेस पर लगभग पूर्ण सरकारी नियंत्रण की स्थापना में हुई। लेकिन कुछ भूमिगत पत्र-पत्रिकाओं ने प्रेस की भूमिका निभाते हुए जनता तक ज्यादतियों के समाचार पहुंचाए। जनता सरकार ने अपने चुनावी वायदे के अनुसार प्रेस की स्वतंत्रता बहाल की, परंतु इसने प्रेस को अपनी कमियों से विमुख नहीं किया। राजीव गांधी, वी. पी. सिंह, नरसिंह राव तथा वर्तमान सरकार के युग में बोफोर्स कांड का पर्दाफाश, एक्सप्रेस-समूह के खिलाफ कार्यवाही पर प्रतिक्रिया तथा मानहानि-विधेयक की वापसी, मंडल और मंदिर-मस्जिद मुद्दों पर प्रेस की भूमिका ने यह सिद्ध कर दिया है कि प्रेस भारत में 'लोकतंत्र के चौथे अंग' के रूप में स्थापित हो चुका है जिसे प्रेस कर्मियों के विभिन्न संगठनों, प्रेस परिषद की सिफारिशों और न्यायालयों के द ष्टिकोण से नैतिक संबल मिला है।

सेना, पुलिस व अर्धसैनिक बल

सेना, पुलिस व अर्धसैनिक बल राज्य की दमनात्मक शक्ति की प्रतीक संस्थाएं हैं। स्वतंत्रता के समय प्राप्त प्रशिक्षित नौकरशाही और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ विरासत में मिली एक अन्य संस्था भारतीय सेना थी जो न केवल आकार में बड़ी थी, अपितु, क्षमता और प्रशिक्षण के आधार पर भी उल्लेखनीय थी। स्वतंत्रता के पश्चात अनेक नए अर्ध-सैनिक बलों, केन्द्रीय रिजर्व पुलिस बल, केन्द्रीय औद्योगिक सुरक्षा बल, सीमा सुरक्षा बल, रेलवे सुरक्षा बल इत्यादि की संरचना की गई और पिछले ४० वर्षों में विभिन्न प्रकार के सैनिक-बलों केन्द्रीय और पुलिस संख्या में तीव्र व द्धि हुई है जो लोकतांत्रिक राज्य के लिए प्रशंसनीय नहीं कही जा सकती। 1980 के मध्य में प्राप्त आंकड़ों के अनुसार 14 लाख पुलिसकर्मी थे जिनका अनुपात प्रतिहजार व्यक्ति १३.२ पड़ता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि न केवल भारतीय सेना अपितु भारतीय पुलिस भी विश्व में विशालकाय है। इसी अनुपात में आंतरिक सुरक्षा के लिए बजट अनुदान राशि में भी स्वतंत्रता के पश्चात से लगभग 100 गुना व द्धि हुई है। किंतु सेना और पुलिस की औपनिवेशिक अभिव त्तियां अभी बदली नहीं जा सकती हैं, जो कल्याणकारी राज्य के प्रतिकूल हैं।

यह सत्य है कि नागरिक समाज की स्वतंत्रता की सुरक्षा और सामुदायिक संघर्षों से बचाव के लिए सैनिक और पुलिस प्रशासन की व्यवस्था अनिवार्य है परंतु उनमें निरंतर व द्धि और उत्तरोत्तर नागरिक समाज में सक्रिय हस्तक्षेप लोकतांत्रिक या सीय समाज के लिए हितकर नहीं हो सकता। यह हस्तक्षेप जितना अधिक होगा, उतना ही उसका पक्षपातपूर्ण और ज्यादती युक्त होना ाी संभव होगा। आपातकाल के दौरान हुई ज्यादतियों के विरुद्ध बैठाए गए जांच आयोगों की समितियों की रिपोर्ट वास्तव में आंख खोलने वाली है। स्वयं राष्ट्रीय पुलिस आयोग ने 1979 में अपनी रिपोर्ट में यह स्वीकार किया कि लोगों की नजरों में पुलिस की छवि राजनीति से प्रभावित, पक्षपातपूर्ण, बर्बर, भ्रष्ट और अक्षम पुलिस बल की है। इस बात का समर्थन करते हुए जस्टिस ए.एन. मुल्ला ने पुलिस को राजय संयंत्र के दमन का प्रतीक तथा ऐसा एकमात्र विधिहीन समूह बताया है जिसका अपराध रिकार्ड सबसे खराब है।

सेना का नागरिक कार्यों में अधिकाधिक प्रयोग और उच्च पदों का राजनीतिकरण भी लोकतांत्रिक संस्था-निर्माण की प्रक्रिया में घातक है। 1992 में ही पं. नेहरू ने संसद में स्पष्ट शब्दों में कहा था कि सेना के उच्च पद राजनीतिक होते हैं। राष्ट्रपति के सर्वोच्च सेनापति के रूप में अधिकारों ने राजनीतिकरण की इस प्रक्रिया को सहज बनाने में योगदान दिया है। परंतु एक

संस्था के स्वाभाविक विकास के लिए यह लाभदायक नहीं कहा जा सकता। पिछले कुछ वर्षों से नागरिक समाज के आंतरिक संघर्षों में सेना की सहायता लेने की बढ़ती हुई प्रव त्ति ने भी इस प्रक्रिया को तीव्र किया है। सैनिक साज-समान की खरीद में भ्रष्टाचार के मामलों ने सेना के मनोबल और छवि का कमजोर तो किया ही है, उनमें बढ़ते हुए असंतोष को भी हवा दी है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था और नियोजन

संस्था निर्माण के क्षेत्र में भारत की सर्वाधिक मौलिक उपज समाज के समाजवादी ढांचे की प्राप्ति हेतु अपनाईगई मिश्रित अर्थव्यवस्था है जिसमें नियोजन की केंद्रीय भूमिका है। यह समाजवादी ढांचा लोकतांत्रिक समाजवाद पर आधारित है और लोकतंत्र तथा समाजवाद का यह अद्‌भुत मिश्रण ही हमारी आर्थिक संस्थाओं को उल्लेखनीय बनाता है। अनेक देशों में लोकतांत्रिक सरकारें बड़े पैमाने पर आर्थिक-नियोजन को अपना रही है। परंतु भारत जितने विशाल पैमाने और महान कीमत पर नहीं। इसी प्रकार, अनेक देशों में भारत के समान विशाल आकार की आर्थिक योजनाएं और परियोजनाएं बनाई गई हैं परंतु लोकतांत्रिक ढांचे के भीतर नहीं। भारत जैसे विशाल स्तर पर योजनाबद्ध आर्थिक विकास कही भी बिना बल-प्रयोग के आयोजित नहीं हो सका। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि योजनाओं के लक्ष्य, उद्देश्य, और विस्त त सारतत्व मूलतः भारतीय हैं, जिनमें पाश्चात्य अवधारणाओं को भारतीय समस्याओं के ढांचे में ढालने का प्रयत्न और गांधीवादी आदर्शों को क्रियान्वित करने के प्रयास भी सम्मिलित हैं।

योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था द्वारा आर्थिक विकास का ढांचा तैयार करने के लिए 1950 में योजना आयोग की नियुक्ति की गई और 1951 में प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-56) लागू की गई। इसका प्रमुख उद्देश्य देश के विभाजन से उत्पन्न आर्थिक असंतुलन का दूर करना और संतुलित विकास की प्रक्रिया को प्रारंभ करना था। योजना के लगभग 50 वर्ष पूरे हो चुके हैं, और अलग-अलग योजनाओं में अलग-अलग उद्देश्यों और आयामों पर बल दिया गया है जिनमें से कृषि, उद्योग, न्याय के साथ विकास, आर्थिक असमानता की समाप्ति, आत्मनिर्भरता व स्वावलंबन, अधिकाधिक रोजगार के अवसरों की उपलब्धि तथा निवेश को प्रोत्साहन इत्यादि उल्लेखनीय हैं। समकालीन आठवीं योजना के परिप्रेक्ष्य में भी योजनाबद्ध विकास का समर्थन किया गया है।

संघीय ढांचे के अनुरूप आर्थिक विकास की योजना केंद्र और राज्यों का संयुक्त कार्य होना चाहिए। इसीलिए संविधान में आर्थिक और सामाजिक योजना बनाने को समवर्ती सूची में रखा गया था। परंतु व्यवहार में योजना बनाने के क्षेत्र में केंद्र ने प्रमुख भूमिका निभाई है। कुछ वर्षों को छोड़कर सदैव प्रधानमंत्री एवं केन्द्रीय योजनामंत्री क्रमशः योजना आयोग के अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष रहे हैं। शेष सदस्यों में आधे से अधिक केन्द्रीय मंत्री तथा उनके द्वारा मनोनीत व्यक्ति होते हैं। राज्यों को उनमें कोई उल्लेखनीय स्थान नहीं दिया गया है, राज्यों को केन्द्र द्वारा बनाई गई परियोजनाओं को चलाना पड़ता है जिनके लिए केन्द्र अनुदान देता है। अनुदानों की राशियों और उनकी शर्तों का निर्धारण योजना आयोग करता है। इस प्रकार आर्थिक विकास की द ष्टि से योजना-कार्य ने व्यावहारिक तौर पर संघीय संविधान का स्थान लिया है।

जाति और धर्म

भारतीय समाज की परंपरागत व्यवस्था में eधर्म और जाति एक स्वतः परिपूर्ण व्यवस्था के निदेशक तत्व थे जिनके अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार एवं कार्य परिभाषित थे। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व विभिन्न शासकों ने इन व्यवस्थाओं में विशेष हस्तक्षेप नहीं किया। परन्तु स्वतंत्र भारत में लोकतांत्रिक सामाजिक चेतना के निर्माण हेतु धर्मनिरपेक्षता के अंतर्गत धर्म एवं जाति-निरपेक्ष समाज बनाने का प्रयत्न किया गया। संविधान द्वारा भारत के सभी नागरिकों के लिए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय के साथ-साथ विचार, अभिव्यक्ति एवं विश्वास के अवसर सुनिश्चित करने, उनमें भ्रात त्व की भावना का विकास करने और व्यक्ति की गरिमा सुनिश्चित करने की प्रतिज्ञा का प्रस्तावना में उल्लेख किया गया है। मौलिक अधिकारों से संबंधित कुछ प्रमुख प्रवधानों जैसे अनुच्छेद 15 (1, 2 और 4), अनुच्छेद 16 (2 और 4), अनुच्छेद 23 (2) और अनुच्छेद 25 से 29 के द्वारा सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता एवं स्वास्थ्य के अधीन रहकर, सभी नागरिकों को विश्वास की स्वतंत्रता, धर्म को अपनाने और पालन करने की स्वतंत्रता की गारंटी दी गई। छुआछूत का उन्मूलन किया गया और उसका किसी भी रूप में प्रयोग कानून दारा दंडनीय बनाया गया।

राजनीतिक धरातल पर धर्म एवं जाति के बंधनों से समाज को मुक्त करने के उद्देश्य से प थक निर्वाचन क्षेत्रों के स्थान पर संयुक्त निर्वाचन क्षेत्रों का प्रावधान किया गया। साथ ही अनुसूचित जातियों, जनजातियों एवं पिछड़ी जातियों के लिए सुरक्षित स्थानों की भी व्यवस्था की गई। यद्यपि संविधान में यह स्पष्ट किया गया कि राज्य का कोई धर्म नहीं होगा और किसी विशेष धार्मिक पंथ अथवा संप्रदाय के धार्मिक प्रतीकों अथवा प्रथाओं का सरकारी कार्यालयों अथवा राज्य द्वारा सहायता प्राप्त संस्थानों में व्यवहार नहीं किया जाएगा पर धार्मिक एवं सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों के अस्तित्व को स्वीकारते हुए उनकी सुरक्षा हेतु यह प्रावधान रखा गया कि धार्मिक अथवा सांप्रदायिक संस्थानों से संबंधित पद धर्म-विशेष के अनुयायियों या संप्रदाय विशेष के व्यक्तियों के लिए सुरक्षित रखे जाएंगे। राजय से नीति-निर्देशक सिद्धांतों में इस बात का उल्लेख है कि राज्य समस्त भारतीय क्षेत्र में नागरिकों के लिए समान नागरिक संहिता (Common Civil Code) बनाने का प्रयत्न करेगा। इसी अध्याय में राज्य को यह निर्देश भी दिया गया है कि वह गो-हत्या को रोकने के लिए कदम उठाए। 1976 में 42वें संशोधन द्वारा प्रस्तावना में 'समाजवादी' और 'धर्मनिरपेक्ष' शब्दों के साथ-साथ मौलिक कर्तव्यों में यह प्रावधान सम्मिलित किया गया कि वैज्ञानिक मनःस्थिति, मानवतावाद एवं अनुसंधान तथा सुधार की भावना का विकास करना हर नागरिक का कर्तव्य है।

स्पष्टतः स्वतंत्र भारत की राजनीतिक, प्रशासनिक व आर्थिक संस्थाएं ब्रिटिश अथवा पाश्चात्य राजनीतिक प्रभाव, भारतीय अतीत की पंरपरा और समकालीन सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं को प्रतिबिंबित करती है। मूलतः ये संस्थाएं प्रतिनिध्यिात्मक संसदीय, संघीय, धर्मनिरपेक्ष, समाजवादी, लोकतांत्रिक ढांचे का निर्माण करती हैं। यह आशंका प्रारंभ से ही रही है कि ये संस्थाएं नवोत्पन्न स्वतंत्र राष्ट्र की समस्याओं और आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम रहेंगी या भारत को सच्ची व मौलिक भारतीय राजनीतिक संस्थाओं का पुनर्निर्माण करना पड़ेगा क्योंकि भारत की परिस्थितियां और आवश्यकताएं उन समाजों से भिन्न हैं जहां वे संस्थाएं विकसित हुई हैं। यही कारण है कि संसद, न्यायपालिका, नौकरशाही, विधि-व्यवस्था, योजना-कार्य और राजनीतिक दल भारतीय संदर्भ में अनेक नए संप क्तार्थों से युक्त हो गए हैं और भारतीय समाज की विशिष्ट समस्याओं जाति, धर्म, जनजातीय पिछड़ापन, ग्रामीण अल्प रोजगार तथा सामान्य समस्याओं जैसे आर्थिक पिछड़ापन, अशिक्षा, कुपोषण, बेराजगारी, सामाजिक न्याय, गरीबी इत्यादि का उचित समाधान खोजने व क्रियान्वित करने में प्रायः असफल रहे हैं। यही असफलता जब निरंतर प्रदर्शित होती हैं तो संस्थाओं की वैधता और प्रासंगिकता के प्रश्न उठाती है और राजनीतिक व सामाजिक संकट (Crisis) का स्वरूप धारण कर लेती है।

मोटे तौर पर इस संबंध में दो प्रकार के विचार प्राप्त होते हैं-प्रथम, जो अधिकांशतः पाश्चात्य विचारकों के हैं, जैसे मॉरिस-जोंस, माइरन वीनर, नार्मन डी० पामर, मैल्काम हौस, जी० आस्टिन, रूडोल्फ, राबर्ट एल० हार्डग्रेव, जुडिथ एम, ब्राऊन, जेम्स मेनर, पॉल आर० ब्रास, गुनार मिर्डल, इत्यादि का मानना है कि पाश्चात्य संस्थानों को अपनाने में अधिकांश नवस्वतंत्र राष्ट्रों से अधिक समझदार व सफल रहा है, आवश्यकता के अनुसार उनमें परिवर्तन व नई संस्थाओं अथवा संरचनाओं का समावेश भी कर सका है, एक बड़ी सीमा तक उनके माध्यम से राष्ट्रीय एकीकरण, सामाजिक एकबद्धता और आर्थिक विकास की समस्याएं भी सुलझा सका है। अनके बार इन संस्थाओं को संकट का सामना करना पड़ा है, राजनीतिक अस्थिरता की समस्याएं भी आई हैं, इन्हें परंपरागत सामाजिक संस्थाओं के विरोध का भी सामना करना पड़ा है, और अत्यंत तेन गति से होने वाले लोकतंत्रीकरण के कारण अत्यधिक मांग की राजनीतिक ने राज्य की 'क्षमता' को भी प्रभावित किया है। इन सबके बावजूद उदार लोकतांत्रिक संस्थात्मक ढांचा कायम रहा सका है और समय के अनुसार उसने नम्यता व परिवर्तनशीलता की क्षमता का भी प्रदर्शन किया है। यह सही है कि यह ढांचा अभी दुर्बल है, तनावों से ग्रस्त है, कहीं-कहीं ह्रासोन्मुख तथा अस्वस्थ भी है तथापि म तप्राय नहीं है और न ही लुप्त होने की स्थिति में है। दूसरे विचार-समूह मे अधिकांशतः भारतीय राजनीति वैज्ञानिक अथवा विश्लेषक जैसे रजनी कोठारी, अरूण शौरी, सुदीप्तो कविराज, अनिरूद्ध प्रसाद, मोइन शाकिर, पी० जार्ज वर्गीस, एस० सहाय, सुरिंदर सूरी, मधु लिमये, एम० पी० सिंह, मनोरंजन मोहंती, आशीष नंदी, डी० एल० शेठ, रामाश्रय राय, के० शेषाद्री, सुब्रता मित्रा, उपेंद्र बक्शी, भीकू पारेख इत्यादि के अनुसार भारत में जो उदार लोकतांत्रिक तार्किक संस्थाएं स्वतंत्रता के पश्चात् अपनाई गई उनका निर्माण परंपरागत सामाजिक संरचनाओं के आधार पर अथवा उनके अनुरूप नहीं हुआ, बल्कि कहीं-कहीं उनके विपरीत भी हुआ। परिणामस्वरूप उन्हें सशक्त होने, वैधता प्राप्त करने व स्थायी होने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। यही नहीं, इस विरोधाभास की स्थिति के कारण भारत में लोकतांत्रिक संस्थाओं का स्वाभाविक विकास नहीं हो सका है, सामाजिक न्याय, आर्थिक विकास तथा जन-कल्याण के उद्देश्य प्राप्त करनें में ये संस्थाएं असफल रही हैं जबकि तीव्र राजनीतिकरण,

लोकतंत्रीकरण और आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं ने जनआकांक्षाओं को अत्यंत तेज गाति से उभारा है, अपेक्षाओं और उपलब्धियों के बीच के असंतुलन की स्थिति ने आर्थिक व सामाजिक संकट को जन्म दिया है जो 'राजनीतिक संकट' अथवा राज्य की संस्थाओं के संकट में परिणत हो गया।

फलस्वरूप राज्य की वैधता और क्षमता की विश्वसनीयता में कमी आई है और जन-आंदोलन तथा प्रांतीय व स्थानीय काग्र-समूहों की संख्या में व द्धि हुई है। ये विचारक इस तथ्य के विषय में भी चिंता प्रकट करते हैं कि इस विकास के दौरान राजनीतिक व नागरिक संगठनों के मुकाबले राज्य-संयंत्र में बेहिसाब व द्धि हुई है जिससे सरलता से जन-आंदोलनों को दमन करने की प्रव त्ति भी बढ़ी है।

उपर्युक्त विश्लेषण करने वाले विचारक विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। तथापि उनके विश्लेषण का केंद्रीय सार-तत्त्व या बिंदु यह है कि पिछले लगभग दो दशकों में भारतीय राजनीतिक संस्थाओं को निरंतर ह्रास या पतन हुआ है, लेकिन उसके कारण सब अलग-अलग कारकों में खोजते हैं। कुछ के अनुसा नेत त्व की भूमिका इसके लिए उत्तरदायी है तो कुछ के अनुसार सामाजिक संरचना का परंपरा तथा राजनीतिक संस्थाओं में परस्पर अनुकूलता का अभाव इस ह्रास का कारण है, जबकि कुछ के अनुसार भारत की सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियां व समस्याएं इन संस्थाओं के सफल व्यवहार या प्रकार्यान्वयन के मार्ग में बाधा बनी। परंतु सभी का निष्कर्ष यह है कि राजनीतिक संस्थाओं की कार्य-कुशलता, क्षमता और भूमिका में निरंतर गिरावट आई है। परिणामस्वरूप आइसनस्टाड, फ्रैडरिक रिग्स और सेमुयल हंटिंगसन के शब्दों में भारत में 'आधुनिकीकरण की टूटन', 'विकास-जाल' और 'राजनीतिक ह्रास' जैसी परिघटनाएं द ष्टिगोचर होती है।

अनेक विचारक कांग्रेस और नेहरू को भी पाश्चात्य संस्थात्मक विरासत का अभिन्न अंग व सबसे उत्कृष्ट नमूना मानते हैं। जब तक ये दोनों संस्थाएं मजबूत रहीं, अन्य संस्थाएं प्रत्याशित शैली में काम करती रहीं, परंतु उनकी जडें, मजबूत नहीं की जा सकीं। परिणामस्वरूप, संसदीय व्यवस्था के लगभग 15 वर्षों में भी न तो कांग्रेस सच्चे अर्थों में प्रतिनिधि संस्था बन सकी और न ही उसके विकल्प का विकास हो सका। अतः नेहरू की शक्ति क्षीण होने के साथ-साथ कांग्रेस का संस्थात्मक आधार भी हिलने लगा और भारत की संघीय व्यवस्था का संतुलन भी। संसद एक संस्था के रूप में कार्यपालिका पर नियंत्रण रखने , उसे उत्तरदायी बनाए रखने, व्यवस्था को वैधता प्रदान करने तथा जन-कल्याण की दिशा में सामाजिक-आर्थिक परविर्तन हेतु विधायन के कार्य करती रही। परंतु एक महत्त्वपूर्ण कार्य वैकल्पिक सरकार का उदय और अस्तित्व का अभाव निरंतर बना रहा। परिणामस्वरूप 'नेहरू के पश्चात कौन?' का प्रश्न एक कसौटी के रूप में बुद्धिजीवियों, राजनीतियों और विश्लेषकों सभी को चिंतित करता रहा। यह संस्था निर्माण अथवा संस्थाओं को आत्मसात करने में हमारी दुर्बलता का ही परिचायक था।

तथापि नेहरू के पश्चात् लाल बहादुर शास्त्री और उनके पश्चात् इंदिरा गांधी के चयन ने उत्तराधिकार अथवा सत्ता परिवर्तन की समस्या का निराकरण कर दिया। परंतु कांग्रेस की अंदयनी कलह, गुटबंदी और अंतर्विरोधी ने उसकी संगठनात्मक दुर्बलता को और भी स्पष्ट कर दिया। परिणामस्वरूप भारत की एक आधारभूत उदार संसदीय संस्था का ह्रास प्रारंभ हो गया। यही ह्रास विभाजित विपक्ष, प्रांतीय वे क्षेत्रीय दलों के उदय और विस्तार क्षेत्रीय असंतुलनों और आंदोलनों, अस्थायी प्रांतीय सरकारों, दल-बदल की निरंतर पुनराव त्ति नौकरशाही के बढ़ते हुए अधिकार-क्षेत्र, उनकी निष्पक्षता में कमी, नए सैनिक व अर्ध-सैनिक बलों के उदय और विस्तार, पुलिस बल की संगठनात्मक व द्धि व शक्तियों के विस्तार, बढ़ती हुई आर्थिक समस्याएं व बढ़ते हुए जन-असंतोष व आक्रोश इत्यादि में प्रतिफलित हुआ।

इस युग में भारत की दो मौलिक निर्णय-निर्माणकारी प्रक्रियाओं 'मतैक्य पर आधारित निर्णय-निर्माण' और 'सहमति या सामंजस्य के सिद्धांत' का भी लोप होने लगा जो एक प्रतियोगी दलीय व्यवस्था के अभाव में बहुलवादी व सामाजिक तौर पर विखंडित भारतीय समाज को उदारवादी लोकतांत्रिक राज्य बनाए रखने में सक्षम रही थी। उसके स्थान पर संघर्ष की राजनीति व भीड़-रंजन की राजनीति का उदय हुआ जो अंत में राजनीतिक उदारवाद व लोकतांत्रिक प्रक्रिया के अल्पकालीपन स्थगन (1975-77) का कारण बनी।

1975-77 ई० की राष्ट्रीय आंतरिक आपातस्थिति में जिस प्रकार मौलिक अधिकारों के दमन के लिए पुलिस, नौकरशाही, न्यायपालिका तथा प्रेस का प्रयोग किया गया उससे यह सिद्ध हो गया कि इन संस्थाओं के अधिनायकवादी प्रयोग संभव है और जिस प्रकार इन संस्थाओं ने आपातस्थिति के दौरान अधिनायकवादी व गैर-लोकतांत्रिक प्रतिबंधों के सम्मुख समर्पण किया

उनसे यह भी सिद्ध हो गया कि ये संस्थाएं जीवंतता और सक्षमता से भारत के लोकतांत्रिक ढांचे में प्रतिस्थापित नहीं हो पाई हैं। इस अल्पावधि में सरकारी विफलताओं को छिपाने के लिए जिस प्रकार संविधान-संशोधनों का सहारा लिया गया उससे संविधानवाद की दुर्बलता स्पष्ट हुई। भ्रष्टाचार को इतना संरक्षण और प्रोत्साहन मिला कि वह न केवल भारतीय राजनीतिक जीवन का अभिन्न अंग बन गया अपितु सर्वाधिक सशक्त संस्था बनकर उभरा। अरूण शौरी के शब्दों में राजनीति एक खराब और अनैतिक शब्द बन गया जबकि भ्रष्टाचार एक सर्वविदित और सर्वस्वीकृत शब्द और सक्षमता का प्रती भी। भ्रष्टाचार, प्रशासन की नागरिक जीवन को सुरक्षा प्रदान करने में विफलता, स्वतंत्रता का दमन, विधि के शासन के सीान पर व्यक्तियों के शासन, जन-प्रतिनिधियों की निष्ठाओं का खुला क्रय-विक्रय और स्वतंत्र नीति-निर्णायकों को निरंतर भयभीत करने जैसी घटना-क्रम से निश्चय ही यह प्रतीत होने लगा कि सभी सरकारी संस्थाएं अपेक्षित कार्य करने में पूर्णतः विफल रही हैं और राजनीतिक संस्थाएं भी पतन की ओर जा रही हैं।

शासक दल की दलीय तथा शासकीय शाखाओं में द्वंद्व, सत्ता का केंद्रीकरण और वैयक्तीकरण, संघीय ढांखे का दबाव, राज्य मुख्यमंत्रियों की नियुक्ति पर केंद्र का नियंत्रण, राष्ट्रपति की महिमा का ह्रास, राज्यपाल के पद का दुरूपयोग, राज्य सरकारों की राजनीतिक आधारों पर बर्खास्तगी, सांविधानिक प्रावधानों का दुरूपयोग, दलबदल, जन-प्रतिनिधियों की संदिग्ध भूमिका, फलनः उनकी विश्वसनीयता का ह्रास, संसदीय शक्तियों और विशेषाधिकारों का दुरूपयोग, संसदीय वाद-विवाद के स्तर में गिरावट, न्यायपालिका की स्वतंत्रता के स्थान पर प्रतिबद्ध और उत्तरदायर न्यायपालिका की स्थापना के प्रयत्न, मुख्य न्यायाधीश के पद पर राजनीतिक नियुक्ति, वरिष्ठ न्यायाधीशों की वरीयता का अपमान, न्यायाधीशों के राजनीतिक आधार पर स्थानांतरण, तदर्थ नियुक्तियों की प्रव त्ति,न्यायपालिका पर प्रतिक्रियावाद और भ्रष्टाचार के आरोप, प्रतिबद्ध नौकरशाही की वकालत, नौकरशाही का राजनीतिकरण और तटस्थता की समाप्ति, सेना व पुलिस का अधिकाधिक अनुचित प्रयोग व सत्ता का दुरूपयोग, जाति व धर्म के आधार पर सामाजिक विखंडन व विघटन, तनाव तथा हिंसा, राजनीति का अपराधीकरण, प्रचार-माध्यमों पर सरकारी नियंत्रण और उनका दुरूपयोंग, स्वस्थ मूल्यों का ह्रास और अभिसमयों का अभाव, चुनावी हिंसा और मतदान-केंद्रों पर कब्जा, अवसरवाद, चुनावों में काले धन की भूमिका, पुलिस की बर्बरता और दमन-चक्र, दलितों और महिलाओं पर अत्याचार इत्यादि लोकतांत्रिक संस्थाओं के पतन की ओर संकेत करते हैं। आपातकालीन स्थिति के पश्चात निरंतर यह महसूस किया गया कि राजनीतिक संस्थाओं का ह्रास हुआ है जो विभिन्न विश्लेषणों में परिलक्षित हैः

1. पिछले पांच वर्षों में एक के बाद एक संस्था ने अपना दिवालियापन जता दिया है। जब भी परीक्षा का समय आया, कोई भी संस्था-न विधायिका, न न्यायालय, न नौकरशाही और न प्रेस-कसौटी प खरी नहीं उतरी।
2. आपातकालीन स्थिति के दौरान भारत की लोकतांत्रिक संस्थाओं, जैसे प्रेस, विपक्ष, न्यायपालिका, को जानबूझकर व्यवस्थित तरीके से कमजोर और आधारहीन करने के प्रयास किए गए और उनके स्थान पर केंद्रीय गुप्तचर संगठन (Raw-Reseach and Analysis Wing, CBI-Central Bureau of Investigation), केंद्रीय अर्ध-सैनिक बल, प्रधानमंत्री का सचिवालय, युवा कांग्रेस इत्यादि का असीमित विस्तार किया गया। मौलिक अधिकारों को निलंबन और चुनावों का स्थगत किया गया। राज्य संयंत्र में उल्लेखनीय व द्धि हुई और शक्ति का हस्तांतरण निर्वाचित जन-प्रतिनिधियों के हाथ से निकल कर नौकरशाही के पास हो गया। परिणामतः शक्ति का केंद्रीकरण और सत्ता का दुरूपयोग हुआ।
3. भारत को स्वतंत्रता तीन सुद ढ़ संस्थाओं-कांग्रेस, नौकरशाही और सेना के साथ प्राप्त हुई। ये संस्थाएं भारत की राजनीतिक स्थिरता का आधार थीं। जैसे-जैसे ये संस्थाएं कमजोर हुई हैं वैसे-वैसे व्यवस्था की सामंजस्य की क्षमता, राजनीतिक मांगों को संतुष्ट करने की क्षमता, परिवर्तन को आत्मसात करने की क्षमता और सामाजिक सअंतोष को नियंत्रित करने की क्षमता भी निश्चित तौर पर क्षीण हुई है।
4. नेहरू-काल में भारत को एक लोकतांखिक ढांचा मिला परंतु उसका अर्थ संस्था-निर्माण अथवा संस्थाओं का विकास नहीं था। जब वे संस्थाएं या ढांचा उच्च विशिष्ट वर्ग के राजनीतिक अस्तित्व में बाधक बना तो ढांचे और संस्थाओं के स्वरूप में परिवर्तन किया गया। संस्थाओं की वैधता का स्थान व्यक्तियों की वैधता ने ले लिया जिसे व्यवहारवाद का नाम दिया गया। इससे संस्था-निर्माण की प्रक्रिया कमजोर हुई और व्यवस्था का संकट उत्पन्न हो गया। संस्थाओं का पतन 'केंद्रीकरण' में प्रतिबिंबित हुआ।

5. हमने अपनी संस्थाओं को ऐसी स्थिति में धकेल दिया है कि वे ऐसे कार्य करने में असमर्थ हैं जिनकी उनसे अपेक्षा है। उनका प्रयोग व्यक्तियों द्वारा व्यक्तिगत हितों के संरक्षण और सत्ता के केंद्रीकरण के लिए किया जाता है। शासन की संस्थाएं पूर्णतः अस्त-व्यस्त ओर अक्षम हो चुकी है।

यहाँ स्मरणीय है कि संस्थाएं नियमों और विधियों की भांति अनुभव से उत्पन्न होती हैं। समाज संस्थाओं तक खोज की प्रक्रिया के माध्यम से पहुँचते हैं। परंतु संस्थाएं अमूर्त नहीं होती। वे व्यक्तियों के माध्यम से कार्य करती हैं और मानवीय क्रियाओं को ही परिणाम होती हैं न कि मानवीय कल्पना का। अतः नियमों की संस्थाओं में परिवर्तित करने के लिए नैतिक वैधता अथवा सामान्य चेतना की स्वीकृति अनिवार्य होती है जो यह तो हितों की अनुकूलता पर आधारित होती है अथवा बौद्धिक परंपरा की अनुकूलता पर।

भारत में औपनिवेशिक संस्थाओं के लिए नैतिक वैधता संभव नहीं थी और न ही वह भारत की बौद्धिक परंपरा पर आधारित थी। परिणामस्वरूप लोकतांत्रिक संस्थाएं जैसे सामान्य विधि, नौकरशाही, न्यायपालिका इत्यादि का निर्माण परंपरागत सामाजिक ढांचे की सहायता से नहीं बल्कि उसके विरोध के बावजूद किया गया। संस्थाओं के निर्माण के साथ यह भी अनिवार्य थाा कि उनकी सीमाओं, विनियमों और उत्तरदायित्वों को भी स्पष्ट किया जाता। ब्रिटिश संदर्भ में इनका स्पष्टीकरण सैकड़ों वर्षों के जन-आंदोलनों ने किया जबकि भारत में इन्हें स्पष्ट स्फूर्त होना था जो नहीं हो सका। परिणामतः संस्थाओं को संकट और ह्रास प्रारंभ हो गया।

स्वतंत्रता के पश्चात् नवोत्पन्न भारतीय राज्य की समस्या प्राचीन सामाजिक संबंधों में से नए राजनीतिक समाज का निर्माण था। यह राजनीतिक समाज उन प्रतिनिधि संस्थाओं की जीवंतता के लिए आवश्यक था जो लोकतंत्र के आधारभूत तत्त्व थे। इस राजनीतिक समाज की रचना उन नागरिक हित समूहों, स्वायत स्थानीय सत्ता, श्रमिक संघ, सहकारी समितियों, व्यावसायिक संघों, स्वायत्त स्थानीय सत्ता, श्रमिक संघ, सहकारी समितियों, व्यावसायिक संघों, स्वायत्त विश्वविद्यालयों, परोपकारी समुदायों तथा नागरिक संस्थाओं से होनी थी जिनके माध्यम से प्रतिनिधि संस्थाओं में जन-सहभागिता अधिक अर्थपूर्ण और प्रभावी बन पाती तथा राजनीतिक अस्मिता धर्म, जाति, पंथ, प्रांत, भाषा कुटुंब इत्यादि की लघु आस्मिताओं का स्थान ले पाती। परंतु इस अस्मिता का निर्माण भी राज्य का दायित्व बन गया क्योंकि समान्य जन की तंद्रा भंग कौन करता? शिक्षा यह काम कर सकती थी और वह राज्य का दायित्व बन गई अन्यथा उसके लिए आवश्यक धन राशि कहां से जुटती। उदार वैयक्तिकता का निर्माण कैसे होता? राज्य द्वारा विधायन के माध्यम से उसे परंपरा के बंधनों से छुटकारा दिलवाना आवश्यक था। उच्च-स्तरीय स्वतंत्र मस्तिष्क युक्त बुद्धिजीवियों का चयन व प्रशिक्षण कैसे होता? राज्य द्वारा पोषित विश्वविद्यालय ही यह कार्य करने में सक्षम थे। अंततः यह राज्य का दायित्व बन गया कि एक ऐसे समाज का निर्माण करे जो राज्य व सरकार से स्वतंत्र रह कर कार्य करने में सक्षम हो। परंतु इन विस्तारशील दायित्वों ने एक तरफ तो भारतीय राज्य को अत्यधिक केंद्रीकृत और सर्वव्यापी बना दिया वहीं उसकी अर्थपूर्ण परिवर्तन६ लाने की क्षमता को कम कर दिया।

वस्तुतः भारत में स्वतंत्रता के पश्चात स्थापित राष्ट्रीय राज्य ने दो विशिष्ट और अनेकशः परस्पंर प्रतिद्वंद्वी विरासतों को ग्रहण किया। एक ओर तो इस राज्य ने औपनिवेशिक राज्य की आंतरिक आदेश व नियंत्रण की व्यवस्था, उसकी प्रशासनिक पद्धति का मूल्य, उसके नियम व विधियां, उसकी सीमांतिक (marginal) व विदेशी प्रकृति तथा सामान्य व निम्नवर्गीय जन समुदाय के प्रति दमन की नीति इत्यादि को विरासत में पाया वहीं दूसरी ओर यह राज्य एक ऐसे विजयी राष्ट्रीपय आंदोलन का उत्तराधिकारी था जिसका मुख्य उद्देश्य औपनिवेशक राज्य की ऊपरवर्णित संस्कृति के विरूद्ध संघर्ष व उसे समाप्त करना था। ऐसा करते समय राष्ट्रीय आन्दोलन के समय जुटाई गई एकता के अनेक अस्पष्ट तत्व स्वतंत्रता के पश्चात् विवाद व तनाव के विषय बन गए जिनमें जातीयता, सांप्रदायिकता व प्रांतीयता उल्लेखनीय रहे। स्वतंत्रता के समय पैदा किए गए तनावपूर्ण वातावरण और विभाजन से उपजे और वैमनस्य ने उस समय यह अनिवार्य कर दिया कि औपनिवेशिक राज्य के प्रशासनिक संयंत्रों को समाप्त करने के बजाय और सशक्त किया जाए और वहीं से राज्य की वैधता का संकट भी आरंभ हो गया।

भारत जैसे आर्थिक और सामाजिक असमानताओं से युक्त राज्य में विकास का सामरिक महत्त्व है क्योंकि इसी के माध्यम से आम आदमी को आर्थिक सुरक्षा प्राप्त हो सकती है। नागरिक और राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए भी विकास का महत्त्व कम नहीं है। स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय राज्य ने विकास में केंद्रीय भूमिका अपने लिए रखते हुए नियोजन और मिश्रित अर्थव्यवस्था के

माध्यम से भारतीय आर्थिक विकास को एक निश्चित दिशा देने का प्रयास किया। परिणामस्वरूप राज्य की भूमिका का विस्तार हुआ, राज्य सर्वव्यापी और अत्यंत केंद्रीकृत हो गया परंतु सार्थक परिवर्तन करने की उसकी क्षमता कम होती गई, आश्वासनों और परिणामों, नीतियों और कार्यक्रमों तथा अपेक्षाओं और यथार्थ के बीच का अंतर बढ़ता गया। स्थिति यह हो गयी कि आर्थिक व मानवीय विकास के मानदंडों के आधार पर 1950 ई० में भारत का विश्व के औद्योगिक राष्ट्रों में दसवां स्थान था तो 1997 ई० में वह 22 वें स्थान पर पहुंच गया। 1950 ई० में त तीय विश्व के देशों में भारत का सकल घरेलु उत्पाद का हिस्सा 10 प्रतिशत था तो 1980 ई० में यह 5.4 प्रतिशत रह गया। इसी अवधि में भारत का त तीय विश्व के देशों में कृषिगत हिस्सा 25 से 17 प्रशित रह गया और औद्योगिक हिस्सा 12 से 4.6 प्रतिशत रह गया। 1950-80 के दशकों में जहाँ त तीय विश्व का सकल घरेलु उत्पादन 4.9 प्रतिशत की औसत वार्षिक दर से बढ़ा वहीं भारत में यह दर 3.5 प्रतिशत रही। 1950 ई० से 1993 ई० के बीच विश्व व्यापार में भारत का हिस्सा 1.8 प्रतिश्ता से घटकर 0.6 प्रतिशत रह गया जबकि संपूर्ण त तीय विश्व का विश्व व्यापार में हिस्सा 5 प्रतिशत से 22 प्रतिशत पहुँच गया।

यही स्थिति मानव विकास की है। स्वास्थ्य के मापदंडों के आधार पर भारत विश्व के सबे कम विकसित 20 प्रतिशत विकासशील राष्ट्रों की श्रेणी में आता है। 32 प्रतिशत भारतीय कुपोषण के शिकार हैं और 55 प्रतिशत केवल आवश्यकता से आधी खाद्य ऊर्जा प्राप्त कर पाते हैं। 71 प्रतिशत भारतीय सुरक्षित स्वच्छ वातावरण में नहीं रह सकते हैं और 19 प्रतिशत भारतीय स्वच्छ विशेषाधिकार स्थिति युक्त निवेशक के रूप में विकसित हो गया है। परिणामतः यह राज्य उन कार्यों के लिए भी संसाधन जुटाने में असफल सिद्ध हुआ है जो मुख्यतः राज्य के ही उत्तरदायित्व हैं और ऐसी स्थिति में पहुच गया है जहां उसे जो नहीं करना चाहिए था वह बहुत अधिक किया है जैसे व्यापार संरक्षण, औद्योगिक नियोजन तथा अनुत्पादक सहायता (Subsidy) की व्यवस्था जबकि जो करना चाहिए वह बहुत कम किया है जैसे शिक्षा, अधः संरचना का विकास तथा विधि व्यवस्था में सकारात्मक परिवर्तन।

एक विकासशील राष्ट्र की राजनीतिक अर्थव्यवस्था की आवश्सकताओं के आधार पर भारतीय राज्य को विकासवादी राज्य (Development State) के रूप में विश्लेषित करने को प्रयास भी अर्थशास्त्रियों द्वारा किया गया है। सुखमोय चक्रवर्ती, विमल जालान, प्रणव बर्धन इत्यादि ने राज्स और अर्थव्यवस्था की अंतर्क्रिया के आधार पर भारत जैसे विकासशील राज्यों की असफलता का एक प्रमुख कारण इन राज्यों की बढ़ी हुठ भूमिका और उसकी अंतनिर्हित धारणाा में खोजा है जिसके अनुसार राज्यों की हस्तक्षेप की क्षमता असीमित है। इस धारणा के परिणामस्वरूप सुखमाये चक्रवर्ती विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं को भारतीय राज्य की बाह्य सीमाओं अथवा प्रतिबंधों के रूप में देखते हैं ओर विमल जालान सरकार की असफलताओं को ही स्वातंत्र्योत्तर भारत की अधिकांश विकास संबंधी समस्याओं का कारण मानते हैं। जबकि प्रणब बर्धन भारतीय राज्य की स्वायत्तता को अस्वीकार करते हुए यह विचार रखते हैं कि भारतीय राज्य विभिन्न प्रकार के हित समूहों के दबावों के पूर्णतः अधीन है और इसीलिए वह 'सरंक्षण' और 'सहायता' की एक विस्त त व्यूहरचना बनकर रह गया है।

इनसे कुछ भिन्न रूडोल्फ और रूडोल्फ ने भारतीय राज्य की सापेक्ष स्वायत्तता का मत दिया है। इस मत के अनुसार यह सापेक्ष स्वायत्तता भारतीय अर्थव्यवस्था में राज्य के व हदाकार तथा समाज में उसकी विचारधारात्मक अवस्थिति के कारण है। निवेश तथा रोजगार के क्षेत्र में राज्य के अत्यध्कि नियंत्रण से उत्पन्न उसकी शक्तिशली भौतिक स्थिति तथा समाज व समुदाय के संगठित हितों के तथाकथित संरक्षक की उसकी विचारधारात्मक स्थिति भारतीय राज्य की न केवल सापेक्ष स्वायत्तता प्रदान करती है अपितु आत्म निर्णय को भी संभव बनाती है।

विचारधारा और सिद्धांतों के आधार पर भारतीय राज्य की प्रकृति के विषय में दो प्रमुख उपलब्ध हैं उदारवादी और मार्क्सवादी। उदारवादी विचारक भारतीय राज्य के स्वरूप को 'लोककल्याणकारी' मानते हैं। इस मत का आधार भारतीय राज्य का संस्थागत ढांचा और संवैधानिक स्वरूप है जिसके अनुसार संसदीय लोकतंत्र के रूप में यह राज्य विशेषाधिकरों की समाप्ति, समान अधिकारों और अनिवार्य-वस्तुओं तथा सेवाओं की सुरक्षा के लिए प्रतिबद्ध है। परंतु व्यवहार में, साधनों के अभाव, नेत त्व और अफसरशाही में प्रतिबद्धता की कमी, विकास की अपर्याप्तता, शक्ति के केंद्रीकरण, व्यक्तिवादिता में व द्धि, सेवा-भावना के अभाव, राजनीतिक दलों की स्वार्थपरता और समस्याओं की विविधता और विशालता इत्यादि के कारण लोक कल्याणकारी सुविधाओं का लाभ जन-साधारण तक उस सीमा तक नहीं पहुंच सका है जिस तक उससे आशा की गई थी।

उदारवादी विचारक भारत को एक सच्चा उदारवादी राज्यतंत्र मानते हैं। जिसमें उसके अनुरूप संस्थागत और प्रकार्यात्मक

ढांचा जैसे सर्वोच्च संसद, लिखित संविधान, उत्तरदायी कार्यपालिका, स्वतंत्र न्यायपालिका, उदार निर्वाचन प्रक्रिया, विविध राजनीतिक दल, मौलक अधिकार, नीति-निर्देशक सिद्धांत, विधि का शासन इत्यादि भी मौजूद हैं। भारतीय स्वतंत्रता के पश्चात् के अधिकांश वर्षों में यह ढांचा काफी ठीक कार्य भी करता रहा है। परंतु विकासशील राष्ट्र की समस्याओं का सामना भारतीय राज्य को भी करना पड़ा है और उसने उदारवादी राजनीति के सम्मुख अनेक चुनौतियां भी खड़ी की है।

मार्क्सवादी विचारकों के अनुसार भारतीय राज्य का स्वरूप 'बुर्जुआ-लोकतंत्र' है क्योंकि यह राज्य सभी वर्गों अथवा लोगों का राज्य नहीं है। इसका बाह्यरूप लोकतांत्रिक मगर सारतत्व विशिष्टवर्गीय है। यह राज्य उनके अनुसार मुख्यतः देश के संघ वर्गों के हितों को समझता है। और पहुँचाने वाली नीतियां बनाता है। इस मत का आधार यह मार्क्सवादी के राज्य एक वर्गीय संस्था है और उसका जन्म वर्गों और वर्ग-संघर्ष कारण हुआ है। अपनी प्रकृति से ही राज्य शासक वर्ग, जो संपन्न होता है, के स्वामित्व और नियंत्रण को बनाए रखने के यंत्र के रूप के कार्य करता है। इस धारणा के अनुरूप ही ये विचारक भारतीय संविधान शासक वर्ग, आर्थिक विकास और सामाजिक गठन की प्रकृति के अपनी विश्लेषण के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय राज्य कारे बुर्जुआ पूंजीवादी कहा जा सकता है। सार्वजनिक क्षेत्र का निर्माण, राष्ट्रीकरण एकाधिकार नियंत्रण, भूमि सुधार और सहकारी आंदोलन आदि विभिन्न प्रमाणकारी उपायों को उद्देश्य पूंजीवादी वर्ग के आधार को संकुचित करना गरीब दूर करना ही नहीं है वरन् केवल पूंजीवादी शासन प्रणाली को वैधता प्रदान करना और शासक वर्गों के प्रभुत्व को कायम रखना ही है।

परंतु व्यवहार में मार्क्सवादी विश्लेषण एकांगी ही ठहरता है क्योंकि भारतीय संविधान के नीति-निर्देशों, समाजवादी स्वरूप, सार्वजनिक क्षेत्र के निरंतर विकास, मिश्रित एवं नियोजित अर्थव्यवस्था, भू-सुधार और भूमि-संबंधों में परिवर्तन, पिछड़े वर्गों और कमजोर वर्गों के लिए विशेष प्रावधान और गतिशील मध्यवर्ग के बढ़ते हुए वर्चस्व की पूरी तरह अवहेलना करना अनुचित ही नहीं अवैज्ञानिक और अतार्किक भी है।

उपरोक्त दोनों परिप्रेक्ष्य राज्य की प्रकृति की व्याख्या के लिए आंशिक द ष्टिकोण प्रदान करते हैं क्योंकि भारतीय राज्य के विषय में उपलब्ध मतों अथवा प्रतिमानों में से कोई भी यूरोपीय सिद्धांत और प्रतिमान पूर्वाग्रहों से पूर्णतः मुक्त नहीं हो सका है। अतः एक पूर्ण और समुचित समझ के लिए हय आवश्यक है कि इन सभी द ष्टिकोणों का संश्लेषण यिका जाए और राज्य की प्रकृति का विश्लेषण संविधान के स्वरूप, राजनीतिक संरचना और दिशा, नेत त्व की विचारधारा और द ष्टिकोण, प्रशासक वर्ग की समड और प ष्ठभूमि और न्यायपालिका के स्वरूप और भूमिका के संदर्भ में किया जाए।

राज्य के स्वरूप और उद्देश्य की इस जटिल विविधता के कारण भारतीय राज्य के स्वरूप और उसकी प्रकृति की सरल व्याख्या एक कठिन काम है। जहां ब्रिटिया काल में राज्य को उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हितों की अधिकाधिक पूर्ति था वहां स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राज्य का उद्देश्य अधिकाधिक व्यक्तियों तक सामाजिक न्याय और वास्तविक स्वतंत्रता पहुँचाना और जन-कल्याण को प्रोत्साहित करना था। परंतु राज्य की मूलभूत संस्थाओं और संस्कृति में इस उद्देश्य के अनुरूप कोई बड़ा परिवर्तन नहीं लाया गया।

अतः राजनीतिक-समाजशास्त्रियों, सांस्कृतिक-मानव वैज्ञानिकों तथा सामाजिक इतिहासकारों द्वारा भारतीय राष्ट्र-राज्य की एक भिन्न व्याख्या प्रस्तुत करते हुए उसकी विकासवादी भूमिका में अंतर्निहित विशिष्ट वर्गवाद और केंद्रीय अधिनायकवा द की ओर संकेत किया गया है। इन विश्लेषकों जैसे रणजीत गुहा, आशीष नंदी, पार्थ चटर्जी, रजनी कोठारी इत्यादि का यह मत है कि स्वतंत्रता के पश्चात् आधुनिकीकरण और विकास के नाम पर भारत के विशिष्ट वर्गीय शासक समूह ने एक ऐसी तर्क शैली अपनाई जिसने पश्चिमी औद्योगीकरण और राष्ट्र-राज्य की अवधारणाओं को अपनाते हुए भारतीय राज्य को इस प्रकार विकसित और आधुनिक करने का प्रयास किया जिसने भारतीय समाज को कमजोर किया, उसकी आंतरिक शक्ति को निर्जीव करने का प्रयास किया, स्थानीय परंपराओं और सामुदायिक संगठनों को परिधि पर पहुँचा दिया, समाज के प्रवक्ता का स्थान भी राज्य ने ग्रहण कर लिया, प्रगति के पाश्चात्य मापदंडों को आदर्श बनाते हुए भारतीय संस्कृति व इतिहास को बंजर घोषित कर दिया। राज्य ने ऐसे विशालकाय विकास-कार्यक्रमों को अपनाया जिन्हें तकनीकी तौर पर वैभवशाली कहा जा सकता है परंतु जिन्होंने स्थानीय समुदायों को आश्रयविहीन किया और अंततः पर्यावरण के संतुलन को भी बिगाड़ दिया। परिणामस्वरूप राज्य सर्वव्यापी तो हो गया परंतु भारतीय समाज की सामुदायिक संस्थाएं पतनोन्मुख हो गई शक्ति संकेद्रित हुई राजनीतिकेतर

अथवा सांस्कृतिक निष्ठाएं पुनर्जाग्रत हुई तथा स्वतंत्रता-आंदोलन के दौरान नेत त्व व साधारण भारतीय में, राज्य और नागरिक में जो संवेदनात्मक संबंध बने थे वे टूटने लगे और राज्य और समाज जैसे एक दूसरे के विरोधाभासी हो गए। इस प्रकार की प्रक्रिया ने भारतीय राज्य के ल्क्ष्यों राष्ट्रवाद, लोकतंत्र और विकास के अंतसंबंधों को जटिल बना दिया और भारतीय लोकतंत्र के सारतत्व पर भी प्रश्न चिन्ह लग जाता है।

इन विश्लेषकों ने यह विचार भी प्रकट किया है कि धीरे-धीरे हमारी राजनीतिक व्यवस्था ऐसी अराजकता की स्थिति की ओर बढ़ रही है जहां न केवल लोकतंत्र का ही अंत होगा अपितु भारतीय राज्य का अंत भी संभव है। राजनीतिक में बढ़ती हुई हिंसा, नैतिक मूल्यों व आम सहमति के ह्रास, राजनीति के अपराधीकरण, जनरंजन की राजनीति, वोहरा समिति रिपोर्ट में स्पष्टतः स्वीकृत, राजनीतिज्ञों, सरकारी अधिकारियों और अपराधी गिरोहों के बीच गठजोड़ इत्यादि यदि इसी प्रकार चलते रहे तो कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका निष्क्रिय हो जाएगी और देश में विधि का शासन समाप्त हो जाएगा। समाज और राज्य व्यवस्था के बीच विरोधाभास ने इस प्रकार की विसंगतियों तथा बिखराव का जन्म दिया है। विकास के गांधीवादी प्रतिमान की अवहेलना और पश्चिम का अंधानुकरण इस संकट का एक प्रमुख कारण है।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राज्य को समाज के पुनर्निर्माण और राष्ट्र निर्माण को जो महान कार्य सौंपा गया उसने धीरे-धीरे राज्य की भूमिका को इतना व्यापक और विस्त त कर दिया कि राज्य सर्वव्यापी और विशालकाय हो गया। यह राज्य राजनीति से लेकर ललित कलाओं तक के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण मुद्दे का एकमात्र समाधानकर्ता बन गया। इसके अधीन एक ऐसी शासन-प्रणाली विकसित हुई जो अधिकारों के प्रति सजग जन-समुदाय को संतुष्ट करने में अक्षम थी। राष्ट्र-निर्माण के कार्य को करते-करते राज्य इतना केंद्रीकृत और शक्तिशली हो गया कि स्वायत्तता की मांग करने वाले जन समुदायों को दंडित करने लगा और अंततः राष्ट्र का निर्माण करते-करते इस राज्य ने ऐसी अनेक घायल राष्ट्रीयताओं को जन्म दे दिया जो प्रांतीय दलों के रूप में उभरी और भारतीय शासन तंत्र का अनिवार्य भाग बन गई। राष्ट्र इनमें विलुप्त सा हो गया।

रजनी कोठारी के अनुसार, "राष्ट्रीय सुरक्षा राज्य" की विचारधारा का अविष्कार करते-करते भारतीय राज्य का 'वैयक्तिक सुरक्षा राज्य' में ह्रास हो गया है जिसके संसाधन कुछ विशिष्ट और अति विशिष्ट लोगों की सुरक्षा का साधन बन गए हैं। राज्य एक असुरक्षित संस्था बन गया जिसने शासन के लोकतांत्रिक आधार को सीमित कर दिया।

वस्तुतः स्वातंत्र्योत्तर भारत में निरंतर 'सराक्त राष्ट्र राज्य' और 'प्रतिनिधि लोकतंत्र' में संभव अव्यवस्था के बीच मूल तनाव उभरते रहे हैं। पहले दो दशकों में नेहरू का नेत त्व, कांग्रेस का वर्चस्व, मतैक्य पर आधारित सांविधानिक शासन, धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत के प्रति प्रतिबद्धता, केंद्रीय नियोजन पर आधारित आर्थिक कार्यक्रम व शांतिपूर्ण सामाजिक क्रांति की रणनीति इत्यादि के कारण इन तनावों का प्रभाव कम महसूस किया गया परंतु 1960 के दशक से उपरोक्त प्रव त्तियां कमजोर हुई और तनाव बढ़े जिनसे कभी-कभी ऐसा भै लगा कि भारत की राजनीतिक बहस में सशक्त राज्य के स्वरूप और राष्ट्र राज्य की संरचना के विषय पर कोई सामान्य सहमति ही न बन सकी हो। 1980 के दशक तक यह तनरव केंद्रीकरण अथवा स्थानीयकरण की प्रव त्तियों के बीच संघर्ष के रूप में उभरा। परिणामस्वरूप जब 1990 के दशक में भारतीय जनता पार्टी हिंदू राष्ट्रवाद पर आधारित शक्तिशाली राष्ट्र राज्य के निर्माण हेतु जन समर्थन जुटाने के लिए निकली तो उसके मार्ग में निरंतर व द्विशील राज्य व स्थानीय राजनीतिक दल और उनकी स्थानीय अस्मिता व प्रतिबद्धता आ गई जो अधिकाधिक स्वायत्तता की मांग पर आधारित थीं। क्रिस्टोफ जैफरलोट और पाल ब्रास ने भारतीय राजनीति के अपनी विश्लेषण से यह सिद्ध किया है कि इन स्थानीय दलों के लिए आधार वस्तुतः नेहरू के अधीन कांगेस शासन द्वारा ही तैयार कर दिया गया था जब भाषा पर आधारित राज्यों का पुनर्गटन किया गया था। इन सभी वर्षों में राष्ट्र राज्य को मजबूत बनाने की किसी भी विचारधारा को आर्थिक विकास और सामाजिक पुनर्निमाण के आकर्षक पाश्चात्य लक्ष्यों के सम्मुख खड़ा कर निस्तेज कर दिया जाता और धर्मनिरपेक्षता के नाम पर विविध धार्मिक व सांस्कृतिक भाषायी, जनजातीय अधिकारों की मांगों को इतना विस्तार दिया गया कि एक भाषा, एक राष्ट्र, एक संस्कृति और एक धर्म की बात असह्य रूप से सांप्रदायिक प्रतीत होने लगी जो यदि भारतीय राजनीति के केंद्र के समीप भी आती तो भारतीय राज्य के लोकतांत्रिक अस्तित्व के लिए गंभीर चुनौती बन जाती। परंतु पिछले दो आम चुनावों के परिणामों और दनके पश्चात् के राजनीतिक घटना क्रम ने इस धारणा को गलत सिद्ध कर दिया है।

भारत में लोकतांत्रिक व्यवस्था संविधानवाद के संरक्षण में स्थापित की गई थी और अधिकांशतः वह मूलतः कायम रह सकी है। कभी-कभी पिछले 50 वर्षों में संसदीय पद्धति के स्थान पर राष्ट्रपतीय प्रणाली स्थापित करने का गंभीर प्रयास भी किया गया परंतु उसका विरोध न केवल तत्कालीन विपक्षी दलों द्वारा अपितु कांग्रेस के अंदर के उदारवादियों द्वारा भी किया गया। राजीव गांधी द्वारा अपितु कांग्रेस के अंदर के उदारवादियों द्वारा भी किया गया। राजीव गांधी द्वारा लोकतंत्र विरोधी प्रेस अधिनियम की वापसी इस बात का प्रमाण है कि राजनीतिक दल और जनमत प्रासंगिक है। इनके साथ-साथ न्यायपालिका ने भी मूल राजनीतिक संरचना अथवा राज्य के संस्थागत ढांचे को बनाए रखने में सहायता की है। गोलकनाथ, केशवानंद भारती और मिनर्वा मिल्स के मामलों में दिए गए निर्णय इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। जन-हित में मुकदमेबाजी (Public Interest Litigation) की अवधारण को अपनाकर जन-स्वतंत्रताओं के सरंक्षण की भूमिका को न्यायपालिका ने और भी व्यापक किया है और साथ ही कुछ हद तक विधि की उचित प्रक्रिया की कमी को पूरा किया है।

संक्षेप में, वर्तमान दशक तक लोकतंत्र की विचारधारा भारतीय जनमानस में प्रतिस्थापित हो चुकी है और जन-संप्रभुता, बहु-दलीय व्यवस्था, सर्ववयस्क मताधिकार, प्रतियोगी चुनाव-प्रक्रिया, स्वतंत्र न्यायपालिका, संघवाद, मौलिक अधिकार और सांविधानिक शासन व्यवस्था इत्यादि के माध्यम से भारत में उसके अनुरूप संस्थागत ढांचा बनाने का उल्लेखनीय और काफी हद तक सफल कार्य भी किया गया है। यद्यपि दलीय व्यवस्था की कमजोरी, व्यक्ति-पूजा और प्रशासन की केंद्रीकरण की प्रव त्तियां इस दिशा में खतरे के संकेत हैं तथापि भारतीय लोकतांत्रिक संस्थाएं अपने अवरोध और संतुलन विकसित करने में सफल रही हैं और लचीलेपन के माध्यम से स्थिरता प्रदान करने में भी सक्षम सिद्ध हुई हैं। प्रांतीय स्वायत्तता, अधिकाधिक विक्रेदीकरण और अधिक समतावादी समाज की मांगें, जन संस्थाओं और आंदोलनों का उदय लोकतांत्रिक संस्थाओं की दुर्बलता, असुंलन और विकृति की ओर संकेत करते हैं। परंतु यथार्थ में वे लोकतंत्र के विस्तार के ही प्रमाण हैं और आस्टिन के अनुसार इस तथ्य की पुष्टि भी हैं 'कि भारतीय संविधन ने सामाजिक परिवर्तन और राष्ट्रीय पुनर्जन्म के द्वार खोल दिए हैं, अधिकारों के प्रति जागरूकता बढ़ी है और लोकतंत्र के झोंके भारतीय ग्रामीण समुदाय तक पहुंच गए हैं। कुल मिलकार एक खुले समाज और एक खुली शासन-व्यवस्था की दिशा में भारत एक है जो छोटी उपलब्धि नहीं हैं 50 वर्ष का समय इस सफलता के निर्णय के लिए बहुत छोटा है। अधिक से अधिक इसे इकबाल नारायध के शब्दों में आक्रमणकालीन राजनीति का नाम दिया जा सकता है जिसके परिणामों का विभाजन अभी शेष हैं। किन्तु माइरन बीनर और हार्डग्रेव तथा हाल ही में ग्रे आस्टिन के शब्दों में भारतीय व्यवस्था ऐसी व्यवस्था के रूप में उभरी है जो अत्युत्तर और परिवर्तन में सक्षम है अतः स्वयं अपने सुधार में भी सक्षम है।